प्रकीर्णक पुस्तकमाला

चन्देल और उनका राजत्व-काल

लेखक
केशवचन्द्र मिश्र,
एम्० ए०, बी० टी०, साहित्यरत्न,
प्रथम पुरस्कार विजेता, अखिल भारतीय विक्रम सिंधिया निबंध-प्रतियोगिता, ग्वालियर, सं० २०००
आचार्य, मदनमोहन मालवीय महाविद्यालय, भाटपार रानी (देवरिया)

प्रकाशक—
नागरीप्रचारिणी सभा
काशी

[संवत् २०११]

पुण्यश्लोक पिताजी

की

पावन स्मृतिमें

आस्थानेषु महीभुजां मुनिजनस्थाने सतां सङ्गमे
ग्रामे पामरमण्डलीषु वणिजां वीथीपथे चत्वरे ।
अध्वन्यध्वगसंकथासु निलयेऽरण्यौकसां विस्मया-
न्नित्यं तद्गुणकीर्त्तनैकमुखराः सर्वत्र सर्वे जनाः ।।

(खजुराहो-पत्थर अभिलेख, यशोवर्मन्)

आमुख

भारतीय इतिहासमें चन्देलोंका स्थान कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। विन्ध्य-मेखला और उसके जांगल प्रदेशोंने इतिहासके कई विकट कालोंमें भारतकी राजनीतिक तथा सांस्कृतिक शक्तिका गोपन, संरक्षण तथा परिवर्धन किया है। प्राचीन कालके पुलिंदों, चेदियों तथा वत्सोंने और परवर्ती भारशिव नागों और वाकाटकोंने अपनी शक्तिसाधनाके लिये विन्ध्यशृंखला और विन्ध्याटवीका उपयोग किया था। उत्तर भारतमें जब प्रतिहारोंकी शक्ति क्षीण होने लगी और पश्चिमोत्तरसे तुर्क-आक्रमण शुरू हुए तब इन्हीं भू-भागोंमें एक प्रबल राजनीतिक शक्तिका उदय हुआ। तुर्कोंकी शक्ति इससे टकराकर लौट गई और पश्चिमी पंजाब-तक सीमित रही। हर्षवर्धनके समयसे भारतका उत्तर और दक्षिणके रूपमें जो राजनीतिक बँटवारा हुआ था उसके कारण मध्यभारत, मध्यप्रदेश तथा विन्ध्य-प्रदेशमें प्रायः सैनिक अभियान तथा राजनीतिक उथल-पुथल रहती थी। देशकी इन विश्रृंखलित कड़ियोंमें सन्धि और संतुलन स्थापित करनेमें इस नई शक्तिका बड़ा हाथ था। यह शक्ति चन्देलोंकी थी। पार्वत तथा जांगल प्रदेशोंमें उपनिवेश तथा नगर-स्थापन, सेना तथा शासनका संगठन, कृषि तथा व्यापारका संरक्षण, जनहितके कार्य, साहित्य, कला तथा धर्मको आश्रय सभी क्षेत्रोंमें चन्देलोंकी महत्त्व-पूर्ण देन है। प्रस्तुत लेखकने चन्देलोंके इतिहासका प्रणयन कर भारतके एक गौरव-मय युगका उद्घाटन किया है।

मध्ययुगीन भारतमें प्रादेशिक राजवंश तथा सामन्तवादी शासन ही राजनीतिक जीवनके माध्यम थे। इसके गुण-दोष तत्कालीन युगके गुण-दोष थे। परन्तु देश-कालकी सीमाके भीतर चन्देल-वंशके कई राजाओंने अद्भुत् राजनीतिक प्रतिभा तथा सांस्कृतिक उदारताका परिचय दिया। इनमेंसे हर्ष, यशोवर्मन्, धंग, गण्ड, कीर्तिवर्मन् आदिके नाम गर्वके साथ लिए जा सकते हैं। राजनीतिक तन्त्रोंके बदलते रहनेपर भी मानवका व्यक्तिगत पुरुषार्थ इतिहासकी एक बहुत बड़ी शक्ति है, इस सत्यका प्रतिपादन उपर्युक्त व्यक्तियोंके इतिवृत्तसे पूर्णतः होता है। यद्यपि राजनीतिक सिद्धान्तों और शासन-पद्धतिके विकासके क्षेत्रमें यह युग अनुपजाऊ रहा, परन्तु महान् व्यक्तियोंको जन्म देनेमें इसकी उर्वरा शक्ति नष्ट नहीं हुई। इनके नेतृत्वमें ही समाज और राष्ट्रकी गाड़ी आगे चलती रही। प्रस्तुत ग्रंथमें इस तथ्यका स्पष्टीकरण उत्तम ढंगसे हुआ है।

चन्देलोंका युग धर्म तथा कलाके विविध प्रयोगोंकी दृष्टिसे काफ़ी समृद्ध है। शाक्त धर्मके विभिन्न रूप, उनकी तान्त्रिक तथा वामाचारी साधना और वास्तु तथा मूर्तिकलामें उनकी अभिव्यक्ति खजुराहोके मंदिर-समूहोंमें आज भी सुरक्षित है। शाक्त धर्म और तान्त्रिक साधनासे वैष्णव और जैन धर्म कहाँतक प्रभावित हुए थे इसका पता भी खजुराहोके कलावशेषोंसे लगता है। मनुष्यके सूक्ष्म दर्शनों और ऊँची आकांक्षाओंका पार्थिवीकरण किस सीमातक जा सकता है, इसका निदर्शन चन्देलयुगीन कलामें मिलता है। लेखकने इतिहासकी इन प्रक्रियाओंका सुन्दर विवेचन किया है।

ऐतिहासिक तथ्योंके संकलन, चयन, समीक्षणमें भी लेखने सावधानीसे वैज्ञानिक पद्धतिका अनुसरण किया है। यह किसी सन्देहके बिना कहा जा सकता है कि उन्होंने इतिहास-लेखनमें वैज्ञानिक और कलात्मक दोनों पक्षोंका सफलताके साथ निर्वाह किया है। यद्यपि लेखककी रचनाशैली साहित्यिक है, परन्तु तथ्योंकी पकड़में इससे कोई बाधा नहीं हुई है। प्रस्तुत ग्रंथ एक सफल और सर्वाङ्गीण प्रयत्न है और इसके लिये लेखक बधाईके पात्र हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
आषाढ़ शु० १०, सं० २०११ वि०

राजबली पाण्डेय।

प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तकके विषयपर लिखनेका अवसर मुझे अपनी एम० ए० परीक्षाके निबन्धमें मिला। किन्तु उस निबन्धका लक्ष्य और विश्लेषण तथा विन्यास-पद्धति दोनों सीमित और भिन्न थे। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि उस समय अनुशीलन करते हुए इस वंशके इतिहासकी सामग्रीके अभिनव रूपने मेरे मनमें यह बात स्थिर कर दी कि इस विषयपर स्वतंत्र रूपसे विस्तृत और गंभीर गवेषणा करनेकी नितान्त आवश्यकता है। विस्तृत और मौलिक योजना-सूत्रके आधारपर यह कार्य आजसे आठ वर्ष पूर्व आरंभ कर दिया गया। अर्वाचीन इतिहासकारोंकी तद्विषयक कृतियोंके व्यापक अध्ययनके पश्चात् मूल साधनोंके माध्यमसे चन्देल इतिवृत्तके सूक्ष्मतम अवयवोंको व्यक्त करनेकी सामग्रीका संकलन किया गया। किंतु इस विषयका शोधकार्य वर्तमान विंध्यप्रदेशकी विस्तृत ऐतिहासिक यात्रा बिना कदापि पूर्ण नहीं हो सकता था। अतएव क्रमसे मुझे तीन यात्राएँ करनी पड़ीं, जिनके फलस्वरूप प्रकाशित जनश्रुतियोंको प्रमाणित तथा मूल्यवान छूटी हुई जनश्रुतियोंको संकलित किया जा सका। इसके अतिरिक्त जगनिक और अन्य अप्रकाशित चारण-साहित्योंकी हस्तलिखित प्रतियोंका अवलोकन किया जा सका। अपार चन्देल वास्तु और मूर्त्तिकलाके प्रत्यक्ष अध्ययन-द्वारा उनके अन्तर्निहित रहस्योंतक पहुँचनेका अलभ्य अवसर भी प्राप्त हुआ।

सार्वभौम चन्देल शासकोंके वर्त्तमान युगनकके परवर्ती इतिहासकी सामग्रीकी समस्या और भी विकट थी। किन्तु गिद्धौरके राजकीय आलेख और कुछ सुरक्षित प्रामाणिक साधनों और वहांकी ऐतिहासिक यात्राओंने इस कार्यको यथासंभव सुसाध्य बना दिया। इन उपक्रमोंने प्रस्तुत मौलिक रचनाके लिये अपेक्षित सामग्री सभी प्रकारसे पूरी कर दी। इसके अतिरिक्त ग्रंथ लिखते समय विवादपूर्ण स्थलोंके संबंधमें वर्त्तमान अनेक अधिकारी विद्वानोंसे निःसंकोच विचार-विनिमय करके सत्यान्वेषणके कार्यको परिपुष्ट करनेका मैंने प्रयत्न किया।

इस विषयपर विशेषतया चन्देल वास्तु और मूर्त्तिकलापर विस्तृत अध्ययन करके स्वतंत्र और प्रामाणिक ग्रंथ लिखनेकी प्रेरणा मुझे सन् १६४६ में भारतीय संघके गृहमंत्री माननीय डा० कैलासनाथ काटजूने उचित परामर्शके साथ दी। उनकी पावन शुभेच्छा ही यहाँ मूर्त्तिमान हुई है।

मेरी कक्षा-अवस्थासे अबतक मेरे पूरे शोधकार्यके सूत्रधार परम पूज्य गुरुवर्य डा० राजबलीजी पाण्डेय, अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग तथा प्रिन्सिपल, कौलेज औफ़ इन्डौलौजी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय थे, जिनके अमूल्य निर्देशोंने इस कार्यको सरल एवं दीप्तिपूर्ण कर दिया। उन्होंने ग्रंथके सम्बन्धमें कुछ

पंक्तियाँ लिखनेका अनुग्रह करके मुझे और भी ऋणी बना दिया। मैं उनके प्रति अपनी विनीत श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

मेरे परम श्रद्धेय गुरुवर्य, आचार्य पं० सीतारामजी चतुर्वेदीने सांस्कृतिक अध्यायोंके संबंधमें अनेक मार्मिक परामर्श दिए और इस ग्रंथकी स्वरूप-रचना और प्रकाशनमें अपने सहज कृपालु स्वभावसे अपना व्यस्त और मूल्यवान समय देकर मेरे प्रति जो प्रगाढ़ स्नेह दर्शाया, वह अकथनीय है। मैं उनका अभिनन्दन करता हूँ और हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। इतिहासविद् श्रीभगवतशरणजी उपाध्यायका भी मैं आभारी हूँ, जिन्होंने अपने सुझावोंसे अनुगृहीत किया। बुन्देलखण्डके अनेक इतिहास-प्रेमियोंने जनश्रुति-संकलन, हस्तलिखित आल्हाखण्डकी प्रतियों तथा चित्रोंको प्राप्त करने और यात्राकी व्यवस्थामें उदारतासे सहयोग दिया। मैं उन सबके प्रति आभार प्रगट करता हूँ—विशेषतया लीडर प्रेस, प्रयागके सहसम्पादक श्री जितेन्द्रसिंह और छतरपुरके "विन्ध्याचल" साप्ताहिकके संचालक श्री सुरेन्द्रकुमार जैनके प्रति।

बिहारका गिद्धौर राजवंश अपने परम्परा-विश्रुत साहित्य, कला-प्रेम और उसके संरक्षणके लिये सर्वदासे विख्यात रहा है। जिस प्रथित वंशका इतिहास इस ग्रंथमें प्रस्तुत किया गया है, उसका गिद्धौर गौरवपूर्ण उत्तराधिकारी है। वंशके प्राचीन अज्ञात वैभवको प्रकाशमें लानेकी उद्दाम लालसा आज भी गिद्धौर राज्यकी वर्त्तमान माननीया श्रीमती राजमाता साहिबाके हृदयमें संरक्षित है। इस ग्रंथकी चर्चा जब उनके सामने आई तब सहज निष्ठा एवं उदारतासे उन्होंने इसके प्रकाशन-व्ययका भार ग्रहण कर लिया। उनकी इस धारणामें आयुष्मान् राजकुमार प्रतापसिंहजी बहादुरका कुल-शील भी अभिव्यक्त हुआ। फलस्वरूप यह ग्रंथ उचित गौरवके साथ आज प्रकाशित हुआ है। मैं आप लोगोंकी इस आर्ष भावनाके लिये साधुवाद देता हूँ और उदारताके प्रति हृदयसे कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

इस विषयपर अभीतक भारतीय भाषाओं अथवा अंग्रेजी भाषामें स्वतंत्र खोजके साथ कोई ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुआ था। राष्ट्रभाषाके माध्यमसे इस अभावकी पूर्त्ति करनेका मेरा विचार आज पूर्ण हुआ। "नागरीप्रचारिणी सभा," काशीने अपने आदर्शोंके अनुकूल अपने प्रकाशनमें इस ग्रंथको सम्मिलित किया, इसके लिये "सभा" के वर्त्तमान अधिकारी-वर्गको धन्यवाद देता हूँ।

अन्तमें अपने प्रिय मित्र और सहयोगी श्री भरत मिश्र, उपाचार्य, मदनमोहन मालवीय कौलेज, भाटपाररानीके प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने बड़े श्रमके साथ पाण्डुलिपि और अनुक्रमणिका तैयार करनेमें समय दिया।

आषाढ़ शुक्ल, २ सम्वत् २०११
रथयात्रा, काशी

केशवचन्द्र मिश्र, एम्० ए०,
आचार्य, मदनमोहन मालवीय कौलेज,
भाटपाररानी, देवरिया

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ

विषय | पृष्ठ

विषय	पृष्ठ

विषय | पृष्ठ

विषय | पृष्ठ

विषय पृष्ठ

मानचित्र-विवरण

चित्र-विवरण

संक्षिप्त संकेत-सूची

इ० ए०; आई० ए०; ई० ऐ०—इण्डियन ऐण्टिक्वेरी।
क्वा० मे० इ०—क्वायन्स औफ़ मेडिवल इण्डिया।
ए० एस० आई०; आ० स० ई०—आर्क्योलौजिकल सर्वे औफ़ इण्डिया।
ए० आई०; ई० आई०; ए० ई०—एपिग्रेफ़िया इण्डिका।
ए० एस० आर०; आ० स० रि०—आर्क्योलौजिकल सर्वे रिपोर्ट् स।
जे० ए० एस० बी०, ज० ए० सो० बं०—जर्नल औफ़ दि एशियाटिक सोसाइटी औफ़ बंगाल
ईलियट—दि हिस्ट्री औफ़ इण्डिया एज़ टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन।
ए० भ० ओ० ई०—एनल्स औफ़ दी भण्डारकर ओरियन्टल इन्स्टिट्यूट।
उत्बी—किताबे-यामिनी।
गर्दिजी; कि० जं० अ०—किताब जैमुल अकबर।
इब्न-उल-अतहर; ता० का० अ०;—
टी० के० ए०—अत्तारीख-उल-कामिल।
त० अ०—तबक़ाते अकबरी, निजामुद्दीन।
ता० फि०—तारीखे फ़रिश्ता।
डा० हि० ना० ई०—डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ नौर्थ इण्डिया।
मनु—मनुस्मृति (बूलरका अनु०)।
मे० ए० सो० बं०—मेमौयर्स औफ़ दी एशियाटिक सोसाइटी औफ़ बंगाल।
बं० ग०—बौम्बे गजेटियर।
नो० अ०—नोट्स औन अफगानिस्तान (रौबर्टी)।
कें० हि० ई०—कैम्ब्रिज हिस्ट्री औफ़ इण्डिया।
कै० क्वा० ई० म्यू०—कैटेलौग औफ़ दी क्वायन्स औफ़ दी इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता।
ई० ग० ई०—इम्पीरियल गजेटियर औफ़ इण्डिया।
प्रा० भा० शा० प०—प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति।
अलबरुनी—किताब-उल-हिन्दे, अनु० संतराम।
कौटिल्य—अर्थशास्त्र (शाम शास्त्री)।
सचाउ—किताब-उल-हिन्द—अनु० (सचाउ)।
हि० सं० लि०—हिस्ट्री औफ़ संस्कृत लिटरेचर।
शुक्र—शुक्रनीतिसार।
आ० सं० सि०—आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना।

भूमिका

प्रचुर सामग्रीके होते हुए भी अनुदार दृष्टिकोण, हेतुवादी नीति एवं सामग्रीसे स्वप्रयोजन-सिद्धिकी नीतिके कारण भारतीय इतिहासकी जो दुर्दशा हुई उससे जिज्ञासुओंके समक्ष केवल एकांगी इतिहास रक्खा गया जिसमें सतत विदेशी आक्रमणोंसे पदाक्रान्त भारतकी निराशामय एवं निरुपाय अवस्थाका चित्रण तो अधिक अतिरंजित रूपमें किया गया किन्तु उसके शौर्य तथा उसकी आह्लादकारी विजयों और सफलताओंको दृष्टिसे ओझल रक्खा गया; हिन्दुओंकी सामाजिक व्यवस्थाकी दुर्बलताओंकी भर्त्सना तो की गई किन्तु उसका यह पक्ष नहीं बतलाया गया कि वह कैसे वैज्ञानिक आधारपर संघटित तथा कितना शाश्वत है, उसमें समन्वयकी कितनी अद्भुत शक्ति है तथा परिवर्तनके साथ अपनी मौलिकताको अक्षुण्ण रखते हुए नवीन स्वरूप धारण करनेका उसमें कितना सामर्थ्य तथा आग्रह है। अधिकांश आधुनिक इतिहासकारोंने भारतके अतीतके राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवनको अर्वाचीन धारणाओंके माध्यमसे देखा है। प्रसिद्ध इतिहासकार वी० ए० स्मिथने भारतके सम्पूर्ण इतिहासको अराजकता और अव्यवस्थामय चित्रित किया है और प्रयासपूर्वक सिद्ध किया है कि यहाँ सुशासित साम्राज्योंकी स्थापना यदाकदा ही हो पाई। इस संकुचित वृत्तिका सबसे जघन्य प्रहार भारतके पूर्वमध्य-कालीन इतिहासपर हुआ है। महाराज हर्षवर्धनके बादके युगके लिये ऐसे इतिहास-कारोंने सामान्यतया यह विश्वास स्थापित करनेकी चेष्टा की कि उसके बाद इस देशका राजनीतिक क्रम अस्त-व्यस्त हो गया, हिन्दुओंका पौरुष कुण्ठित हो गया, उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक प्रतिभा दीप्तिहीन हो गई और अशान्तिकी यह महानिशा फिर तब समाप्त हुई जब अट्ठारहवीं सदीमें भारतवर्षके गगनमंडलमें पश्चिमका सूर्य उदित हुआ।

इस अप्राकृतिक विश्लेषणने मध्यकालीन इतिहासकी परम्पराकी कड़ी भंग करके इस देशकी वर्तमान पीढ़ीको मानो पंगु बनाकर हमें इस स्थितिमें ला दिया कि हम बाहरी श्रेष्ठत्व सरलतासे स्वीकार कर लें। ऐतिहासिक विश्लेषणकी यह पद्धति निःसन्देह दोषपूर्ण और निन्दनीय है।

पूर्वमध्यकालीन भारतका इतिहास, जो सामान्यतया सन् ६५० ई० से सन् १३०० ई० तक विस्तृत है, अभीतक विश्वके लिये अज्ञात है। उस युगकी राजनीतिक प्रवृत्तियाँ, विशेषताएँ, उसके उत्थान-पतनके रहस्य, उसकी सांस्कृतिक देन तथा उस युगकी धार्मिक प्रतिक्रियाके आधारभूत कारण—सभी, इतिहासके पृष्ठोंमें यथावत् और सम्यक् रूपमें नहीं आ सके हैं। सुल्तानोंके राजप्रासादोंमें अहर्निश चलनेवाले छद्मपूर्ण षड्यंत्रों तथा मध्य एशियाके रक्तपिपासु आक्रमणकारियोंकी आततायितापूर्ण विजयोंके रंगीन वर्णनोंसे तो इतिहास भरा पड़ा है किन्तु उनके अमानुषिक आक्रमणोंके प्रतिरोधमें

स्वतंत्रताके लिये सदैव निछावर होनेवाले भारतीय वीरों और वीरांगनाओंके साहस और उत्साहके संबंधमें कुछ भी नहीं मिलता, यद्यपि उनकी कृतियाँ वीरगाथा और लोक-गीत बनकर आज भी जन-जनके कंठमें विराजमान हैं। स्पष्ट कहा जाय तो उस युगके भारतका इतिहास लिखा ही नहीं गया। उसकी स्वस्थ कल्पना भी नहीं की जा सकी। यह तो तुर्कोंकी विजयगाथा मात्र हुई। वास्तविकता तो यह है कि दिल्लीमें सुल्तानोंके प्रतिष्ठित हो जानेके पश्चात् भी स्पष्ट रूपसे तेरहवीं शताब्दीतक भारतवर्षका अधिकांश भाग हिन्दू शासकोंके अधीन था जहाँ सर्वदा मुस्लिम सत्ताके साथ-साथ हिन्दू सत्ता भी वर्तमान रही। उसने अपने राजनीतिक और सांस्कृतिक स्वत्वके लिये जागरूकतापूर्ण संघर्ष अविच्छिन्न रखा। यही नहीं, इस युग-संघर्षकी अंतिम विजयश्री भी इन्हींको प्राप्त हुई।

विदेशी आक्रमणके उस प्रबल प्रभंजनके प्रथम झोंकेसे हिन्दू स्वत्वकी न तो समाप्ति हुई और न उसका पतन। वह चेतनाविहीन भी नहीं हुआ था जैसा कि कुछ विद्वानोंका मत है। वह सदैव सजीव, सचेष्ट और संघर्षरत रहा। वीरोचित आदर्शोंके लिये मिटना तो उनका सहज कुलधर्म था। साहित्य और कलाके क्षेत्रमें तो उनकी कृतियाँ अद्वितीय ही हैं। भारतके इतिहासका यह अनोखा युग है। हमारे देशवासियोंने अप्रत्याशित आपदाके समक्ष ताल ठोंककर विपरीत परिस्थितियोंमें भी अपने सर्वस्वकी रक्षा की जब कि असीरिया, यूनान, बेबोलोन और नीलकी कितनी ही सहगामिनी संस्कृतियोंने ऐसे ही प्रवाहके समक्ष सर्वदाके लिये आत्म-समर्पण कर दिया। अतः ऐसे युगके हिन्दुओंकी रहस्यमयी जीवनी शक्ति वस्तुतः अभ्यर्थनाकी वस्तु है। उसे उसी मर्यादापूर्ण रूपमें अंकित करना इतिहासका पावन धर्म है।

पूर्वमध्यकालीन भारतके इतिहासकी उन सहज भावनाओंसे अनुप्राणित नवरचनाके लिये जिस संतुलित प्रयासकी नितान्त अपेक्षा है उसका ही अभिव्यंजन प्रस्तुत ग्रंथमें हुआ है। यह युग महाराज हर्षके उपरान्त और तुर्कोंके दिल्लीमें प्रतिष्ठित होनेके पहलेके लगभग ६०० वर्षोंतक व्याप्त है और सामान्यतया यह पूरा काल तीन खण्डोंमें विभाजित होता है। इस समय विभिन्न राजपूत वंशोंने स्वतन्त्र साम्राज्योंकी स्थापना की और राजेश्वरत्वके लिये परस्पर संघर्ष किया। यद्यपि मध्य एशियाके बर्बर आक्रमणकारियोंने भारतको एकच्छत्र बनानेके इनके राष्ट्रीय अध्यवसायको सफल नहीं होने दिया तथापि उनके व्यक्तिगत और संघ-रूपमें किए गए प्रतिरोधने युगको गौरवान्वित अवश्य कर दिया।

इस दौड़में प्रतिहार, राष्ट्रकूट, पाल, परमार और चालुक्य वंशोंने प्रभावकारी भाग लिया किन्तु इनमें प्रलंब कालतक अधिक व्यापक और ऊँचे लक्ष्यके साथ उतरनेवाला यशस्वी चन्देल-वंश ही है। इस वंशका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्यकाल इस युगका पिछला दो-तिहाई भाग था अर्थात् आठवीं सदीके मध्यसे लेकर तेरहवीं सदीके अन्ततक। जब प्रतिहारोंका महाराजाधिराजत्व कन्नौजकी राजगद्दीपर लड़खड़ा रहा था उसी

समय लगभग सन् ६१५ ई० में विकट संघर्षके बीच अपने अप्रतिहत अध्यवसायसे चन्देलोंने अपने युगका सबसे बड़ा साम्राज्य मध्यभारत और बुन्देलखण्डमें स्थापित किया। इस प्रकार सन् ६१५ से सन् १०२५ ई० पूर्णरूपेण भारतकी राज्यश्री कन्नौजसे हटकर महोबा और कालंजरमें आकर स्थिर हो गई।

अपने उद्भवके स्वर्णिम दिनोंमें चन्देलोंने महत्त्वाकांक्षी राष्ट्रकूटोंके उत्तरी भारतमें होनेवाले आक्रमणोंको रोका तथा समस्त दुर्बल राजवंशोंको उन्मूलित कर एक संगठित केन्द्रीय राजसत्ताकी स्थापना की। इसके अतिरिक्त इस वंशके यशस्वी शासक धंगदेव, गंडदेव और विद्याधरदेवने, जो मुस्लिम इतिहासकारोंके शब्दोंमें अपने समयके सबसे शक्तिशाली शासक थे, संघ बनाकर सुबुक्तगीन और महमूद गजनवी-के नेतृत्वमें होनेवाले पाशविक तुर्क-आक्रमणके विरुद्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण युद्ध छेड़कर राष्ट्रीयताके उज्ज्वलतम नमूने रक्खे। दो शताब्दियोंतक तो समस्त उत्तरापथ चन्देल महाराजाओंकी राजनीतिक प्रयोगशाला था। उन महापुरुषोंने अपने आचरणसे उस युगमें राष्ट्रीयताका एक मानदंड ही प्रतिष्ठित कर दिया। चन्देल इतिहासकी मौलिक विशेषता केवल इसीमें नहीं है। कला, साहित्य और धार्मिक परिचर्यामें भी उनकी प्रतिभा और अधिक महत्त्वपूर्ण रूपमें व्यक्त हुई। उनकी स्थापत्य और मन्दिर-कला तो भारतवर्षकी युगप्रतिनिधि कलासे भी ऊपर उठकर सर्वकालीन गौरवकी वस्तु बन गई है। खजुराहोके मन्दिरोंके संश्लिष्ट सौन्दर्यकी विभुता पूरे देशमें सर्वोपरि कही जा सकती है।

इस इतिवृत्तमें कुछ ऐसे मार्मिक स्थल मिले जो अत्यन्त गभीर कठिनाईके रूपमें सामने आ खड़े हुए हैं। इनमेंसे कुछ ये हैं—

(१) वंशकी उत्पत्ति। (२) वंशावली और काल-निर्धारण। (३) कुछ शासकोंकी तिथियोंकी प्रतिष्ठा। (४) विदेशी आक्रमणकारियोंके प्रति उनकी नीति। (५) चन्देलोंकी कला और उनके सिक्कोंके स्रोत।

इन विवादास्पद प्रश्नोंका निर्णय यहाँ प्रामाणिक सामग्रीके आधारपर किया गया है। चन्देल-वंश और उसके युगके इतिहासकी सामग्री बहुत सामान्य है और वह भी यत्र-तत्र बिखरी हुई। उसमें विशेष महत्त्वके अभिलेख हैं। चन्देलों-द्वारा निर्मित महोबा और खजुराहोके मन्दिरोंमें अनेक महत्त्वपूर्ण अभिलेख प्राप्त हुए हैं जो शासकोंके राजनीतिक इतिहासके साथ-साथ उनकी वंशावली भी प्रस्तुत करते हैं। कालंजर दुर्गमें भी एक उपयोगी उत्कीर्ण लेख प्राप्त हुआ है। ये सभी 'इंडियन ऐन्टीक्वेरी', 'एपिग्रैफ़िया इण्डिका' और अन्य पत्रिकाओंमें प्रकाशित हैं। राजाओं-द्वारा दिए गए दान-पत्र भी बहुत अधिक संख्यामें मिले हैं और सभी महनीय सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इनसे शासनकी विविधता, राज्यविस्तार आदि जाननेके लिये पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है।

चन्देल राजाओंके सिक्के संख्यामें बहुत कम प्राप्त हुए हैं किन्तु उनसे अनेक स्थलों-पर बहुत ही मूल्यवती सहायता मिली है। इन कलाप्रेमी शासकों-द्वारा जो वास्तुराशि

मन्दिरों, राजभवनों, दुर्गों और जलाशयोंके रूपमें निर्मित हुई है वह सम्पूर्ण इतिहास-का अनुपम स्रोत है। इनसे तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक अवस्थाका प्रामाणिक ज्ञान होता है।

इतिहासके इन मूलभूत साधनोंमें उस युगके साहित्यका बड़ा ऊँचा स्थान है। संस्कृत साहित्यमें प्रबोधचन्द्रोदय, शुक्रनीतिसार, राजतरंगिणी तथा बहुतसे धर्म-शास्त्र अधिक उपयोगी हैं। किन्तु यहाँ उन्हीं धर्मशास्त्रोंका प्रयोग किया गया है जिनकी तिथियोंके संबंधमें निश्चय हो चुका है और कोई विवाद नहीं है। चन्दबरदाई-का पृथ्वीराजरासो और जगनिक भाटका आल्हा काव्य भी हिन्दीके समकालीन इतिवृत्तात्मक साहित्य हैं। इनका प्रयोग बड़ी सावधानीसे छान-बीन करके किया गया है। पर अन्य सामग्रियोंके संपर्कमें ये बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं।

नवीं सदीसे बादकी तीन शताब्दियोंका युग चारणोंका युग है। उन्होंने वीरों-की यशोगाथाएं अतिशयोक्तिपूर्ण साहित्यमें अलंकृत करके प्रस्तुत कीं जो पीढ़ी दर पीढ़ी सामान्य परिवर्तनोंके साथ मौखिक ही चली आई है। इन अनुश्रुतियोंने भी इतिहासका संवहन किया है। चन्देलों और उनके कुछ सामन्तोंकी जीवन-घटनाओंसे संबंधित कितनी ही जनश्रुतियाँ आज भी पूरे बुन्देलखंडमें---प्रधानतया महोबा और चन्देरी में---प्रचलित हैं। इनमेंसे कुछका संकलन तो इतिहासकार किल्हौर्न, कनिंघम और वी० ए० स्मिथने किया है। किन्तु इस निमित्त ऐतिहासिक यात्रा करके उन सबका पुनः परीक्षण किया गया तथा कुछ और नवीन और महत्त्वकी जनश्रुतियोंका संग्रह भी किया गया। इसमें सन्देह नहीं कि जनश्रुतियोंसे प्राप्त सूचनाएं बड़ी सन्दिग्ध हैं तथापि अभिलेखों और मुद्रालेखोंके सहयोगसे जहाँ-तहाँ उचित सहायता मिली है।

चन्देल इतिहासकी सामग्रीका एक दूसरा स्रोत मध्ययुगीन मुस्लिम इतिहासकारों-की रचनाएं हैं। यह सत्य है कि उनके विवरण निजी अनुभवके आधारपर नहीं हैं बल्कि सुने-सुनाए कथनोंके आधार पर हैं और आनुमानिक हैं, अतएव पर्याप्त अस्त-व्यस्त और अस्पष्ट हैं। ऐसे इतिहासकारोंमें अलबरूनी, इब्न-उल-अतहर, उत्बी, मुहम्मद गर्दिजी और फरिश्ताके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

इन मूल साधनोंके अतिरिक्त अनेक मनीषियोंने इस कार्यको अपने अर्वाचीन ग्रंथोंमें सीधे अथवा प्रकारान्तरसे किए गए तद्विषयक वर्णन और समीक्षासे सरल बनाया है। उनमेंसे अधिकांशका उल्लेख पाद-टिप्पणी तथा अनुक्रमणिकामें ग्रन्थ-सहित प्रस्तुत है। उनके कितने ही विचारोंने खोजको पुष्ट किया है तथा उसका मार्ग-प्रदर्शन किया है। किन्तु कई मार्मिक स्थलोंपर उनके द्वारा स्थापित मान्यताओंके विपरीत जाना पड़ा है और कभी-कभी उनके सिद्धान्तोंकी कटु समीक्षा भी करनी पड़ी है---हाँ, श्रेष्ठतर प्रमाणों-के आधारपर तथा विश्लेषण-प्रणालीकी भिन्नताके कारण ही।

पूरा ग्रन्थ सोलह अध्यायोंमें विभक्त किया गया है---यह इस कामनासे कि इतिहास-की व्यवस्थित और सर्वांगीण अभिव्यक्ति की जा सके। प्रथम अध्याय उस विस्तृत भूभागके, भूगोल, भूतत्त्व, प्राणिशास्त्र आदिके सामान्य वर्णनके साथ आरंभ होता है

जिसपर चन्देलोंने शासन किया था। दूसरे अध्यायमें इस वंशकी उत्पत्ति, आदिपुरुष और स्थापनाकी तिथिपर विचार किया गया है। यह अध्याय विशेष महत्त्वका है क्योंकि इसमें शुद्ध मौलिक साधनोंके आधारपर पश्चिमी इतिहासकारों-द्वारा निर्धारित मतका खंडन किया गया है और यह प्रतिष्ठित किया गया है कि चन्देल-वंश प्राचीन क्षत्रिय-वंशोंसे संबंधित है और इसका उद्गम चन्द्रवंशसे है। यह भी प्रतिष्ठित किया गया है नन्नुक नहीं, वरन् चन्द्रात्रेय ही इस वंशका प्रथम पुरुष और संस्थापक था। तीसरे अध्याय-में चन्देलोंके राजनीतिक जीवनका अरुणोदय वर्णित है और चौथे अध्यायमें प्रतिहारोंके अधीन सामन्त रूपमें रहते हुए विजयी चन्देलोंने जो अपनी शक्तिको सुसंगठित और प्रभावशाली बनाया उसका वर्णन। उसके बादवाले अध्यायमें कीर्तिमान् यशोवर्मन्-देव द्वारा अपनी सत्ताको सार्वभौम बनाने तथा मध्यदेश और आर्यावर्तके अनेक राजाओं-को सामन्त बनानेका तथा छठे और सातवें अध्यायोंमें इस वंशके राजनीतिक उत्कर्ष-का वर्णन है——जब महाराज धंग और गंडदेवने कितने ही दुर्बल राजवंशोंको छत्रान्तर्गत करके उत्तरी भारतमें अपनी प्रभुता अखंड बनाई तथा देशके उत्तरदायी प्रहरीके रूपमें गजनीके आक्रमणकारियोंका वीरोचित उत्तर दिया। आठवें अध्यायमें उनके राजनीतिक सूर्यका प्रतीचीमें ढल जानेका वर्णन है। नवें अध्यायमें उनके समयमें प्रचलित शासन-व्यवस्थाका विस्तारके साथ वर्णन किया गया है। आवश्यकतानुसार यहाँ यत्र-तत्र समकालीन अन्य राजाओंके दानपत्रों और अभिलेखोंसे प्राप्त शासन-व्यवस्था-संबंधी सामग्रीका भी प्रयोग कर लिया गया है।

भारतवर्षकी तत्कालीन सीमानीतिकी दुर्बलता ही प्रमुख रूपसे राजनीतिक अव्यवस्थाका कारण थी। साथ ही विदेशी आक्रमणकारियोंके प्रति भारतीय शासकोंकी प्रतिक्रिया भी कम महत्त्वका स्थान नहीं रखती। जितने भी आरोप उस समयके हिन्दू राजाओंपर इतिहासकार लगाते हैं वे सभी परिस्थितिजन्य हैं——इसलिये दसवें अध्यायमें चन्देलोंकी वैदेशिक नीतिपर स्वतन्त्र रूपसे विचार किया गया है और चन्देल शासकोंद्वारा अन्य भारतीय शासकोंके प्रति अपनाई हुई नीतिका भी निदर्शन किया गया है।

ग्यारहवें अध्यायमें उस समयके समाजका स्वरूप प्रदर्शित किया गया है। वस्तुतः वह संपूर्ण भूभाग, जिसे चन्देलोंने अपने शासनसे अलंकृत किया था,——एक विशिष्ट सांस्कृतिक खंड है जिसके सामाजिक जीवनकी भी एक स्वतंत्र इकाई है। बारहवें अध्यायमें चन्देल शासकोंकी धार्मिक नीतिके साथ-साथ तत्कालीन धार्मिक अवस्थाका सविस्तर वर्णन किया गया है। वर्तमान हिन्दू धर्मका जो स्वरूप आज है वह किसी भी प्रकार प्राचीन ब्राह्मण धर्म अथवा वैदिक धर्मसे नहीं मिलता। इसके शरीर और परम्पराका निर्माण तो इसी युगमें हुआ। वैष्णव और शैव मतोंने नवीन कलेवर धारण किए। भक्ति-मार्गकी निर्मल धारा प्रवाहित हुई। उधर मंत्रयोगियों और तान्त्रिकोंने आसक्तिमूलक भावनाओंका प्रचार कर लोकसापेक्ष मतोंको जन्म दिया। इस अध्यायमें इन सबके क्रमिक विकासका इतिहास रक्खा गया है और चन्देल शासकोंकी धार्मिक सहिष्णुतासे उत्पन्न प्रभावका भी

परिचय कराया गया है। उसके बादवाले अध्यायमें भाषा और साहित्यका वर्णन किया गया है। बुन्देली और बघेलखंडीकी, जो चन्देल साम्राज्यकी जन-बोलियाँ थीं, तत्कालीन अवस्थाका क्रमिक चित्र भी उपस्थित किया गया है।

चन्देल महाराजे अपनी स्थापत्य, वास्तु और मूर्तिकलाके लिये अमर हैं। इस विशिष्ट कलाके प्रत्येक पहलूको उपपन्न तर्कके माध्यमसे चौदहवें और पन्द्रहवें अध्यायोंमें स्पष्ट किया गया है। सोलहवें अध्यायमें पूरे ग्रंथको उपसंहार रूपमें रक्खा गया है।

पुण्यश्लोक चन्देल शासकोंका प्रतिभासंपन्न युग चौदहवीं शताब्दीके आरंभ होते-होते समाप्त हो गया और वे कालंजरके आस-पास आकर सिमट गए। किन्तु दिल्लीके दास शासकोंके बर्बर आक्रमणसे प्रतिहत होकर अपने दुर्दिनमें कालंजरको भी धीरे-धीरे इन्होंने छोड़ दिया। पूर्वकी ओर बढ़कर उन्होंने नवीन राज्योंकी स्थापना की। आज भी उस प्रथित वंशके उत्तराधिकारी नवीनतम रूपमें गिद्धौरमें प्रकाशमान हैं। बड़े श्रमके साथ यत्र-तत्र बिखरी हुई सामग्रीको एकत्र करके परवर्ती शासकोंका इतिहास परिशिष्टमें रक्खा गया है। इस प्रयत्नके फलस्वरूप निःसंदेह यह इतिहास अद्यावधि परिपूर्ण बन गया है। उस मूल शासक चन्देल वंशके उत्तराधिकार रूपमें क्रमिक और अविच्छिन्न गतिसे विकसित गिद्धौरका यह राजवंश, एक स्थानीय शासकके रूपमें ही सही, इतनी असाधारण लंबी अवधिके उपरान्त भी एक सत्ताके रूपमें देदीप्यमान पाया जा रहा है।

पुस्तकमें जिस पद्धतिका अवलंबन किया गया है वह प्रकल्पक, तात्त्विक, विन्यासात्मक और समीक्षात्मक है। इसमें पूरी आस्थाके साथ विविध साधनोंसे प्राप्त सामग्री संयोजित की गई है। फिर उन्हें तौल-तौलकर एक तथ्यके प्रकाशनके लिये संश्लिष्ट रूप प्रदान कर दिया गया है और साधनोंकी अपूर्णतामें अवगुण्ठित रह जानेवाले स्थलोंको छोड़ दिया गया है फिर भी उस युगके भारतीय इतिहासके सूक्ष्मतम रहस्योंको अभिव्यक्त करनेमें कोई कमी नहीं रह गई है। पुस्तकके अंतमें उन पुस्तकों, पत्रिकाओं और मूल साधनोंकी सूची प्रस्तुत कर दी गई है जिनका मनन, अध्ययन और अवलोकन किया गया ताकि विषयमें आवश्यकतानुसार और गहराईतक जाया जा सके। विश्लेषणको सर्वांगीण पूर्ण बनानेके लिये शब्दानुक्रमणिका भी प्रस्तुत कर दी गई है।

चन्देल और उनका राजत्व-काल

चन्देल और उनका राजत्व-काल

प्रथम अध्याय

स्थिति और उसका भौगोलिक महत्त्व

भारतवर्षके जिस भू-भागमें शताब्दियोंतक चन्देल राजाओंने एकतंत्र शासन किया उसका बोध बुन्देलखण्ड (बुन्देलोंका देश) कहनेसे कदापि नहीं हो सकता। वी० ए० स्मिथकी धारणा है कि आधुनिक 'बुन्देलखण्ड' से उस सम्पूर्ण क्षेत्रका बोध होता है जिसमें चन्देल शासकोंने राज्य किया था[1]। किन्तु बुन्देलखण्ड शब्दका प्रयोग बहुत कुछ भ्रामक एवं अनिश्चयपूर्ण है। इस शब्दका प्रयोग चन्देलोंकी राज्यश्री लुप्त होनेके एक शताब्दि पश्चात् लगभग ई० सन् १३३५–४० में तब प्रारम्भ हुआ, जब इस भागमें बुन्देल सरदारोंका आगमन हुआ। तभीसे यह नाम इस भू-भागके लिये प्रचलित हो चला। यद्यपि आज यहाँ अन्योंकी अपेक्षा बुन्देलोंकी संख्या बहुत कम है।

इस भू-खण्डके अनेक नाम हमें प्राप्त होते हैं, जो विभिन्न समयोंमें प्रयोग किये गये थे। ध्यान देनेकी बात यह है कि ऐतिहासिक क्रममें ये नाम इस भू-भागपर शासन करनेवाले किसी वंशसे प्रसूत हैं अथवा इसके किसी अंचल विशेषके नामसे। अतः स्थानीय और वंश-प्रस्तुत नामोंने इस प्रदेशका बोध कराया। यह दूसरी बात है कि परिवर्तित युगोंके साथ ये नाम स्थायी न हो सके और इनका प्रयोग समाप्त होता गया। इन नामोंके संबंधमें विशेष ज्ञातव्य यह भी है कि इनमेंसे सब उस समूचे भू-भागका बोध नहीं कराते, जितनेपर चन्देल महाराजोंने शासन किया और जिसकी सीमा आगे निर्धारित की जायगी। उनकी सीमाएँ बहुधा संकुचित थीं परन्तु ऐसी धारणा-परम्परामें उनका ऐतिहासिक महत्त्व निर्विवाद है।

ब्राह्मण-युग और उसके कुछ परवर्त्ती युगोंमें (लगभग ई० पू० ३२५ तक) इस भूभागका दक्षिणी भाग अवन्ती और उत्तरी भाग वत्स कहा जाता था। यह सम्पूर्ण भाग उस समय नर्मदा एवं महानदीके बीच पाञ्चालके दक्षिणमें अवस्थित था। रामायण-युगमें चित्रकूटका माहात्म्य पराकाष्ठापर था अतः उस समय इसका कुछ भाग चित्रकूट देशके नामसे प्रसिद्ध था। महाभारत-साहित्यमें इसका एक

---

१. इ. ए. १९०८, भाग ३७, पृ. १३०

दूसरा नाम दशार्ण प्राप्त होता है। उस समयका भौगोलिक संबंध इस प्रदेशकी प्रसिद्ध नदी दशार्ण (धसान) से है। संकल्पमें भी इस नामकी चर्चा आती है। सुधर्मा दशार्ण-पति था। उस समय इसकी राजधानी विदिशा थी।

विभिन्न पुराणोंसे इसके कई नाम उपलब्ध होते हैं। भविष्य-पुराणके एक प्रसंगसे ज्ञात होता है कि इसके मध्यवर्त्ती भागका नाम पद्मावती था। स्थानीय परम्परासे ज्ञात होता है कि पवायामें पद्मावती नगरीके खण्डहर अब भी वर्त्तमान हैं। पुराणों एवं अन्य ग्रन्थोंमें इसका नाम मध्यदेश भी प्राप्त होता है। मध्यदेशकी सीमा प्राचीन साहित्यमें बड़ी व्यापक थी। यमुनाका सम्पूर्ण दक्षिणी भाग उसमें सन्निहित था। विष्णुधर्मोत्तरमें यह युद्धदेशके नामसे प्रख्यात है[1]। सुरासुर युद्धका क्षेत्र होनेके कारण ही इस नामका प्रयोग हुआ था। कालंजरके पार्श्ववर्त्ती प्रदेशका नाम कालंजर प्रदेश पड़ गया था। इसकी चर्चा वेदोंमें भी आई है। गणतन्त्रों और महाजनपदोंके युगमें कर्णावती (केन) के पूर्वी भागपर वत्सोंका अधिकार स्थापित था और यह कौशाम्बीका राज्य कहा जाता था। उस समय इस भू-खण्डका पश्चिमी भाग पाञ्चालोंके अधीन था। पाल-लेखोंसे इसका नाम कर्णदेश अथवा कर्णावती प्राप्त होता है। यही अंचल दधीचिकी तपोभूमि है। पौराणिक वृत्तके अनुसार उनकी अस्थियोंके कणोंसे हीरे (वज्र) बने थे। इस देशकी ख्याति वज्रदेश नामसे भी है। गुप्त-शासन-युगमें इसके कई नाम सामान्य अर्थ-भेदसे प्रचलित थे। जो पूर्वी भाग कलचुरियोंके अधीन था उसे 'डाभाल' कहते थे। यही तुर्कोंके समयमें विकृत होकर 'डाहल' हो गया था। समुद्रगुप्तकी प्रयाग-प्रशस्तिसे प्रकट होता है कि इस पूरे भू-भागका नाम आटव्य देश था; किन्तु सागरके दक्षिणी भागका स्थानीय नाम पिप्पलादि पड़ गया था। कुछ गुप्त अभिलेखोंसे इसकी भौगोलिक संज्ञा वन्यदेश उपलब्ध होती है। पुराणों तथा अन्य पिछले ग्रन्थोंसे ज्ञात होता है कि इसका नाम चेदि और कलचुरी राजाओंके प्रभुत्व-कालसे चेदिदेश पड़ गया था।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इनमेंसे किसीका भी विस्तार इतना नहीं था जिसमें वह पूरा देश सम्मिलित हो सके जिसपर चन्देलोंने राज्य किया था। मदनपुरके चन्देल अभिलेखसे यह प्रकट है[2] कि इसके पूर्व यह जुझौतिया या जेजाहुति नामसे ख्यात था।

वस्तुतः जो नाम चन्देलोंके सम्पूर्ण साम्राज्यके लिये प्रयुक्त हो सकता है वह 'जेजाकभुक्ति' या 'जेजाभुक्ति' है। बुन्देलखण्ड अत्यंत विस्तृत अर्थमें ही, जेजाकभुक्ति या जेजाभुक्तिका समानार्थी बनाया जा सकता है। चंदेल महाराजाओंका यह

---

१. चैद्यनैषधयोः पूर्वे विंध्यक्षेत्राच्च पश्चिमे। रेवायमुनयोर्मध्ये युद्धदेश इतीर्य्यते ॥

२. अरुणराजस्य पौत्रेण श्रीसोमेश्वरसूनुना ।
जेजाकभुक्तिदेशोऽयं पृथ्वीराजेन लूनिता ॥

जेजाभुक्ति अथवा जेजाहुति-साम्राज्य कभी महोबा या महोत्सवके नामसे भी ख्यात था[१]। महोबामें इस साम्राज्यकी गौरवशाली राजधानी थी।

विस्तार और सीमा

जनरल कनिंघमने जेजाभुक्ति साम्राज्यकी जो सीमा निर्धारित की है उसके अनुसार वह समस्त क्षेत्र इसमें सम्मिलित है जो गंगा और यमुनाके दक्षिण, बेतवा नदीके पूर्व, विंध्यवासिनी देवीके मंदिरके पश्चिम तथा दक्षिणमें नर्मदा महानदतक फैला है। आधुनिक सागर और बेलारी जिले भी उसमें सम्मिलित हैं[२]। बी० ए० स्मिथने भी इसी भौगोलिक सीमाको स्वीकार किया है[३]। किन्तु उत्कीर्ण लेखोंसे चन्देल-साम्राज्यके जिस विस्तारका परिचय मिलता है वह इस सीमामें नहीं समा पाता। अभिलेखोंसे यह प्रमाणित होता है कि ग्वालियर लगभग एक सदीतक चन्देलोंका सामंत रहा। इसकी समीक्षा आगे की जायगी। आगरा जिलेके बटेश्वरमें चन्देलोंके लेख मिले हैं। कच्छपघाटके विक्रमसिंहके लेखमें यह स्वीकार किया गया है कि विक्रमका वंश चन्देलोंका मांडलीक था[४]। ऐतिहासिक वृत्तान्तोंसे प्रकट यह विस्तार 'जुझौती' संस्कृति और रीति-रिवाजोंसे पुष्ट होता है। इन सभी भागोंकी भाषा और परंपरामें एक विलक्षण समरसता और अनिर्वचनीय एकता पाई जाती है। जुझौती संस्कृति और रीतियोंने ही आगे चलकर बुन्देलखंडीकी संज्ञा ली किन्तु विस्तार कुछ संकुचित हो गया।

विदेशी विवरणोंमें विस्तार

सातवीं शताब्दिमें ह्वेनत्सांगसे लेकर चौदहवीं शताब्दिमें इब्नबतूता-तकके विदेशी विवरणोंकी छानबीन करनेसे ज्ञात होता है कि उनमें वर्णित जजाहुति, जजाहोती, जिझौती स्थूल रूपसे उत्कीर्ण लेखोंके जेजाभुक्तिके ही रूप और सीमाका बोध कराते हैं। इस चीनी यात्रीका कथन है कि 'जजाहोतीका प्रांत ४००० ली अर्थात् ६६७ मीलकी परिधिमें है[५]।' अबू-रीहानका विवरण भी सामान्यतः यही है[६]। अब टालेमीके विवरणकी परीक्षा की जानी चाहिए। जनरल कनिंघमने भी इस मतकी परीक्षा की है[७]। टालेमीने अपने वर्णनमें सन्द्राबतिस अथवा सन्दाबतीस नामक प्रांतकी चर्चा की है। यह सन्द्राबतिस अथवा सन्दाबतीस जेजाभुक्ति

---

१. ग्वा. मे. ३., भाग २, पृ. ४३

२. ए. एम. आई., भाग २, पृ. ४१३

३. ए. आई., भाग ३०, पृ. १३०

४. यह अभिलेख ग्वालियरसे द. प. लगभग ७६ मीलकी दूरीपर स्थित दूबकुंडा नामक गाँवमें प्राप्त हुआ है।

५. ए. एस. आर., भाग २, पृ० २५१

६. वही, पृ० ४१३

७. वही भा. २१, पृ० ५८

ही है। यही बात उसके विवरणकी अन्य उक्तियोंसे भी प्रमाणित होती है। उसके सन्द्रावतिस प्रांत का एक जिला 'कुरपुरिना' वस्तुतः खजुराहो अथवा खजूरपुर ही है। इसी प्रकार टालेमीके कुछ और नगरोंका भी तादात्म्य किया जा सकता है, जैसे एपिलोध्राका महोबासे, नदुड़ागरका नरवारसे और अल्प परिवर्त्तनसे ही तमसिसका तपसितसे, जो कालंजर पर्वतका परिचायक है। वैदिक साहित्यमें कालंजरको तपस्या-स्थान कहा गया है। तपस्वियोंके प्रिय होनेके कारण ही इसकी प्रचुर महिमा गाई गई है इसलिये तपसिस अनिवार्य रूपसे कालंजरका ही बोधक है।

विदेशी वर्णनों-द्वारा चन्देलोंके साम्राज्य जेजाभुक्तिकी और भी दो प्रामाणिकताएँ प्राप्त होती हैं। चीनी यात्री ह्वेनत्सांगने 'चिह्-चि-तो' प्रांतके भ्रमणकी चर्चा की है[1]। 'चिह्-चि-तो' वास्तवमें जेजाभुक्ति ही था जो इस भूभागका तत्कालीन प्रचलित नाम था। दूसरा वर्णन अबू-रीहानका है जो महमूद ग़ज़नवीके साथ यहाँ पहुँचा था। उसने भी इस प्रांतका नाम जजाहुती बतलाया है। जजाहुती एक मौलिक नाम था जिसकी स्मृति आज भी जजाहुतिया नामसे पुकारे जानेवाले वहाँके ब्राह्मणों और वैश्योंमें वर्त्तमान है। प्रांतका यह नाम महोबाके पीर मुहम्मदशाहकी दरगाहमें लगे एक उत्कीर्ण लेख (पंक्ति ६) से भी प्राप्त होता है। इसमें इसे जेजाभुक्ति कहा गया है। इन अन्यान्य प्रमाणोंसे यह निष्कर्ष निकलता है कि चंदेलोंके साम्राज्यका प्रचलित नाम जेजाभुक्ति अथवा जेजाकभुक्ति था और इसका विस्तार आधुनिक बुन्देलखण्डसे बहुत ही बड़ा और व्यापक था।

जेजाभुक्तिका यह चन्देल-साम्राज्य कितना विस्तृत था, इसका ठीक अनुमान आधुनिक नाप-जोखसे लगाया जा सकता है। इसमें हमीरपुर, जालौन, झाँसी, ललितपुर, बाँदा, सागर और बेलारीके ज़िले सम्मिलित थे। उत्तरप्रदेशके काशीके निकटसे मिर्ज़ापुर, इलाहाबादके भाग भी इसमें मिले थे। इसके अतिरिक्त ओरछा, टेहरी, दतिया, समथर, अजयगढ़, अलीपुर, टोरी, फ़तेहपुर, बिजना, पहाड़ीबंका, बरोंद, बाजनी, रंगाँव, पालदेव, पाढ़ा, छतरपुर, गरौली, गौरिहार, जिगनी, लुगासी, नैगाँव, पन्ना, सरिला तथा अन्य अनेक छोटी-छोटी रियासतें इसके विस्तारके अंतर्गत थीं। ग्वालियर भी उसकी सीमामें ही अवस्थित था। यदि इसको भौगोलिक उपकरणोंके भीतर रक्खा जाय तो अपने चरम उत्कर्षके दिनोंमें जेजाकभुक्तिका सीमा-विस्तार निम्नाङ्कित रूपसे था—

उत्तरकी ओर गंगा और यमुनाके महानद इसकी सीमा बनाते थे; दक्षिणमें नर्मदा नदी, जिसमें मालवा भी सम्मिलित था और पश्चिममें इसकी सीमा सामान्य रूपसे चंबल नदी थी जो विंध्य-मेखलातक पहुँचती है। जेजाकभुक्तिकी पूर्वी सीमा इतनी स्पष्ट नहीं रक्खी जा सकती। उत्तरपूर्वमें तो सोन नदी सीमास्थ थी किन्तु इसका दक्षिणी भाग चन्देल-साम्राज्यमें घुस गया था। यदि बनारसके एक अंश पूर्वकी देशान्तर रेखाको सीमा मान लिया जाय तो कुछ अनुचित नहीं होगा। इधर

१. वही, पृ० ७१

जेजाकभुक्तिकी सीमा प्रतिहारोंकी पूर्वी सीमा भी पार कर गई थी। जेजाकभुक्तिकी स्थिति इस प्रकार मानचित्रपर २२° और २७° उत्तरीय अक्षांश तथा ७५° और ८४° पूर्वीय भू-रेखाओंके मध्यमें है। इस पूरे क्षेत्रका क्षेत्रफल लगभग ५१,००० वर्गमील है।

प्रकृति-दर्शन

यदि इस पूरे भागपर एक साथ दृष्टि डालें तो विदित होगा कि इसका समतल भाग दक्षिणमें वहाँ तो संकीर्ण है जहाँ विंध्यकी श्रेणियाँ पहुँच गई हैं किंतु उत्तरकी ओर फैलता चला जा रहा है और आगे जाकर यमुनासे सिमट जाता है। इस मैदानका अधिक भाग उत्तरमें यमुना एवं विंध्यकी प्रथम श्रेणीके बीचमें ही स्थित है। इस मैदानका दक्षिणी भाग ऐसे कंदरों एवं जलस्रोतोंसे छिन्न-भिन्न हो गया है जो पाँच-पाँच, सात-सात मीलोंतक प्रवाहित होकर किन्हीं नदियोंके बननेमें योग देते हैं। यमुना, बेतवा, फावी और धसान नदियोंकी समीपवर्त्ती भूमि बहुधा इसी प्रकारकी है और पूरे उत्तरी भागमें बहुत कम जोतने-योग्य भूमि है। इस पठारका पूर्वी भाग भी विभिन्न आकारकी समभूमियोंसे बना है किन्तु दक्षिणी भाग लता-वितानोंसे आच्छादित तथा अत्यंत चित्ताकर्षक शृंग-श्रेणियोंसे आवेष्टित है। जेजाभुक्तिका मध्यवर्त्ती भाग प्रायः विकृत तथा यत्र-तत्र फैली हुई अनुपयोगी वनस्पतियोंसे पटा हुआ है। साधारण रूपसे यह दृश्य भी बड़ा मनभावन है। समस्त भूमि काली मिट्टीवाली है। उसकी व्याप्तिसे दर्शकका मन अधिकतर ऊब जाता है। श्रांत नेत्रोंको तृप्ति देनेवाले ढाकके बड़े-बड़े जंगल, हरित पटोंसे ढँके पटपर तथा निकुंजोंसे विभूषित तरंगोंवाले पर्वतीय जल-स्रोत हैं। प्रकृतिने इन सबकी कमी नहीं की है।

प्राकृतिक विभाग

प्राकृतिक विभूतियोंके आधारपर जेजाभुक्तिको तीन भागोंमें बाँटा जा सकता है :—

१. उत्तरका मैदानी भाग।
२. मध्यका पठार।
३. दक्षिणका पहाड़ी भाग।

उत्तरका मैदान निम्न भूमिसे बना है और आकारमें सँकरा है। यह चंबलके कछारसे प्रारम्भ होकर निरंतर गंगा-यमुनाके दक्षिणी कछारतक पहुँचता है, जहाँ मिर्जापुरकी पहाड़ीकी ऊँचाईमें क्रमशः मिल जाता है। यह भूमि सम नहीं है। मैदान ऊबड़-खाबड़ है जिसमें जगह-जगह पठारी श्रेणियाँ अव्यवस्थित रूपसे निकल आई हैं। कहीं-कहीं स्रोतोंसे कटी हुई गंभीर कंदराएँ और कहीं मीलोंसे चले आते हुए काली मिट्टीके अनेक मनहूस प्रांतर हैं जो उत्तरकी नदियोंके उदरतक पहुँच गए हैं। इस मैदानका एक और विषम चित्र अधित्यकाएँ उपस्थित करती हैं। इनके शिखर चतुर्दिक् चौड़े और ढाल अत्यंत सीधे हैं जिनमें बालूदार पत्थरोंके अपसरण उभड़े हुए हैं जिनका स्थानीय नाम ऊरी है। इन अधित्यकाओंपर चढ़

जाना केवल कुछ कृत्रिम मार्गोंसे ही सम्भव है जिन्हें घाटी कहते हैं। इस मैदानी भागकी उपजाऊ मिट्टी गंगाकी लाई मिट्टीसे बनी है। समुद्र-सतहसे इसकी ऊँचाई ६०० फ़ीट है। ऐसी मिट्टीवाले भाग देशके सर्वोत्तम उपजाऊ भागोंमें हैं और घने बसे हैं।

मध्यका पठार चंबलसे लेकर मिर्ज़ापुरकी पहाड़ियोंतक उत्तरी मैदानी भाग और दक्षिणके पहाड़ी भागके मध्यमें फैला है। वास्तवमें विंध्यके विशाल पठारके ऊपर स्थित यह एक बड़ी अधित्यकाके रूपमें है, जिसका स्थानीय नाम पाठ है। यह बालूदार पत्थरोंके सामूहिक उभारसे बना है। इसका सम्पूर्ण आकार ही ऐसा है कि इसपर उत्तरकी ओर बहनेवाले नदी-नालोंका जाल-सा बिछा हुआ है। यह भाग अधिकतर निर्जन जंगलोंसे आच्छन्न है। इस भागकी अधिकतम ऊँचाई १००० से १५०० फ़ीटके भीतर ही है। साधारण रूपसे यह भाग आकर्षक नहीं है।

दक्षिणका पहाड़ी भाग विंध्याचलकी प्रमुख श्रेणियोंसे बना है जो दक्षिण-पश्चिमसे उत्तर-पूर्वकी ओर मध्यकी अधित्यकाके समानान्तर चला गया है। नर्मदा नदीके तटसे यह भाग प्रारम्भ हो जाता है। कहीं-कहीं मध्यकी अधित्यकाको बेधकर पर्वत-श्रेणियाँ भी घुस गई हैं। विंध्याचलकी श्रेणियोंके अतिरिक्त कहीं-कहीं स्वतंत्र पहाड़ और कूट भी पाए जाते हैं जिनके शिखरोंकी ऊँचाई विन्ध्यके शृंगोंके समकक्ष है।

पर्वत

जेजाभुक्तिकी पर्वत-श्रेणियोंको फ़्रैंकलिनने बुन्देलखण्डके अपने भू-गर्भ-वर्णनमें तीन भागोंमें बाँटा है।[1] उत्तर-पूर्वमें स्थित सीमावर्त्ती कम ऊँची श्रेणियोंको उसने 'विंध्याचलकी पहाड़ियाँ' नाम दिया है। यह श्रेणी केशवगढ़ सिंधु नदीके तटसे आरम्भ होकर कालंजर, विंध्यवासिनी देवीका रूप लेती हुई राजमहलसे आगे गंगानुवर्त्ती बनकर बढ़ जाती है। इसकी ऊँचाई दो हज़ार फ़ीटसे अधिक नहीं है। इसकी रचना बड़ी मनोहारिणी है। हरे गहन वनोंसे आच्छादित ये पर्वत भारतवर्षके मध्यभागको कटिबंधकी भाँति अलंकृत किए हुए है। इसमें विविध प्रकारके हरे रंगके कठिन, लाल रंगके कोमल और चकमकके उपयोगी पत्थर प्राप्त होते हैं। दूसरी श्रेणी पठारके दक्षिणमें है जिसे 'पन्नाकी पहाड़ियाँ' कहा जाता है। यह विंध्याचलके दक्षिणसे आरम्भ होकर उसके समानान्तर चली गई है। इसकी बनावटकी विशेषता बड़े-बड़े और गहरे गार तथा सेहे हैं। शीर्ष भाग तो कम, किन्तु इसके ढाल वृक्ष-लताओंसे पटे हैं। इसकी अधिकतम ऊँचाई १२०० फ़ीट है। बजरी और चकमकके पत्थरोंने इस श्रेणीको अत्यधिक मूल्यवान् बना दिया है। तीसरी तो दक्षिणकी पहाड़ियाँ हैं, जो प्रमुख रूपसे विंध्यकी मौलिक श्रेणियाँ ही हैं। इनके स्थानीय नाम भिन्न-भिन्न हैं जिनमें महत्त्वपूर्ण नाम केवल कैमूर

१. गजेटियर पर उ. प. सीमाप्रांत, भा. १, पृ० ५४

है। पन्ना पर्वत-श्रेणियाँ जहाँ समाप्त होती हैं, उसके सन्निकट ही कैमूर-श्रेणी आरम्भ हो जाती है। इन पर्वतोंके अतिरिक्त बहुतसे स्वतंत्र ऐकांतिक पर्वत हैं, जो यत्र-तत्र समतल सतहपर एकाएक उसी प्रकार शून्य गगनमें उठ गए हैं जैसे समुद्रसे निकलकर पर्वतीय द्वीप झाँकते हैं। बनावटमें ये पिरामिडके आकारके हैं। यद्यपि बहुधा ये स्वतंत्र ज्ञात होते हैं तथापि खोजनेपर इनकी भी एक शृंखला मिल जाती है। ऐसे पहाड़ोंके स्थानीय नाम टौरिया और भटिया अधिक प्रचलित हैं। इन खंडित श्रेणियोंको घाटी भी कहते हैं। अपनी प्राकृतिक विभूति, चित्ताकर्षक सौंदर्य और भव्य तटोंके लिये ख्यात इस प्रकारके पहाड़ोंमें हमेश्वर श्रेणी, अजनर-कुल पहाड़-श्रेणी, मालथौन-श्रेणी, भाँडला-श्रेणी, बटियागढ़-श्रेणी, सुनाड़की घाटी और मयापुरकी घाटी विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रपात

प्रकृति-सुषमाकी इस मनोरम स्थलीने अपने नैसर्गिक शृंगारके लिये न जाने कहाँ-कहाँसे उपादान संग्रह किए हैं। गिरि-मालाओंकी गोदको कल-कल निनाद-कर युगोंसे मुखरित करनेवाले निर्झर बुन्देलखण्डके भावना-विभोर करनेवाले सौंदर्यको अनुपमेय करनेके अक्षय स्रोत हैं। यहाँकी गिरि-सरिताएँ चट्टानोंको तोड़ती हुई जब प्रवाहित होती हैं तब मार्गमें अपनी क्रीड़ा-द्वारा अनेक कौतुक करती चलती हैं। पर्वतोंकी दरी-कन्दराओंसे मार्ग ढूँढ़ती जब ये विपथगाएँ बढ़ती हैं तो कभी-कभी पर्वतकी चट्टानोंसे दो-दो तीन-तीन सौ फ़ीट नीचे शून्यमें झूल पड़ती हैं। ऐसे छोटे-बड़े असंख्य सौंदर्य-राशि जल-प्रपात इस भूमिके वक्षपर अपनी नयनाभिराम कमनीयतासे यात्रियोंको भाव-विभोर किए रहते हैं। कहीं-कहीं तो अत्यंत साधारण नदियों-द्वारा ऐसे अनिर्वचनीय आकर्षणवाले प्रपात बन गए हैं जिनकी समानता करनेवाले निर्झर भारतवर्षमें कम ही हैं।

इन शोभा-धाम प्रपातोंकी सुषमाका निरीक्षण करने लाखों तृषित नेत्र प्रतिवर्ष यहाँ आते हैं और तृप्त होकर चले जाते हैं। अद्भुत है इनका संश्लिष्ट सौंदर्य—नीरव पर्वत-प्रदेश, सतत प्रवाहिनी सरिताकी कल-कल—छल-छल ध्वनि, शीतल-सुखद जल, हरीतिमा बिखेरनेवाले कूलवर्ती पादप-पुञ्ज—फिर उसमें अपने चिरंतन संगीतका अमृत घोलनेवाले निर्झर! वह कौन संसारी है जो पलमात्रके लिये इनपर दृष्टि डालते ही अपनी व्यथा न भूल जाता हो!

यों तो विशिष्टताके कारण ऊँचा स्थान रखनेवाले कई एक प्रपात हैं, किन्तु सौंदर्यकी व्याप्ति और आकर्षणकी बलवती दिव्यताने चचाई प्रपातको निर्झर-मालाका सुमेरु बना दिया है। आधुनिक विंध्य-प्रदेशकी राजधानी रीवाँसे लगभग सौ मीलकी दूरीपर चचाई नामक गाँवको प्रकृतिकी इस अलौकिक देनने अमरता प्रदान कर दी है। इस निर्झरकी रचना बीहर नदीसे होती है। मैहरके समीप अमरपाटन नामक स्थानसे एक साधारण श्रेणीसे बीहर निकलती है। इसका

उद्गम और पर्वतीय यात्रा इतनी उपेक्षणीय है कि किसीको इस बातकी कल्पना भी नहीं हो पाती कि इस क्षुद्र स्रोतस्विनीके क्षीण अंगसे शाश्वत अट्टहास करता हुआ चचाई प्रपात छलक पड़ेगा। केवल निर्झरके पास छोड़कर कहीं भी उसका पाट छलांग-भरसे अधिक विस्तृत नहीं है। अचलाकी कोखमें ३७८ फ़ीट गहराईमें गिरकर जब बीहर अपनी सत्ता समाप्त कर देती है तब उसका महान् उत्सर्ग निर्झरके अभिराम रूपमें मूर्तिमान् हो जाता है।

प्रपातकी पृष्ठभूमि समतल और अनलंकृत है। थोड़ी दूरपर केवल धवईके चारु वन दिखलाई पड़ते हैं। भेड़ाघाटकी पृष्ठभूमिमें भी सादगी है किन्तु संगमर्मरकी चट्टानें झरनेको प्रचुर मात्रामें अपनी कांति भेंट कर देती हैं। किन्तु यहाँ आनुषंगिक सौंदर्यका नाम भी नहीं। यह प्रपात स्वयं अपनी असीम आभासे मनोमोहक दृश्य बिखेरकर चतुर्दिक् लोकरंजन करता है। पाताल-बेध करनेवाला इसका जल जब नीचे गिरने लगता है तब दुग्ध-फेन-सा बन जाता है और वारिकण फुहीके समान उड़ते दिखलाई पड़ते हैं। इसके गम्भीर नादसे एक ओर कठोर पौरुषकी ध्वनि निकलती है तो दूसरी ओर उसके पतनमें विजयकी मर्मस्पर्शी रागिनी। इस प्रपातकी दूसरी विशेषता यह है कि पश्चिमकी ओरसे निर्झरके महाकुण्डतक पहुँचनेका एक मार्ग है। फिर भी पातालके इस महाशून्यमें जाना बड़े साहसका काम है——वनवासी ही जा पाते हैं। चचाई प्रपातकी शोभा अद्वितीय है जिसने न जाने कितने कवियों और कलाकारोंकी कल्पनाको गति प्रदान की है। इन झरनोंका कोई आर्थिक उपयोग अभी नहीं किया जा रहा है। इस दृष्टिसे तो कुछकी महत्ता और भी बढ़ जाती है।

नदियाँ

सहस्रों पहाड़ों, शृंगों, श्रेणियों और दरी-खंदियोंसे भरे होनेपर भी जेजाक-भुक्तिमें नद-नालोंका जाल बिछा हुआ है। अनेक प्रमुख नदियोंके अतिरिक्त उनकी अगणित सहायिकाएँ हैं जो अतुल जलराशिसे उनको भरती रहती हैं। जैसा कि बतलाया जा चुका है, यहाँकी चार सुप्रसिद्ध नदियाँ ही सामान्य रूपसे चारों ओरकी सीमा बनाती हैं किन्तु उसके मध्यमें भी कई विशाल नदियाँ बहती हैं जिनमेंसे कुछ प्रमुखका वर्णन अलग-अलग प्रस्तुत किया जा रहा है।

यमुना

भारतकी सुविख्यात नदी यमुना जेजाकभुक्तिकी उत्तरी सीमापर प्रवाहित होती है। पूरे भू-भागका जल विभिन्न नद-नालोंसे उसमें गिरता है। पयस्विनी, केन, बाघैन, धसान, बेतवा, सिंध और चंबल सभी इसकी सहायिकाएँ हैं। यह नदी न केवल वर्षा ऋतुमें बल्कि वर्षभर नौकारोहणके काम आती है। मैदानसे होकर बहनेके कारण कृषि-कार्यकी दृष्टिसे उसका प्रचुर महत्त्व है। इसकी धार्मिक महत्ता भी सर्वकालीन है। वर्त्तमान जालौन जिलेके पास यह चन्देल-साम्राज्यको स्पर्श

करती थी और अपने दहानेतक सीमा नहीं छोड़ती थी। उसका कछार और तटके करीगादिके उपवन इसकी सौंदर्य-वृद्धि करते हैं। अपने विस्तृत अंकमें इतनी जलराशि पाती हुई भी यह केवल वर्षा ऋतुमें ही मस्तीसे बह पाती है क्योंकि नहरोंने इसे प्रायः श्रीहत कर दिया है। प्राचीन युगमें सैन्य-विनिमयकी दृष्टिसे इसकी उपादेयता बहुत अधिक थी।

बेतवा

यह यहाँकी सबसे लम्बी नदी है जो नर्मदाके तटकी विंध्य-पर्वत-श्रेणीसे निकलती है। संस्कृत साहित्यमें इसे वेदवन्ती या वेत्रवती कहा गया है। प्राचीन समयमें इसे मालवा नदी भी कहा जाता था। स्थानीय लोगोंका विश्वास है कि इसका उद्गम भोपाल के तालसे है। लगभग ४०० मीलकी विषम भूमिपर यात्रा करती हुई यह यमुनामें आकर अपनेको विलीन कर देती है। भेलसा, देवगढ़, चन्देरी आदि कई प्रसिद्ध प्राचीन और ऐतिहासिक नगर उसके ऐतिह्यका उद्घोष करते हैं।

उसकी सहायक नदियाँ अनेक हैं, जिनमें उल्लेखनीय धसान, बीना, नारायण, जामने और बरमान हैं। वर्षामें यह नदी कहीं-कहीं तो अनियंत्रित सागरका रूप धारण कर लेती है और कहीं-कहीं चट्टानोंके सकरे दरी भागोंमें बेबसीके साथ सिमटी ही रह जाती है। इसका भी आर्थिक महत्त्व कम नहीं है।

चम्बल

जेजाकभुक्तिकी सरिताओंमें पश्चिमी सीमा बनानेवाली चम्बल नदीका प्रमुख स्थान है। यह विंध्यकी जनपव पहाड़ीसे निकलती है और साढ़े छः सौ मील बहती हुई यमुनामें मिल जाती है। प्राचीन साहित्यमें इसका नाम चर्मण्वती प्राप्त होता है। चर्मण्वतीको अपने कूलोंपर न जाने कितने राजमुकुटोंकी आरोह और अव-रोहपूर्ण कहानियाँ बनते और मिटते देखनेका अलभ्य अवसर मिला है। वह देशप्रेम, स्वाभिमान, साहित्य और संस्कृतिकी सहायताओं, विदेशी पदाक्रांतिसे उन्मुक्त होनेकी दुर्धर्ष सफल चेष्टाओं तथा शौर्यकी साक्षिणी-रूप आज भी कल-कल ध्वनि कर रही है।

सिंध

इसका उद्गम टोंक राज्यके नैनवाह गाँवमें है। यह भी यमुनाकी सहायिका होकर जेजाकभुक्तिके पश्चिमी भागमें बहती है। इसकी सहायक नदियाँ नन, महुवर और पार्वतीके अतिरिक्त पहूज जैसी बड़ी नदियाँ भी हैं। वर्षाऋतुमें इसका आकार बड़ा भयानक हो जाता है। इसका आर्थिक महत्त्व विशेष नहीं है।

धसान

भोपालके सिरमऊ पहाड़ोंमें इसका उद्गम है। महाभारत-युगसे ही इसके कक्षमें राजधानियोंका निर्माण होने लगा था। इसका प्राचीन नाम वशार्णा था और बहुत

दिनोंतक इसी नामपर इस अंचलका नाम दशान प्रचलित रहा। यह झाँसी जिलेके चँदवारी गाँवके निकट बेतवामें गिर जाती है। वर्षामें तो यह महानदोंका आकार धारण कर लेती है किन्तु ग्रीष्म ऋतुमें इसका प्रवाह अत्यंत क्षीण हो जाता है और लोग पैदल भी इसे पार कर जाते हैं। धसानके दहार बड़े ही रमणीय माने जाते हैं।

केन

नर्मदा और यमुनाकी कूलवर्त्ती भूमियोंको मिलानेवाली प्राचीन साहित्यकी यह कर्णावती कैमूरके पश्चिमी पहाड़ोंसे निकली है। इसका अधिकतर मार्ग—लगभग बाँदातक—पर्वतोंसे होकर गया है। इस बीच प्राकृतिक चित्रपटोंकी रचना, खँदियों और कंदराओंके बीच सिमटकर अत्यंत क्षीण स्वरूप धारण कर लेना, फिर कहीं विपुलकाय हो जाना, कहीं मर्मरके चिरंतन संगीतसे पर्वत-प्रदेशको निनादित करनेवाले लघु और विशाल प्रपात रचना तथा कहीं मीलोंतक उनई हुई अमराइयोंसे किलोल करनेवाली गम्भीर घोषके साथ प्रवहण करती हुई उसकी क्षिप्र धारा—ये सभी नन्दन वनकेसे विन्ध्यप्रदेशकी अमूल्य विभूतियाँ हैं।

वर्षामें यमुनाके जलके भारसे इसमें अधिकतम बाढ़ (बूड़ा) आ जाती है। इस बाढ़से लाभ ही अधिक होता है। पार्श्ववर्ती भूमिपर नवीन उपजाऊ मिट्टी चढ़ जाती है। इस नदीमें अनेक स्थलोंपर नावें चलाई जाती हैं। लकड़ी बहानेका काम भी वर्षाके दिनोंमें लिया जाता है।

पैसुनी

यह लघु सरिता एक ओर तो रामायण-युगीन स्मृतियोंसे भरी है, दूसरी ओर हृदय स्पंदित करनेवाली सुषमाका केन्द्र है। स्फटिक और हरित पत्थरोंपर छलकती हुई इसकी जलधारा किस श्रांत पथिकमें जीवन नहीं डालती ? वर्षभर मुखरित रहनेवाले इसके जल-प्रपात वर्षाकालमें अत्यंत ही मनोहर बन जाते हैं। चित्रकूटका सम्पूर्ण रामचरित इसके ही पावन तटपर हुआ। इसके पयस्वनी और मंदाकिनी नाम अधिक लोक-ख्यात हैं। पाथर कछार राज्यसे ही इसका उद्गम होता है।

बाघैन

इसका उद्गम पन्नाकी एक पहाड़ीसे है और यह यमुनामें ही अपना जल प्रवाहित कर देती है। कालंजरका प्रसिद्ध शैल इसके ही निकट है। इसकी धारामें कभी-कभी हीरे प्राप्त हो जाते हैं। सम्भवतः इसी आधारपर इसका स्थानीय नाम रत्नगर्भा भी है। यह नदी नाव्य भी है। यह छोटी तो है किन्तु इसका आर्थिक महत्त्व अधिक है।

नर्मदा

इसकी गणना भारतकी सात पवित्र नदियोंमें है। यह जेजाकभुक्ति साम्राज्यकी दक्षिणी सीमा बनाती थी। अमरकंटक पर्वतसे निकलकर गहन पर्वतों एवं जंगलोंमें मार्ग बनाती हुई यह पश्चिमी घाटपर समुद्रमें मिल जाती है। इसका सम्पूर्ण मार्ग

ही प्राकृतिक सौंदर्य-राशिसे सजा है किन्तु भेड़ाघाट—जबलपुरसे ३० मीलपर—जैसे स्थानोंका दृश्य इस देशमें अद्वितीय है। यह महानद इस देशको दो विभागोंमें विभाजित करता है। इसकी अनेक सहायक नदियाँ—जैसे परियात, फलकू, गौर, विरंज, सिंधौर और हिरन—जेजाकभुक्तिके कुछ दक्षिणी भागका जल लेकर इसीमें मिलती हैं।

इन प्रमुख नदियोंके अतिरिक्त पूर्वी सीमापर सोनभद्र है। भीतरी भागमें सुनाड़, बेबासा, उर्मल, तमसा, वेणा, वैतरणी आदि नदियाँ हैं, जो कम महत्त्वकी नहीं हैं।

उपर्युक्त वर्णनसे स्पष्ट प्रकट हो रहा है कि पर्वतों एवं वनोंसे आच्छादित यह देश अनेक नदियोंसे भरा पड़ा है। इन मुख्य नदियोंकी अगणित सहायिकाएँ—बड़े-छोटे पहाड़ी नालोंके रूपमें जाल-सी बिछी हैं। वर्षा होते ही थोड़े समयके लिये सभी मिलकर स्वाभिमानी एकराट्सी बन जाती हैं। केवल बुन्देलखण्डी नावें ही उनका मान-मर्दन कर पाती हैं। फिर पानी उतरते ही वे श्रीहीन हो जाती हैं। यहाँकी नदियोंका रूपांतरित होनेवाला जीवन जितना विस्मयकारी यहाँ है, उतना अन्यत्र नहीं। यों तो अल्प रूपमें सभी नाव्य हैं किन्तु व्यापारिक नावें केवल केन और धसानमें कुछ चलती हैं। जैसा कि संकेत किया गया है, सिंचाईके लिये इनका कोई उपयोग नहीं है। अब विद्युत् शक्तिके सहारे उनके उपयोगका क्रम आरम्भ हो रहा है। हाँ, बाढ़ोंसे पासकी भूमि उपजाऊ अवश्य बन जाती है।

ढाल

नदियोंकी सहज प्रवाह-दिशाएँ इस बातको स्पष्ट करती हैं कि केवल टोंस और नर्मदाको छोड़कर समस्त नदियाँ सामान्य रूपसे दक्षिणसे उत्तरकी ओर बहती हैं और यमुनामें मिल जाती हैं। इससे यह प्रकट हुआ कि जेजाकभुक्तिका ढाल दक्षिण-पश्चिममें उत्तर-पूर्वकी ओर है।

झील और सरोवर

जालकी भाँति फैले हुए जलस्रोतों और नदियों तथा मैदानोंमें प्रकृति-निर्मित कुल्याओंके रहते हुए भी यहाँ सिंचाईकी समस्या महत्त्वपूर्ण ही बनी रही। उसकी पूर्त्ति झीलों और सरोवरोंने की। किन्तु भूमि इतनी अधिक ढालू है कि विशालकाय सरोवरों और झीलोंकी नैसर्गिक रचना यहाँ सम्भव ही नहीं है। यही कारण है कि यहाँके शासकोंने अगणित संख्यामें आश्चर्यजनक आकार-प्रकारकी झीलें एवं सरोवर बड़ी निष्ठासे और लाखों रुपये व्यय करके बनवाए। चन्देल शासकोंने पहले-पहल इस महत्त्वशाली रहस्यको समझा और ऐसी कृतियोंसे सारे साम्राज्यको विभूषित कर दिया। गहरवारों और बुन्देलोंने भी इसका अनुसरण किया किन्तु चन्देलोंने इतनी अधिक संख्यामें झीलें बनवाई कि उनकी अमिट छाप आज भी प्रत्येक विंध्यप्रदेशवासीपर अभिनव है। चन्देलोंके सरोवर अपेक्षाकृत अधिक टिकाऊ और वैज्ञानिक हैं।

प्राकृतिक कुल्याओंका, जिन्हें यहाँवाले 'पुखरियाँ' कहते हैं, कोई आर्थिक महत्त्व नहीं है क्योंकि गर्मियोंमें वे जल-हीन हो जाती हैं। किन्तु अमराइयों, घने वनों और हरे-भरे विटपोंके बीच उनकी स्थापना प्रकृति देवीकी महनीय देन है। वर्षाकी झड़ी लगी नहीं कि उनके जल-पूरित अंक और कूल बनफशे और कुमुदिनीके रंग-बिरंगे फूलोंसे डहडहा उठते हैं—कश्मीरकी घाटियाँ स्मृति-पटलपर आ जाती हैं। पुरइन (मुरार), किसुरवा, बहेरी, मँसेड़ी, कमलगट्टा और जलभटा आदि विविध वितानोंकी हरीतिमासे वह अंक सुन्दर बन जाता है। वर्षाकी बुढ़ाई आते-आते बहुरंगी पक्षियोंका समूह उन कुल्याओंमें आकर डेरा जमा लेता है जिनमें सारस, मुर्गाबी, बत्तख, पिड़ी, मुरेला, राजहंस, छपका, पनडुब्बी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं जिनका समवेत दृश्य बड़ा ही नयनाभिराम प्रतीत होता है और आखेट-प्रिय व्यक्तियोंके जीवनका बड़ा सहारा हो जाता है।

इस भू-भागमें बड़ी नदियों-द्वारा अत्यंत ही मनोहर दहारें बन गई हैं। ये दहारें कहीं-कहीं तो प्राकृतिक झीलोंके सौंदर्यको लज्जित कर देती हैं। बेतवा, केन और धसानकी दहारें दर्शनीय हैं। इन दहारों और नैसर्गिक कुल्याओंकी छटाका रूपदर्शन निःसन्देह अन्यत्र दुर्लभ है। इनमें नौका-विहार और जल-क्रीड़ा करना लोकोत्तर आनन्दका एक सहज उपादान है।

जैसा कि पहले संकेत किया गया है, ये झीलें यहाँके कामके लिये अत्यंत ही अपर्याप्त हैं। अस्तु, शासकोंने अगणित संख्यामें विपुलकाय जलाशयों एवं तालाबोंकी रचना कराई। इनकी रचनाका उद्देश्य प्रधानतया तो जलसंग्रह ही था क्योंकि यहाँकी विषम भूमि और पठारी प्रकृतिके कारण प्रायः थोड़ी अनावृष्टिसे भी जलका दुर्भिक्ष पड़ जाता है। इनसे खेती समृद्ध करनेमें भी सहायता ली गई। किन्तु इनका लक्ष्य धार्मिक और सामाजिक विनोद भी था। उन्हें ऐसी महान् कृतियाँ करनेकी बलिष्ठ प्रेरणा उनकी आध्यात्मिक पृष्ठ-भूमिने ही प्रदान की। फलतः करोड़ों रुपये नरपालोंने इसपर उदारतासे व्यय किए।

पर्वत-आगारों, दरी-कंदराओं तथा विषम भूमिके इस देशमें सागर-तुल्य सरोवरोंकी रचना उतनी दुष्कर नहीं थी। यही कारण है कि छोटे-बड़े आकारमें कल्पनातीत संख्यामें इतने सरोवर बना दिए गए हैं कि उनकी गणना भी सम्भव नहीं। वहाँ कोई भी ऐसा ग्राम न मिलेगा जहाँ एक-दो सरोवर न वर्त्तमान हों। कहीं-कहीं तो राजाओंने जल-संचयके लिये घाटियोंके नीचे कूल बँधवाकर, सुविस्तृत जलराशिके लिये आगार बनवा दिए हैं। इनमें केवल दो-चार अत्यंत प्रसिद्ध जलाशयोंके नाम यहाँ उल्लिखित किए जा रहे हैं—

महोबाके पड़ोसमें विजय-सागर, मदनसागर, कीरत-सागर, बेलाताल, रहिलिया और कल्याण-सागर अपनी भव्यता और अनुपमेयताके लिये प्रख्यात हैं। झाँसी जिला भी सरोवरोंसे भरा पड़ा है। उनमें बरुवा-सागर, कचनेह, अरजार, धौरी-सागर और बकशी-ताल अपनी विशालताके लिये सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। वीर-सागर, यशसागर, मदनसागर (ओरछा राज्य), नन्दरवार-सागर, बेनीसागर, लोकपाल-

सागर, जैसागर, विजैसागर, शिवसागर, कुसुमसागर और जगतसागर आदि सभी अक्षय कीर्तियाँ हैं। दरहट, पहरा, उरवार और पावा सरीखे झीलोंकी संख्या तो गणनाके बाहर है।

इनका गौरव विशेष रूपसे महोबाके चन्देल शासकोंको ही है, जिनकी ऐतिहासिक चर्चा अगले अध्यायोंमें की जायगी।

मिट्टी

इस भू-भागकी बनावटका सामान्य रूप उपस्थित किया जा चुका है। जो भाग पहाड़ी, पठारी नहीं हैं और जहाँ वनोंकी गहनता नहीं है, वहाँ खेतीके योग्य भूमि है। रचना और प्रकृति-भेदसे ऐसे स्थानोंकी मिट्टी कई प्रकारकी है। केवल कुछ प्रमुख प्रकारोंका ही उल्लेख यहाँ किया जायगा।

उत्तरके निचले भागोंकी मिट्टी भी कई प्रकारकी है। यहाँकी मिट्टी साधारण रूपसे काली है। प्रकृति-भेदसे काली मिट्टी भी दो प्रकारकी है—मार और काबर। मारमें कुछ उजलेपनकी झलक होती है। उर्वरताकी दृष्टिसे यह सर्वोत्तम है। इसीका एक भेद रौंनीमार है। उसमें काले-काले कण भी होते हैं—यही विशेषता है। काबर तो एकमात्र काली मिट्टी है। काली मिट्टी जैसे वर्षा होते ही पंकिल हो जाती है, वैसे ही गर्मी पड़ते ही चट्टान-सी कठोर हो जाती है।

व्याप्तिकी दृष्टिसे इस देशकी दूसरी मिट्टी पीले रंगकी है जिसे पँडुवा कहते हैं। यह कड़ी होती है। स्थिति-भेदसे इसके बलुवा, भाट, गरौटी और ऊसर भेद भी देखनेको मिलते हैं। पँडुवाकी दूसरी श्रेणी भी होती है, जो कुछ कोमल और कम भारी होती है। इसमें भूरापन मिला होता है। पँडुवा प्रकारकी मिट्टी अधिकतर पूर्वी भागमें मिलती है।

दक्षिणी पठारी भागकी मिट्टी अधिकतर कँकरीली है, इसीलिये इसका स्थानीय नाम भी राँकड़ पड़ा है। इसका वर्ण लाल होता है। इसकी भी दो श्रेणियाँ हैं। प्रथम श्रेणीकी राँकड़में सूक्ष्म और महीन पत्थरके रोड़े होते हैं। दूसरी श्रेणीकी राँकड़में बड़े-बड़े पत्थर-कण होते हैं, ललाई अधिक होती है तथा विशुद्ध मिट्टीका अंश कम होता है। दो पर्वत-श्रेणियोंके बीचकी भूमिको दौन कहा जाता है। लालवर्णकी मिट्टी उपजाऊ और नमी-प्रधान होती है। जूनके महीनेमें भी इसमें चार फ़ीटतककी गहराईमें नम मिट्टी प्राप्त होती है।

उपज और बनावटकी विशिष्टताकी दृष्टिसे कछारकी मिट्टी महत्त्वकी है। इसीका एक भेद तरीताल भी कहलाता है। ऐसी भूमिका विस्तार कुल्याओं, झीलों, सरोवरों और तलैयोंके सूखनेपर निकली पेटियोंतक ही है। नदियोंके उतरनेपर जो भूमि निकलती है उसे कछार कहा जाता है। इन दोनोंमें बालूका मिश्रण होता है परन्तु इनमें उपज अधिक होती है और श्रम कम लगता है। यमुनाका कछार अधिक महत्त्वका है। खेतीके योग्य भूमिके ये ही प्रकार हैं।

यहाँ सिंचाईकी भी आवश्यकता पड़ती है। प्रशस्त साधनोंके अभावमें लोग बेंड़ी, बंक, छपा, डोड़ी और दुगलासे सरोवरोंका पानी चलाकर रबीकी सिंचाई करते हैं। चरसाका प्रयोग भी बड़ा लोकप्रिय है।

जलवायु

मानव-जीवनकी रचना, स्वभाव, प्रवृत्ति तथा मान्यतापर स्थान विशेषके जलवायुका सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। अतः जलवायुकी विशेषताओंके अध्ययनमें अधिक सतर्कताकी आवश्यकता है। देशका यह भू-भाग स्थितिकी दृष्टिसे कर्करेखाके उत्तरमें पड़ता है। अधिक भाग समशीतोष्ण कटिबन्धमें पड़ता है। किन्तु भू-स्थितिके कारण जिस जलवायुकी आशा की जाती है, वह यहाँकी प्राकृतिक बनावटके वैचित्र्यसे बहुत प्रभावित हो जाती है।

पठार और पर्वतोंका देश होनेके कारण यहाँ ग्रीष्ममें तापमान बढ़ जाता है। सामान्य तापक्रम अधिकतम अंशतक पहुँच जाता है और झुलसा देनेवाली लूकी झकोरें भी चलती हैं। यहाँ समस्त वानस्पतिक वैभव न केवल सिहर उठता है, बल्कि सूख जाता है। कुछ भाग तो बहुत मनहूस-सा दीखने लगता है। किन्तु यह दशा अत्यंत ही अल्पकालीन होती है। पूर्वी भागमें गर्मी अपेक्षाकृत अधिक पड़ती है। उत्ताप असह्य हो जाता है। मध्यवर्त्ती भागका जलवायु सबसे अधिक शुष्क है—इसका कारण पठारकी बहुलता ही है। पश्चिमी भागका जलवायु भी शुष्क ही है, किन्तु मध्यवर्त्ती पठारी भागसे कुछ कम, जो स्वास्थ्यके लिये बड़ा ही उपयोगी है।

यहाँका शीतकाल भी यहाँकी प्राकृतिक दशासे प्रभावित होता है। पूस और माघके महीनोंमें जाड़ा अत्यधिक हो जाता है। जाड़ेका प्रातःकाल कष्टकारक होता है। कहीं-कहीं हिम भी जम जाता है। साधन-हीन एवं दीन व्यक्तियोंके लिये ये दिन कठिन हो जाते हैं।

समुद्र-तटसे इस भू-भागकी दूरी अधिक है। यहाँके पर्वत भी इतने ऊँचे नहीं हैं कि मानसूनको रोककर गहन वर्षाका उपादान प्रस्तुत कर सकें। यही कारण है कि यहाँकी औसत वर्षा ३० से ४५ इंचतक है। एक मध्यवर्त्ती मार्गमें होनेके कारण दोनों तटोंका—बंगालकी खाड़ी और अरब सागरका—मानसून यहाँ पहुँच जाता है। यहाँ अधिकांश वर्षोंमें न्यून वर्षा ही होती है। सभी ऋतुओंमें वर्षा और शरद् ऋतुएँ मानों सौंदर्यकी धात्री हैं। इस महीका प्रत्येक खण्ड निराली शोभाका स्रोत हो जीवन लुटाने लगता है। जाड़ोंमें यहाँ वर्षा नाममात्र को होती है।

स्वास्थ्यके ऊपर यहाँके जलवायुका सामान्यतया उत्तम प्रभाव पड़ता है। किन्तु बाहरी लोगोंकी धारणा इसके विपरीत है, जो अवास्तविक समझनी चाहिये। देशकी सार्वभौम बीमारियोंके अतिरिक्त कोई स्थानीय रोग यहाँका नहीं है। केवल एकाध स्थल ही ऐसे हैं, जहाँका जलवायु अस्वास्थ्यकारक कहा जा सकता है। ऐसे स्थल बेतवंतीके किनारोंपर हैं।

भारत वर्ष
चन्देल साम्राज्य का
उत्कर्ष
सन ८५० ई॰ से सन ११०० ई॰
साम्राज्य सीमा
काबुल
गजनी
कान्धार
दिल्ली
राजपूताना
प्रतिहार
कन्नौज
जौनपुर
देवल
ग्वालियर
खजुराहो
चालुक्य
नर्मदा
ताप्ती
सोमनाथ
देवगिरि
राष्ट्रकूट
कृष्णा
मदुरा
सिंहल
आसाम
ब्रह्मपुत्र
पाल
अंग्रेजी मील
0 100 200 300 400
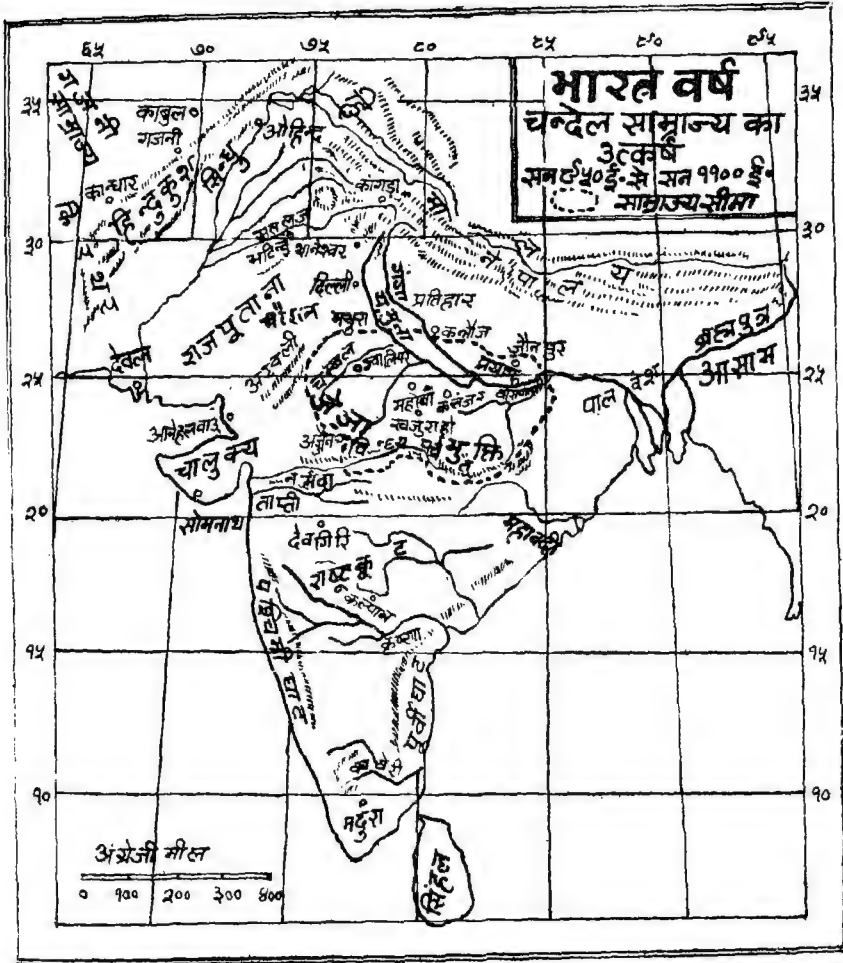
वनस्पति

यहाँकी प्राकृतिक बनावटका यहाँकी वनस्पतियोंपर गहरा प्रभाव है। सारा देश ही वन-वितान, द्रुम-लताओंसे पटा है। यदि व्यापक रूपसे दृष्टि-निक्षेप करें तो एक ओर अमराइयों और उपवनोंसे भरे मैदान मिलेंगे; दूसरी ओर विविध सौंदर्यसे लदे हुए वन, उनकी बाहरी सीमापर हरी-हरी गोचर भूमि, फिर विरल होते गये द्रुम-पुञ्ज और उन्हींमेंसे झाँकते हुए पुर और गाँव। थोड़ा अन्यत्र दृष्टि विस्तार करें तो नभमें उन्नत मस्तक किये हरित पट-वेष्टित पर्वत मिलेंगे; जो ऐसे लगते हैं मानो किसी अतीत-गौरवकी यश-पताका फहरा रहे हों।

यहाँकी वनस्पतिका प्रधान स्वरूप जंगल है। समस्त वसुन्धरा वनाच्छादित है—कहीं सघन, कहीं विरल। इस प्रदेशका उत्तरी भाग वनाच्छादित नहीं है, परन्तु स्वतः उत्पन्न होनेवाले विविध पादप-समूह बहुतायतसे मिलते हैं। मैदान बबूलके पेड़ोंसे भरे दिखाई पड़ते हैं। कहीं-कहींपर झरबेरी, छेवला (पलाश) और घटियाके पेड़ परती भूमिमें फबते हैं। उनके साथ ही झाड़ियाँ और गुल्म उनकी विरलताको दूर करते हैं।

जंगलका मूल भाग पर्वतों अथवा उनसे संलग्न भागोंपर फैला हुआ है। पर्वतीय भाग नाना प्रकारके वृक्षोंसे ढका हुआ है। इन वनोंमें साल, सागौन, तेंदू आदि विशेष उपयोगी वृक्ष उपलब्ध होते हैं। खैरके पेड़ भी प्रायः पर्वतोंके वनोंमें बहुतायतसे प्राप्त होते हैं। पर्वतीय अथवा मैदानी जंगलोंके फलदार वृक्षोंमें चिरौंजी, सीताफल, खजूर, बेर, गूलर, कपूर, मुनगाके पेड़ अधिक महत्त्वके हैं। नदियोंके तटोंपर विशेष प्रकारके वृक्षोंके जंगल प्राप्त होते हैं। मध्यवर्त्ती भाग एक विशेष प्रकारके बाँसकी उपजके लिए विख्यात है। इन उपयोगी वृक्षोंके अतिरिक्त निम्न कोटिके भी अनेक प्रकारके वृक्ष इन गहन वनोंमें पाये जाते हैं, जिनका यहाँके आर्थिक जीवनपर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। गोंदका लोवान तैयार करनेके लिए सलैया काममें आता है। हलदू, सिहारू, स्यासा, जामुन, चिल्ला, दुधी आदिकी लकड़ियाँ भवनोपकरणके काम आती हैं।

वानस्पतिक उपजमें दूसरी श्रेणी झाड़ियों और नैसर्गिक जंगलोंकी है। झाड़ियोंमें तो काँटेदार और निम्न कोटिके वृक्ष पाये जाते हैं। करोंदा, रियाँ, माहुल, इंगौट, चमरेल, झरबेरी, मकुइया, बिड़ार और इंगुवाके पादप ऐसे संश्लिष्ट रूपसे उगे रहते हैं कि उन्हें देखते ही बनता है। इनपर बल खाती हुई फैली हुई लतायें मानों उन्हें आवरण पहनाती हैं। यहाँके नग्न पर्वतों और चट्टानोंसे संघर्षकर अपने अस्तित्वसे प्रदेशको हरा-भरा रखनेमें ये झाड़ियाँ बड़ी उदार हैं। कहीं-कहीं तो उदास प्रांतरोंसे ऊबे हुए विश्रांत नेत्रोंको मीलोंके पश्चात् इन्हीं झाड़ियोंसे विश्राम मिलता है।

इनके अतिरिक्त यहाँके वनों और मैदानोंमें प्राप्त होनेवाले सैकड़ों वीरुध, लताएँ और वृक्ष हैं जिनकी चर्चाका यहाँ अवकाश नहीं है। कल्लू, केमा, बेंकल,

बेरी, जमरासी, करारी, चिरोल और धवा कहीं विरल तो कहीं गहन रूपमें पाये जाते हैं। अशोक, कदंब, गुंजा, काफड़ अपने सौंदर्यके लिए लोकप्रिय हैं। उन जंगलोंमें नाना प्रकारकी जड़ी-बूटियोंके अतिरिक्त ओषधिके काममें आनेवाले भी अनेक वृक्ष बहुत बड़ी संख्यामें पाये जाते हैं। हर्रे, बहेड़ा, और आँवलेके तो बड़े-बड़े जंगल ही होते हैं। वन-जीवन और मैदानोंको समानतः अलंकृत करनेवाले महुएके पेड़ यहाँ बहुत पाए जाते हैं। ढाकके तो विशाल जंगल ही पाये जाते हैं। यहाँके पेड़ोंमें ढाक या पलाश चतुर्दिक् पाया जाता है।

यहाँकी वानस्पतिक सुषमाको पराग और रूप-दानसे ऐश्वर्य प्रदान करनेमें सहस्रों प्रकारके कुसुमोंका बड़ा हाथ है। ये कुसुम ऋतुओंके अनुरूप कुसुमित होते रहते हैं और बिना मूल्य ही लावण्य लुटाया करते हैं और जब वसंत बगरता है तब तो प्रकृतिके ऊपर हुडुवा अपना लाल बुक्का उड़ाने लगता है, कचनार जगमगाते आभूषणोंसे उसके शृंगारकी तैयारी करने लगता है, गबदूके मधुर सौरभके साथ जैसे फुलेलका छिड़काव करनेके लिए गंधवाह चल पड़ता है, किरवारा चट अपने छिटकते रम्य रूपको बटोरकर उस सुषमाको ढकनेके लिए वस्त्र डालने लगता है और सहस्रों सरोवरोंसे श्वेत-रक्त-नीलाम्बुज उस मुग्धाकी स्मित रेखा खींचने लगते हैं। केवड़ेका उन्मत्तकारी गंध चतुर्दिक् मादकता प्रकीर्ण करके वसंतकी मस्ती जन-जनमें भरता है। हर्रासगार, टेसू, कैमा, धवई और करौंदेके फूलोंकी कांतियाँ महोत्सवमें हास-परिहाससे आह्लाद उत्पन्न करती हैं। घुमची, देउलदार, परोर तथा सुलफनकी बेलियाँ अपने बहुरंगी वितानका चँदोवा बनाकर उसको गृह-प्रवेशके लिए आमंत्रण देने लगती हैं और वे गगनचुम्बी सेमर! वे तो जैसे उसके आगमनकी प्रतीक्षामें लाल बन्दनवारोंसे शोभा-यात्राके बहुमूल्य उपादान लिए खड़े रहते हैं। जेजाकभुक्तिको यदि उस समय कोई देखे तो वह उसे बरबस फूलोंका देश ही कह देगा।

ऊपर कहा जा चुका है कि वनप्रदेशकी सीमापर सुविस्तृत चरागाह और घासके लंबे मैदान प्राप्त होते हैं। साधारण वनकी भूमि भी नाना प्रकारकी घासोंसे आच्छादित है। ये घासें पचीसों प्रकारकी हैं। उनके स्थानीय नाम भी हैं—पखा, कैला, मुसेल, गुनैया, रोहस, दूब, लियासा, पनबसा, पंडप, तिगुड़ा और लंपा प्रायः फैलनेवाली घासें हैं। काँस, सरका आदि लंबी उपजवाली घास हैं। मकोर और झरबेरीको तो काटकर सुखा लिया जाता है और भविष्यके चारेके लिए रख दिया जाता है।

प्राकृतिक छटाके अतिरिक्त इन चरागाहों और घासोंका आर्थिक मूल्य भी बहुत है। लाखों पशु इसमें पलते रहते हैं। इसीलिए पशु-पालन यहाँ अत्यंत सरल और सुसाध्य है। किन्तु जो सुन्दर चरागाह हैं उनकी भी सुव्यवस्था अभीतक नहीं है। जो थोड़ी बहुत सरकारी व्यवस्था है भी, वह अपर्याप्त और ढीली है। भारत सरकारके सैनिक विभागके लिए उत्तम घासोंका निर्यात यहाँसे ही होता है। खेद है कि यहाँकी

इन घासोंकी अपरिमित सम्पत्तिका कोई भी औद्योगिक उपयोग नहीं किया जा रहा है। यद्यपि यहाँ क़ाग़ज़के बड़े-बड़े कारखाने चलाये जा सकते हैं। मुसेला जातिकी घास तो इस दृष्टिसे अत्यधिक मूल्यवान् है।

उपज

नैसर्गिक उद्‌भिजोंसे यहाँके निवासियोंके जीवनका सौख्य अवश्य बढ़ता है परन्तु उनकी जीविकाका प्रमुख आधार तो खेती ही है। इसीपर अधिकांश जनोंका जीविकोपार्जन होता है। किन्तु गंगा-यमुनाके दोआबकी भाँति कृषि यहाँ नहीं होती। अच्छे अन्नोंकी उपज तो यहाँ बहुत कम होती है। पर्वतोंकी घाटियोंमें कुछ ही भूमि ऐसी है, जहाँ नमीकी रक्षा करके सिंचाईके बिना भी रबीकी फ़सलें काट ली जाती हैं।

यहाँकी उपज तीन श्रेणियोंमें विभक्त की जा सकती है। शरद् ऋतुमें कटनेवाली फ़सलको, जिसका कृषि-कार्य आषाढ़में ही आरम्भ हो जाता है, ख़रीफ़ या स्यारी कहते हैं। वसंतमें कटनेवाली फ़सलको रबी या उन्हारी कहते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अतिरिक्त फ़सलें भी होती हैं, जो उन दोनोंसे बचे समयमें उत्पन्न की जाती हैं। स्यारीकी साधारण भूमि दो-तीन वर्षतक यों ही छोड़ देनी पड़ती है, क्योंकि लगातार क्वाँरी फ़सलोंका होना सम्भव नहीं। इस समय उत्पन्न होनेवाले अनाजोंमें मुख्यतः ज्वार, मूंग, उड़द, कोदों, राली, कुटकी, काकुन, मोंठ और रोंसा है। तालाबोंमें और उनके सन्निकटकी निम्न भूमियोंमें धानकी खेती अच्छी होती है किन्तु धान साधारण श्रेणीके ही होते हैं। कोदोंकी उत्पत्तिकी बड़ी प्रधानता है। लगभग ६० प्रतिशत जनताका भोजन इसीके आश्रित रहता है। इसे लोग रोटी और चावल दोनों विधियोंसे खाते हैं।

रबीकी फसल यहाँ मोटी भूमि, बंधी, कछार, तालाबसे निकली भूमि तथा उन स्थानोंपर होती है जहाँ कूप आदिसे सिंचाईका प्रबंध सुलभ है। रबीपर लोग अधिक निर्भर नहीं रहते। इसकी फ़सलोंमें गेहूँ, चना, पिसी (गेहूँकी एक जाति) और मटर विशेष होते हैं। जौ, अरहर और कुलथी आदि भी साधारण रूपसे हो जाते हैं।

कुछ अतिरिक्त फ़सलोंमें यहाँ चीना, गन्ना, खरबूज-तरबूज, मूंग बोकर लोग निर्वाह करते हैं। उन्हीं फसलोंके साथ तालाबोंके पेटमें पानीसे रिक्त भागमें एक विशेष धान बो लेते हैं जिसे जिठऊ धान कहते हैं। कपास और सनकी उत्पत्ति भी होती है। कुल्याओं आदिमें सिंघाड़ेकी खेती भी अधिक की जाती है।

तेल देनेवाले बीजोंकी उत्पत्ति भी आर्थिक दृष्टिसे कम महत्त्वकी नहीं है। बहुत अधिक मात्रामें होनेवाली है रमतिला (जगनी), तिल्ली, सरसों, अलसी, अरंडी और महुयेका फल (गुली)। गुलीका तेल खाने, शरीरमें लगाने तथा जलानेके काममें लाया जाता है।

प्रकृतिने यहाँ जो नाना प्रकारके वृक्ष और पौधे उत्पन्न किये हैं, उनमेंसे बहुतोंका रासायनिक प्रयोग भी होता है। जड़ों, पत्तों और फूलोंसे रंग तैयार किये जाते हैं। कुसुम, हर्रासगार, सिहारू, टेसू, धवई, नौती और आलसे रंग बनाये जाते हैं। यद्यपि अब यह कार्य नहीं होता फिर भी नीलसे कुछ रंग बना ही लिया जाता है। विदेशी रासायनिक रंगोंकी प्रतियोगितामें यह उद्योग पंगु हो गया है। यदि इसके निमित्त राष्ट्रीय प्रयास हो तो एक विशाल उद्योग पुनर्जीवित किया जा सकता है।

बुन्देलखण्डकी एक मुख्य उपज पान है। यहाँ कई स्थानोंपर तो लोग इसकी ही कृषि करते हैं। हमीरपुर और छतरपुरके जिलोंमें इसके केन्द्र हैं। इसका व्यापार उत्तरी भारतके कई प्रमुख नगरोंसे होता है। यों तो पानके अनेक भेद होते हैं किन्तु बिलहरी, कपूरी और बँगला ही अधिक स्वादिष्ट और लोकप्रिय होते हैं।

पशु-पक्षी

प्रकृति-रचना, वानस्पतिक भिन्नता, तथा वन और पर्वत-मालाओंके संयोगके कारण यह प्रदेश वन-पशुओं, पक्षियों और विविध जन्तुओंका एक सुन्दर संग्रहालय बन गया है। दुर्गम पर्वतों, गहन वनों और नदियों-नालोंके शीतल कगारोंने हिंस्र पशुओंको आश्रय दिया है। हिंसक पशुकी कई जातियाँ प्राप्त होती हैं। बड़ा सिंह तो यहाँ नहीं होता किन्तु नाहर (शेर) घने जंगलों, पहाड़ों और नालोंके सहारे पड़े रहते हैं। मैदानोंकी ओर उनके दर्शन संयोगवश ही होते हैं। ये अधिकतर केन, पहूज, बेतवा, धसानके तटवर्त्ती गहन वनोंमें रमते रहते हैं। इसे 'बनराज' भी कहते हैं। इनकी संख्या दिन-प्रति-दिन कम होती जा रही है।

तेंदुवा तो हिंस्र पशुओंमें सबसे अधिक घातक और उच्छृंखल होता है। सामान्य पशुओंपर इसका धावा दूसरे-तीसरे होता रहता है। गाँवोंमें इसका निशा-प्रवेश प्रायः ही होता रहता है। स्थानीय नाम इसके करौंयच और लकड़बग्घा भी हैं। प्रत्येक जंगल अथवा प्रांतरके सुनसान स्थलोंमें इसका निवास रहता है। अजयगढ़ और चंदेरीके समीप चीतोंका समूह पाया जाता है। भालू भी यहाँके वनोंमें पाये जाते हैं। यहाँके लोगोंमें यह रीछ नामसे जाना जाता है। इसका आर्थिक उपयोग भी है—इसके बालसे उत्तम ब्रश बनते हैं। छोटी श्रेणीके हिंसक जीवोंमें यहाँ गीदड़, बिगना, सुनकुत्ता (सोनहा), सुवर, सेही, चरखरा, भेड़िया आदि हैं। इन जीवोंका आखेट करनेमें सहस्रों व्यक्ति लगे रहते हैं।

वन-पशुओंमें दूसरी श्रेणी उन पशुकी है जो हिंसक नहीं हैं। ये वनकी शोभाके रूपमें विचरते आपको दृष्टिगत होंगे। हिरण, नीलगाय या रोझ, छिकरा, साँभर, चीतरा और चौसिंगा भेड़िये झुण्डके झुण्ड पर्यटन करते पाये जाते हैं। अन्य जंगली पशुओंमें लंगूर, बंदर, चमगीदड़, खरगोश, लोमड़ी, नेवले बड़ी संख्यामें होते

है। दंशक जीवोंमें नाना प्रकारके सर्प बिच्छू, गोह, गोहराका इस पहाड़ी देशमें बाहुल्य है।

आजकल यहाँके जंगलमें हाथी नहीं दिखाई पड़ते। किन्तु कुछ ही शताब्दि पूर्वतक हाथियोंके मिलनेके प्रमाण इतिहासमें उपलब्ध होते हैं। चन्देरी और नरवरके वनोंमें हाथी रहते थे। बादशाह यहाँ आकर शिकार खेला करते थे। अबुलफ़जलने लिखा है कि पन्नामें सर्वोत्तम हाथी होते थे। अकबर स्वयं कालपीमें हाथीका शिकार खेलने आया था—आईन-ए-अकबरीमें इसकी चर्चा आई है। पन्ना राज्यमें हाथियोंके निवास करनेके वर्णन अन्यत्र भी प्राप्त होते हैं। उन्नीसवीं सदीतक यहाँ हाथियोंके मिलनेका प्रमाण मिलता है।

जलचर पशुओंको भी यहाँ बड़ा सुन्दर आश्रय प्राप्त है। सरोवरों, बावलियों, झीलों, तालाबों और नदियोंमें नाना प्रकारके जीव विहार करते रहते हैं। कछुवे, मगर, घड़ियाल, सूस, ऊदबिलाव और अन्य नाना प्रकारके जीव पाये जाते हैं। उनमें कुछ दंशक और कुछ हिंसक भी होते हैं। जलचरोंमें खाद्य जीव मछली है। इसका यहाँ बड़ा विकास हुआ है। यहाँकी कुछ जातियों—धोंवर, केवट आदिकी जीविका ही इनपर निर्भर है। अनेक प्रकारकी मछलियाँ यहाँ पाई जाती हैं।

पालतू पशुओंके लिए यहाँ साधनोंकी जितनी प्रचुरता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। परन्तु ऐसे प्रचुर साधनोंका यहाँके निवासियोंने कोई लाभ नहीं उठाया है। घरेलू पशुओंकी जातियाँ बिल्कुल उपेक्षित हैं। गोवंशकी दशा तो बड़ी ही दयनीय है। यहाँके प्रायः सभी परिवारोंमें गो-समूह पाला जाता है परन्तु उसी स्थानीय वंशका। यहाँकी गायें दूध बहुत कम देती हैं। बैल भी बड़े और अच्छी जातिके नहीं होते। परन्तु वहाँ बैलोंकी कुछ विशेष प्रकारकी जातियाँ मिलती हैं। क्यानियाँ जातिके बैल यहाँ सर्वोत्तम माने जाते हैं। ये केन नदीके समीपवर्त्ती स्थानोंमें होते हैं। इसी जातिसे प्रभावित बैल प्रायः यहाँ चारों ओर प्राप्त होते हैं। मजोला जातिके बैल पहाड़ी भागमें अधिक चुने जाते हैं, क्योंकि ये शीघ्र थकते नहीं। अगासिया बैल भी देखे जाते हैं, जिनका एक सींग नीचे और एक ऊपर होता है। अब जहाँ-तहाँ अच्छी जातिके साँड़ काममें लाये जाने लगे हैं।

दूसरे घरेलू पशुओंमें घोड़ा है—यह भी उत्तम कोटिका नहीं होता। अच्छे घोड़े बाहरसे मँगाये जाते हैं। टट्टू ही यहाँकी उपज हैं जो बहुत बड़ी संख्यामें पाये जाते हैं। सभी प्रकारकी स्थितिमें इनसे बढ़कर सवारी और कोई नहीं है। ये बिना व्ययके पाले जाते हैं। यहाँके बेलदार और धोबी खच्चर और गदहे पालते हैं। इनकी अवस्था दिनों-दिन क्षीण होती जा रही है। ऊँट यहाँ पाले अवश्य जाते हैं किन्तु उनका आयात बाहरसे होता है। दुधारू पशुओंमें बकरियाँ यहाँ झुण्ड-की-झुण्ड पाली जाती हैं। गड़रिये और अहीर चरागाहोंमें इन्हें ले जाकर चराते रहते हैं। इनके दूधसे मिठाइयोंके लिए खोवा तैयार किया जाता है। जमुनापारी बकरी,

जो उत्तरी भागमें पाई जाती हैं, अधिक दूध देती है। भेड़ यहाँ बड़े उपयोगी पशुओंके रूपमें मानी जाती है। गड़रिये इनको मैदानी चरागाहोंमें पालते हैं। इनके ऊन और दूधसे लोग धन तो कमाते ही हैं, इनके मूत्र और मेंगनीसे भूमि भी उपजाऊ बनाते हैं।

यहाँके निस्तब्ध पर्वतों और मौन प्रकृतिपटको अपनी कल-कल ध्वनिसे मुखरित करनेवाले पक्षियोंकी विविधता यहाँकी एक बड़ी विशेषता है। मैदानोंमें, तालों, बावलियों और सरिताओंकी तलहटियोंमें खगवृन्द विशेष रूपसे बसेरा लेते हैं। वनोंमें कुछ ऐसे पक्षी भी मिलते हैं जो मैदानोंमें नहीं रह सकते। मोर, तीतर, लाल-मुनैया, पिड़ी, चहा, मंगूर, मुरेला, बटेर, लवा और फ़ाख़्ता विशेष आकर्षक पक्षी हैं। शरद्के आरम्भमें जलाशयोंके सम्पर्कसे नाना प्रकारके पक्षी उत्तरकी ओरसे आते हैं और यहाँ सरोवरोंमें लगभग चार मासतक ठहरते हैं। जलखगोंमें विशेष रूपसे उल्लेखनीय सारस, मुर्गाबी, बतख़, सिलगिला, राजहंस, गल-गिलिया और पनडुब्बी आदि हैं। कौवा, कबूतर, हाड़िल आदि बहुत अधिक संख्यामें प्राप्त होते हैं। जल-पक्षियोंका शिकार यहाँ बड़ा प्रिय होता है। उजले बगले और मोरके पंखोंका बाहर निर्यात भी होता है।

खनिज-पदार्थ

जेजाकभुक्तिकी भूमि पर्वतों और पठारोंसे बनी है। शेष भाग विविध वनोंसे ढके हैं। फलस्वरूप यह देश अनेक धातु, पत्थर आदि निकलनेकी महत्त्वपूर्ण खान है। केवल उत्तरी भाग ऐसा है, जहाँकी मिट्टी न तो किसी सामान्य काममें आने योग्य है, न किसी उपयोगी खनिजका केन्द्र ही है। पर्वतीय भागोंमें मानव-जीवनको अलंकृत करनेवाली कितनी ही सामग्रियाँ प्राप्त की जाती हैं। चूना, कलई तो सामान्य वस्तुएँ हैं। यहाँ चक्की, चौप, कड़ी, कूंडी, प्याले और सड़क-बेलन आदि बनानेका उद्योग होता है। सीमेंट बनानेके पत्थर भी उपलब्ध होते हैं।

पहाड़ोंकी कड़ी चट्टानोंको तोड़कर गिट्टी बनाई जाती है। इसका निर्यात बहुत अधिक मात्रामें चारों ओर होता है। जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, मैदानोंमें प्राप्त होनेवाले गौरा पत्थरसे ही खिलौने, सुराहियाँ, प्याले आदि घरेलू वस्तुएँ तैयार की जाती हैं। संगे-जराहत एक विशेष कोमल पत्थर है जो जबलपुरके समीप प्राप्त होता है। यह विशेष रूपसे औषधियोंके काम आता है। अगेट एक अत्यंत ही मनोहर पत्थरका भेद है। यह नर्मदा और केनमें विविध रूपोंमें प्राप्त होता है जिससे विदेशोंको निर्यात करनेके लिए सुन्दरतम वस्तुएँ तैयार की जाती हैं। बिल्लोर पत्थरको कच्चा हीरा भी कहते हैं। इससे बटन बनानेका काम ही अधिक होता है। पन्नाके पर्वतोंसे एक विचित्र प्रकारका पत्थर निकलता पाया जाता है। जिसका स्थानीय नाम चौपकड़ी है। फ़र्श और छतके लिए यह बड़े कामका होता है। उत्कीर्ण मूर्ति और

शिल्पके लिए यह बड़ा ही उत्तम माना जाता है। इसी पत्थरसे खजुराहोके प्रायः सभी मंदिरोंकी रचना की गई है।

विंध्यप्रदेशकी समस्त लाल भूमिमें धाऊ नामका एक लोहा मिला हुआ पत्थर प्राप्त होता है। आधुनिक लोहेकी जानकारीके पूर्व इससे करोड़ों रुपयोंका लोहा प्रतिवर्ष तैयार किया जाता था। इस उद्योगका अब सर्वनाश हो गया है।

यहाँके पर्वतोंसे प्रचुर मात्रामें मुरम और मिट्टी प्राप्त की जाती है, विशेषतया पीली, गुलाबी और श्वेत मिट्टी निकाली जाती है। घरोंकी पुताईका काम इसीसे होता है। मुरम तो सर्वत्र प्राप्त होती है। मार्गों और उपवनोंके अलंकरणके लिए इसका अधिक प्रयोग होता है।

इन सामग्रियोंके अतिरिक्त यहाँकी भूमिसे बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुयें भी प्राप्त होती हैं। मेंगनीज और ऐल्यूमोनियम दोनों अधिक मात्रामें निकाली जाती हैं, जिनका निर्यात विदेशोंमें होता है। इसके अतिरिक्त यहाँ कोयले, ताँबे और अभ्रककी भी खानें हैं। किन्तु अभीतक इन्हें वैज्ञानिक शोध-पूर्वक निकालनेकी परिष्कृत व्यवस्था नहीं की जा सकी है। अब जबलपुरके समीप भी सोना, चाँदी, सीसा और फिटकिरी पाये जाने लगे हैं।

भारतवर्षके लिए यहाँकी खनिज-संबंधी सर्वोत्तम देन हीरा है। यह पन्ना और उसके सन्निकट प्राप्त होता है। केन नदीके तटपर लगभग बारह कोसकी भूमिमें हीरे निकलते हैं। हीरे निकालनेको कई विधियाँ हैं जिनमेंसे मुख्य तीन रीतियाँ काममें लाई जाती हैं—१. मौढ़ा रीतिमें चट्टान तोड़कर हीरा निकाला जाता है। २. नदी-नालोंकी रेत एकत्र करके कुछ कम मूल्यवान् हीरे निकाले जाते हैं। इस विधिको भौंरा कहते हैं। ३. गहरी खुदाई-द्वारा भी प्राप्त होते हैं। हीरे कबसे यहाँ प्राप्त होते हैं, यह एक विवादका प्रश्न है। कुछ लोग इसे १८वीं सदीके पूर्व नहीं ले जाना चाहते। इतिहासज्ञ 'मौरिस'का मत है कि 'महाराज छत्रसालके पूर्व हीरेका ज्ञान लोगोंको नहीं था।' पौराणिक वृत्तोंमें हीरेकी उत्पत्तिका संबंध महर्षि दधीचिसे जोड़ा गया है।[1] अबुलफ़ज़लने लिखा है कि 'कालंजरसे ४० मीलकी दूरीपर हीरेकी खान थी और कालंजरके राजा कीरतसिंहके पास बड़े-बड़े छः हीरे थे।'

खानसे निकलनेवाली इन वस्तुओंका प्रभाव यहाँके निवासियोंके आर्थिक जीवनपर बहुत ही महत्त्वका है। खेद है कि अभी इसका विकास नहीं हुआ और न इस रत्नगर्भाका भू-गर्भ-विश्लेषण करके यही पता लगाया जा सका कि इसके उदरमें कितनी बहुमूल्य वस्तुएँ प्रच्छन्न हैं। पूर्ण विकासके उपरांत यहाँके निवासियोंका काया-पलट अवश्य ही सम्भव है।

---

१. देव-दानव-युद्धमें दानवोंको मारनेके लिये दधीचिकी हड्डियोंसे महाराज इन्द्रका वज्र बनाया गया था। उस वज्रके रजःकणों और टुकड़ोंसे हीरे बने।

निवासी

श्रेणियाँ

भारतवर्षके इस मध्यवर्ती विशाल भू-भागको इस देशके प्राचीनतम निवासियोंने आदिकालसे चिरकालतक अपनी जीवन-क्रीड़ाका आँगन बनाया था। प्रमाण तो प्राप्त होते हैं कि आर्यावर्त्तके मूल निवासियोंके विशुद्ध जीवन एवं रक्तका संरक्षण आजतक इसी भू-भागके एक अंकमें होता चला जा रहा है। युगोंके क्रमिक परिवर्त्तनके साथ इधर जबसे नूतन मानव-श्रेणियोंका विस्तार हुआ तबसे रक्त-सम्मिश्रण भी आरम्भ हो गया। गहन विपिनको छोड़कर अन्य भागोंमें मिश्रणकी क्रिया इस सीमातक पहुँची कि यहाँके निवासियोंको किसी एक मूल मानव-श्रेणीका कहना भ्रमसे रहित नहीं है। नेस्फील्डने तो इस विषयमें मत प्रकट करते हुए यहाँतक कहा है कि 'मिश्रणके फलस्वरूप भारत एक जातिका बन गया है।[१]' किन्तु मानव-शास्त्र और जाति-शास्त्रके सिद्धान्तोंसे अध्ययन करनेपर मोटे रूपसे आदिवासियोंके अतिरिक्त शेष समाजकी मूल मानव-श्रेणियोंका पता लग ही जाता है। आर्यावर्त्तका यह भाग निस्सन्देह गहन वनोंका देश होनेके कारण शताब्दियोंतक आर्योंका निवासस्थल न बन सका। इसमें काली जातियोंके लोग ही बसे रहे। काली जातिकी मानव-श्रेणीमें कोल, शबर और मुंडाके अतिरिक्त द्रविड़ भी आते हैं। इनका सिर लंबा, क़द नाटा, नाक चौड़ी, बाल घने और वर्ण काला होता है। इन जातियोंने मूल रूपसे विंध्यकी उपत्यकाओंवाले इसी भागको अपना निवास बनाया था। कालांतरमें जिन आर्य-वंशजोंका यहाँ आगमन हुआ उन गौर वर्णवालोंकी परम्परामें पश्चिमोत्तरसे आनेवाली और योरोपसे आनेवाली भी कुछ जातियाँ सम्मिलित हैं। इनकी सामान्य बनावट बड़ी आकर्षक है। इनका रंग गोरा किन्तु उष्ण जलवायुमें गेहुँआ हो जाता है। लम्बा क़द, कोमल कान्तिवाले ह्यालवत बाल, घनी मूछें और दाढ़ी, नुकीली और ऊँची नाक, लम्बा सिर तथा बड़ी आँखें होती हैं। यहाँके निवासियोंमें इन्हीं दो मानव-श्रेणियोंका सम्मिश्रण प्राप्त होता है। पीली जाति अर्थात् चीन-किरात, मंगोल, तातारका सम्मिश्रण अत्यंत नगण्य हुआ है। इन पीली जातियोंका रूप और आकार अपेक्षाकृत कम आकर्षक होता है। ये नाटे क़दके होते हैं। नाक और चेहरा चपटा; गोला कपाल, रूखे और खड़े बाल; गहरी और सीधी आँखें होती हैं। इनका प्रवेश इस भू-भागमें बहुत पीछे और पश्चिमोत्तरके मार्गसे हुआ।

जाति-शास्त्रके अनुसार जहाँ इन श्रेणियोंका इस प्रकारका सम्मिश्रण अत्यंत महत्त्वका है, इन श्रेणियोंके भीतर भी अनेक मूल आधारोंपर भिन्नता रखनेवाली बहुतसी जातियाँ पाई जाती हैं। इन विविध तत्त्वोंसे निर्मित जातियोंका क्रम इस

१. पीपुल्स औफ़ इण्डिया, पृ० २०, रिसलीमें उद्धृत।

देशमें अत्यंत ही प्राचीन है। ई० पू० ५वीं सदीमें हेरोदोतसने लिखा है—'जिन अनेक राष्ट्रोंको हम लोग जानते हैं उनमें भारतवर्ष सर्वाधिक जनसंख्याका देश है।' अनेक रक्तों, वंशों, जातियोंके संग्रहालय रूप इस विशाल देशको समाज-शास्त्री रिसलीने सात जातीय विभागोंमें विभाजित किया है। उसके अनुसार यह भाग आर्य, द्रविड़ और शक जातिके लोगोंका निवासस्थान है।

जातियाँ

जेजाकभुक्ति-निवासी प्रधानतया हिन्दू हैं और उनका समाजीकरण वर्ण-व्यवस्थापर आश्रित है। परंपरागत चारों वर्ण १. ब्राह्मण, २. क्षत्रिय, ३. वैश्य और ४. शूद्र यहाँ निवास करते हैं। वर्णकी वैज्ञानिक और श्रम-विभाजनकी मूल भावना लुप्त हो गई है और वर्ण एक जातिके अर्थमें रह गया है। जन्मना उनकी मान्यता हो गई है और वर्णवृत्तिका सामंजस्य तिरोहित हो गया है। यह क्रिया यहीं नहीं रुकी। विविधता और भिन्नताके अधिकाधिक आगमनके साथ प्रत्येक वर्ण सैकड़ों जातियों और उपजातियोंमें विशृंखलित हो गया। इनके गर्भमें प्रधानतया वर्जनशीलता, कठोर आचार, नूतन प्रथाओंका अंगीकरण, व्यवसाय और धंधोंका स्वच्छंद आदान-प्रदान, धर्म-सम्प्रदायोंकी वृद्धि, भौगोलिक और जलवायु-संबंधी भिन्नता तथा राजनीतिक परिवर्त्तन कारण बने। अगणित जातियोंके इस प्रकार इस देशके वक्षस्थलपर क्रमशः आ उतरनेका परिणाम स्पष्ट हैं। समाजमें तीव्रताके साथ ऊँच-नीचके भावका प्रादुर्भाव हुआ। सामाजिक सान्निध्य और भोजन-पानपर रोक लगने लगी। पैतृक व्यवसायोंमें रूढ़ि आने लगी। वैवाहिक प्रथाकी उदारता पूर्णतया समाप्त हो गई। जन्मकी प्रधानताके साथ अर्थहीन वंशगत दम्भने धमनियोंमें संचार किया। फलतः सर्वत्र और यहाँ भी हिन्दू समाजमें सैकड़ों जातियाँ दृढ़ताके साथ अपना अपना अलग अस्तित्व बनाए हुए हैं।

यहाँ ब्राह्मणोंकी संख्या सर्वाधिक है। इनमें जुझौतिया, कनौजिया, सनाढ्य और सरवरिया विशेष हैं। सरयू-तटसे आये हुए सरवरिया ही सबसे बड़े समझे जाते हैं। इनके अतिरिक्त मराठे ब्राह्मण भी हैं, जिन्हें यहाँ कराठा कहते हैं इसी प्रकार गुजरातके खेड़ावाल भी यहाँ आ बसे हैं।

क्षत्रियोंकी संख्या ब्राह्मणोंसे कुछ कम है। किन्तु प्राचीन सूर्य, चन्द्र और नाग-वंशी क्षत्रिय वंशजोंके अतिरिक्त मध्यकालीन राजपूत वंशके सभी क्षत्रिय यहाँ बसे हैं। इन दोनोंसे भी अलग कई क्षत्रिय-जातियाँ पाई जाती हैं। क्षत्रियोंके जितने कुल यहाँ निवास करते हैं, उतने सम्भवतः अन्यत्र नहीं। इनकी लगभग ६५ जातियाँ यहाँ बसती हैं।

वैश्योंकी जनसंख्या ब्राह्मणोंकी एक तिहाईसे कुछ ही अधिक है। अग्रवाल, अग्रहारी, केसरवानी और मारवाड़ी विशेष रूपसे बसे हैं। सागरके आसपासके वैश्य, जैन और हिन्दू दोनों मतोंके माननेवाले हैं। व्यापारके साथ-साथ ये कृषि-कार्य

भी करते हैं। कृषक वैश्योंमें असाटिये ही मुख्य हैं। असाटिये लोग दक्षिणी भागकी ओर अहीरोंकी, तथा उत्तर और मध्यकी ओर कोरियोंकी शाखा माने जाते हैं।

यहाँपर शूद्रोंकी बड़ी विशाल संख्या निवास करती है। इनकी जीविका अनेक प्रकारके उद्योगोंपर आश्रित है। कृषि और गो-पालन करनेवालोंमें लोधी, अहीर, गोंड़, कुरमी, काछी, घोसी और भर विशेष रूपसे प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे कुछ तो अत्यंत ही परिश्रमी हैं। शिल्पी जातियोंमें कुम्हार, बसोर, माली, बढ़ई, लुहार, सुनार, गड़रिये, मोची, कोरी और ठठेरे आदि उल्लेखनीय हैं। अन्य उद्योगोंमें संलग्न केवट, तेली, धोबी, नाई, भाट, खटिक, भरभूंज, कहार, गुसाई और योगी जातियाँ हैं। इनकी संख्या चारों ओर कहीं कम, कहीं विशेष है। इस भू-भागमें चमारोंकी संख्या लगभग ब्राह्मणोंके बराबर है। ये विशेष रूपसे कृषि-कार्यके श्रमिक हैं। इनमें भी कई शाखाएँ हैं। इनका जीवन बड़ा दयनीय है।

शूद्रोंमें कुछ आदिवासी भी हैं जिनका जीवन अविकसित एवं असभ्य रूपमें ही अभीतक चला आ रहा है। कोल, गोंड़ भारतके आदिम निवासियोंके प्रतिनिधि हैं। कुछ अपराधी जातियाँ भी इस भू-भागमें पाई जाती हैं। ये एक स्थानपर रहकर जीवन नहीं बिता सकते। भ्रमण-शीलता इनके जीवनका आकर्षक पक्ष है। विशेष रूपसे इनमें नट, कंजड़ और बेड़िया हैं जो झाँसी जिलेमें पाये जाते हैं। झाँसी और ललितपुरके सनौढ़िया अथवा उठाईगीरे बहुत प्रख्यात हैं। इनके संबंधमें अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। किन्तु वे किसी विशेष जातिके नहीं है, डाकुओं और चोरोंके एक समूह हैं। अपने लिए वे एक निजी सांकेतिक भाषा काममें लाते हैं। इनके कार्य-क्षेत्रका विस्तार समस्त उत्तरी भारतवर्षमें है। इनके अतिरिक्त खंगर, बेड़नी और सौंर भी इसी प्रकारके उद्योगसे अपनी जीविका चलाते हैं।

इस भू-भागमें कुछ और ऐसी भी शूद्र-जातियाँ पाई जाती हैं, जो अन्य स्थानोंपर प्राप्त नहीं होतीं। इनमें सबका न तो परिचय देना सम्भव है और न चर्चा करना ही। इनमें उल्लेखनीय हैं--आरख, खँभार, दाँगी, सेजबारी, बहुरिया, दौवा, डुमार, चड़ोर, दहेत, गुरंदा, कौंदर, कलार, खाती और फिरार।

इस देशमें मुसलमान जातियाँ भी पर्याप्त हैं। लगभग पचीससे अधिक जातियोंके मुसलमान यहाँ निवास करते हैं। इनमेंसे अधिकतर मुसलमान हिन्दू-वंशज हैं, जिन्होंने सामूहिक रूपसे इस्लाम ग्रहण किया। यहाँके मुसलमानोंमें जुलाहे, धुनियाँ, शेख, पठान तो कम किन्तु बेहना विशेष हैं। यों तो चुरिहार, मनिहार, दर्जी, घोसी, नट, भाट भी अधिक पाये जाते हैं। मनिहार, घोसी, नट और भाटोंने तो सामूहिक रूपसे इस्लाम ग्रहण किया था। विंध्यप्रदेश विविध जातियोंका एक अत्यंत ही आकर्षक संग्रहालय है, जहाँ देशकी प्राचीनतम युगसे अबतककी सभी जातियोंका मूल और मिश्रित रूप संरक्षित है।

धर्म

जेजाकभुक्तिका आदि धर्म प्रकृतिवाद है। आदिवासियोंकी धर्म-भावना प्रकृतिके अखण्ड साहचर्यसे प्रभावित थी और उसका क्षेत्र आरम्भमें प्रकृति-पूजासे लेकर भूतवादतक प्रसृत था। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस धर्म-भावनाकी अनुयायी वन-जातियाँ आज भी उसी रूपमें यहाँ पाई जाती हैं। भारतवर्षके धार्मिक इतिहासकी विकास-परम्परा बड़ी ही विविधताओंसे भरी है। यहाँके निवासियोंके बौद्धिक विकासके साथ धर्म-भावनाने क्रमसे भूतवाद, बहुदेववाद, एकेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद आदि अवस्थाओंको पार किया। यहींसे वैदिक धर्मका समारम्भ हुआ। धर्मने दार्शनिक आधार ग्रहण करके एक ओर जीवनके साथ उसका संबंध स्थापित किया दूसरी ओर शुद्ध आध्यात्मिक विश्लेषण किया। फलतः वैदिक कर्मकाण्ड और औपनिषदिक ज्ञानकाण्डका सूत्रपात हुआ। कालान्तरमें अस्वाभाविक दुरूहताका प्रादुर्भाव जब ब्राह्मण धर्ममें होने लगा तब ई० पू० ५०० के लगभग बौद्ध और जैन सुधारवादी मतोंका उदय हुआ। इन दोनोंने तत्कालीन जीवनकी सभी मान्यताओंको क्रांतिकारी रूपसे प्रभावित किया। सभीका मूल आधार बना आचार और नैतिकता। किन्तु वैदिक धर्म स्रोतसे छूटकर ये दोनों अलग हो गये और आज भी एक मतके रूपमें प्रचलित हैं।

किन्तु ब्राह्मण-धर्मने अद्वैतवादके सोपानसे आगे बढ़कर पौराणिक युगमें पदार्पण किया—वैष्णव, शैव और शक्तिकी त्रिवेणी जैसे उसके विस्तृत प्रवाहमें निमज्जित हो रही थी। फिर पौराणिक धर्मके प्रौढ़ होनेपर भक्तिकी प्रबलता स्थापित हुई, अवतारवादकी प्रतिष्ठा हुई, भक्ति और अवतारके कई आनुषंगिक सूत्र भी प्रतिष्ठित हो चले। इसी युगके परवर्ती कालसे आधुनिक हिन्दू-धर्मकी सरिता प्रवाहित हुई। इस्लामके प्रवेशने इसके भीतर कुछ प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न कीं। किन्तु इन दोनोंकी पारस्परिक कटुताके गर्भसे संत-मतोंका जन्म हुआ। उन्होंने भी वर्त्तमान हिन्दू-धर्मके स्वरूप-निर्माणपर प्रभाव डाला। हिन्दू-धर्मके क्रमिक विकासके यही प्रमुख आधार हैं।

यहाँ आज हिन्दू-धर्मके अनुयायी ही बसते हैं। अहिन्दुओंकी संख्या है अवश्य, किन्तु अत्यंत सामान्य। यहाँ हिन्दू धर्ममें लोक-पक्षका विकास अत्यन्त ही विलक्षण ढंगसे हुआ है। स्थानाभावसे सब बातोंकी चर्चा भी संभव नहीं है। इनमें साधारण धार्मिक जीवनको प्रभावित करनेवाला सर्व-प्रमुख उपादान अनेक स्थानीय देवताओंकी पूजा है। यद्यपि ऐसी पूजामें दार्शनिक आधार नहीं लिया गया है तथापि जेजाकभुक्तिका सामाजिक जीवन इसके प्रभावमें भली-भाँति सराबोर है।

ग्र मी ण देवता

मूर्त्ति-रूपमें पूजे जानेवाले आर्य देवताओंमें महावीर अथवा हनुमान् और नागदेव हैं। यहाँकी सामाजिक घटनाओंकी इतिवत्तियोंसे संबंध रखनेवाले कई देवताओंकी

पूजा होती है। दूल्हदेव प्रत्येक गाँवके लोकप्रिय देवता हैं। ब्याहके अवसरपर इनकी पूजा होती है। हरदौलकी स्थापना भी प्रत्येक गाँवमें होती है। ब्याहके दो दिन पूर्व स्त्रियाँ इनकी पूजा करती हैं। पौरियाबाबा एक प्राचीन राजपूत योद्धाकी स्मृतिमें पूजे जाते हैं। सामाजिक समारोहोंके अवसरपर इनकी पूजा की जाती है। मसानबाबाकी पूजा तेली ही विशेष रूपसे करते हैं। बुन्देलबाबा भी विशेष कामनाओंकी पूर्त्तिके लिए पूजे जाते हैं।

कुछ देवता ऐसे हैं, जिनकी पूजा विशेष रूपसे किसी जाति-विशेष-द्वारा ही होती है। नटबाबा, ग्वालबाबा और गुरैयाबाबा अहीरोंके देवता हैं। विभिन्न निर्धारित तिथियोंपर इनकी पूजा तो वे करते ही हैं, अपने प्रत्येक सामाजिक उत्सवोंके समय भी इनकी पूजा अवश्य ही कर लेते हैं। भियाराने काछियोंके देवता हैं, इनकी स्थापना गाँवके बाहर होती है। यों तो उपर्युक्त कई देवताओंकी पूजामें अनार्य पूजाका प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है, किन्तु कई एक अनार्य देवता भी यहाँ सभी हिन्दुओं और ग्रामवासियों-द्वारा आज पूजे जाते हैं। मिड़ोहिया खेतके मेड़के देवता हैं। किसानोंमें इनकी बड़ी ही लोकप्रियता है। घटाइया वास्तवमें नदी-घाटके देवता हैं। इनकी पूजा स्त्रियाँ करती हैं। गोड़बाबा गाँव-भरके विख्यात देवता हैं। छीद प्रेतके रूपमें पूजे जाते हैं। जंगलवासी इनकी पूजा विशेष रूपसे करते हैं।

इसी प्रकार विविध रीतिकी स्थानीय विशेषताओंसे भरे त्योहार भी यहाँके सामाजिक और धार्मिक जीवनमें मनाये जाते हैं। तात्पर्य यह कि हिन्दू-धर्मका वर्त्तमान रूप एक ओर जहाँ सार्वभौम लक्षणोंवाला है, वहीं दूसरी ओर स्थानीय मान्यताओंसे अलंकृत भी है।

संत-परंपराओंके अनुयायी भी यहाँ पर्याप्त मात्रामें बिखरे हैं। कबीर-मतके अनुयायी यहाँ बहुतसे हैं। विशेष रूपसे कोरी जातिके लोगोंमें इसके अधिक माननेवाले पाये जाते हैं। नानकपंथी यहाँ है तो अवश्य किन्तु सभी बाहरसे आ-आकर यहाँ जीविकाकी खोजमें बस गए हैं। धामी भी एक संत-मत है, जिसका आदर्श हिन्दू-मुसलमानकी कटुताको विलीनकर उभयनिष्ठ तत्त्वोंकी स्थापना है। इसका जन्म भी १६वीं सदीमें हुआ। इसका मुख्य मंदिर पन्नामें है। इस मतके अनुयायी, नेपाल, भूटान, कच्छ, बंबई और पंजाबसे यहाँ पूजन-कालमें आते हैं।

इसके अतिरिक्त हिन्दू-धर्मसे अत्यंत सान्निध्य रखनेवाले और कई मतोंके अनुयायी यहाँ निवास करते हैं। उनमें अघोरी, नाथपंथी, हरदौलके पूजक और पाँचों पीरके उपासक प्रमुख हैं। मध्यभारतमें हरदौलके उपासकोंकी संख्या लगभग पंद्रह सहस्र होगी। कुछ वाममार्गी भी यहाँ वर्तमान हैं। इनका जीवन लोक-सम्मत नहीं हो सका है।

ई० पू० छठी सदीके सुधारवादी धर्मोंमें यहाँ जैन धर्मके अनुयायी बहुत हैं। ये सारे बुन्देलखण्डमें आज भी व्याप्त हैं। यहाँ मकसी, बावनगजा, बमेरा, खजुराहो और सोनागिरि दिगंबर जैनोंके प्रसिद्ध तीर्थ स्थान हैं। बौद्धोंकी जनसंख्या यहाँ नहींके बराबर है।

इस्लामके माननेवालोंकी संख्या चार लाखके लगभग है जो प्रायः सभी हिन्दुओंसे परिवर्तित हुए हैं। इनके विश्वास और रीतियाँ हिन्दुओं जैसी ही हैं। इस भू-भागमें इनकी ही अधिकता है।

यहाँ सबसे पीछे आया हुआ धर्म ईसाई है। यह एक प्रचारक धर्म है। ईसाई कर्मचारियोंके अतिरिक्त यहाँके लोगोंने भी ईसाई-धर्मको ग्रहण कर लिया है फिर भी इनकी संख्या नगण्य है। पारसी-धर्मके माननेवाले भी यहाँ कुछ पाये जाते हैं। ये सभी अपने कारबारके संबंधसे यहाँ आ पहुँचे हैं। यहाँकी पहाड़ी आदिवासी जातियों (गौड़ और सौंर लोगों) का एक अपना धर्म है। ये अनार्य-धर्मी कहे जाते हैं। भूतवाद और प्रकृति-पूजाके प्रेमी ये गुरैया और बूढ़ादेव आदिको पूजते हैं। मंत्र-तंत्र इनके जीवन-क्रमकी अनिवार्य धर्म-भावना है।

नगर और उनका महत्त्व

चन्देल साम्राज्यान्तर्गत अनेक नगर अपने व्यापारिक और सैनिक महत्त्वके कारण अन्ताराष्ट्रिय प्रसिद्धिके हो गये थे। कतिपय नगरोंने तो मध्यकालीन भारतके इतिहासकी रचनामें इतना योग दिया है कि उनका विवरण प्रस्तुत कर देना ही आवश्यक प्रतीत होता है।

कालंजर

बुन्देलखण्डके मैदानके दक्षिण-पूर्वी छोरपर प्रसिद्ध कालंजर पर्वतके ऊपर यह नगर बसा है। कालंजरका ऐतिहासिक दुर्ग भी इसी पर्वतपर है। आज यह भग्नावशेषोंमें रह गया है, फिर भी ऐसे अनेक अवशेष यहाँ प्राप्त होते हैं जिनसे इसके पुरातन गौरव और वैभवका आभास मिलता है। इतिहासकार फ़रिश्ताका कथन है कि 'इस नगरको इस्लामके संस्थापक मुहम्मदके समकालीन सातवीं शताब्दिके एक केदार राजाने स्थापित किया था'।[१] कालंजरका नाम बहुधा हिन्दू पुराणोंमें आता है। महाभारतमें भी इसकी चर्चा एक तीर्थ-स्थानके रूपमें है।[२]

स्थानीय किंवदन्तीके अनुसार चन्देलोंमें प्रसिद्ध राजा चन्द्रवर्माने पहले-पहल इसे अपना सैनिक-केन्द्र बनाया। उसीने इस दुर्गकी भी नींव डाली। परन्तु इस स्थानका परवर्त्ती इतिहास पौराणिक कथाओंमें प्रच्छन्न है। इतना अवश्य स्पष्ट है

---

१. गज़ेटियर उत्तर-पश्चिम प्रांत, भाग १, पृ० ४४६

२. महाभारत, ३, ८५, ८१६६, ८२००

कि अति प्राचीन कालसे ही यह हिन्दुओंका तीर्थ रहा है। इसके इतिवृत्तका विस्तृत विवरण अन्यत्र प्रस्तुत किया जायगा।

खजुराहो (खर्जूरवाह)

छतरपुर रियासतमें यह एक साधारण गाँव है, जहाँ प्रारम्भमें जेजाभुक्तिकी राजधानी थी। ह्वेनत्सांगने अपने विवरण (६४१ ई०) में इसे 'चिह-चि-तो' नामसे अंकित किया है और बतलाया है कि इसका शासक एक ब्राह्मण था। उसका यह कथन चन्देल शासकोंके साम्राज्यकी नींवकी तिथि ज्ञात करनेके लिए बड़ा उपयोगी है। जेनरल कनिंघमने इस नगरके भग्नावशेषोंकी नाप-तौल की है और अपने उद्‌गार प्रकट किये हैं। यहाँ आज भी चन्देल शासकों-द्वारा निर्मित लगभग बीससे अधिक मंदिर वर्त्तमान हैं और लगभग इतने ही भग्न रूपमें पड़े हैं। यहाँकी वास्तु-कला-कृतियाँ देशकी प्रथम श्रेणीकी कृतियोंमें आती हैं जिनका विवरण अगले अध्यायमें प्राप्त होगा।

महोबा (महोत्सव नगर)

बेतवा और यमुना नदियोंके संगमपर वर्त्तमान हमीरपुर ज़िलेमें यह नगर स्थित है। इसका नाम उस ऐतिहासिक घटनासे संबंधित है जब चन्देलचन्द्र-वर्माने लगभग आठवीं सदीके अंतमें अपनी माताके स्खलनकी शुद्धिके लिए यहाँपर एक यज्ञ (महोत्सव) किया था और इस नगरकी स्थापना की थी। इसके पूर्व इस नगरकी क्या स्थिति थी, अज्ञात है। अनुश्रुतियाँ, उत्कीर्ण लेख एवं साहित्य सब चन्देलोंको ही इस नगरका संस्थापक बतलाते हैं। महोबा या महोत्सवनगर बहुत कालतक चन्देलोंकी राजधानी रहा। चन्देल शासकों-द्वारा निर्मित कृतियाँ आज भी उनकी स्मृति दिलाती हैं—विशेषतया रामकुण्ड, सूर्यकुण्ड, किला, मनियादेवीका मंदिर, देवलदीप, राहिलसागर, कल्याणसागर, मदनसागर, विजय और कीर्त्तिसागर, मदनसागरमें स्थित द्वीप तथा आल्हा-ऊदलका निवास-स्थान।

देवगढ़

देवगढ़ भी मध्यकालीन नगरोंमेंसे है। इसका इस समय कोई महत्व नहीं रह गया। इस नगरसे ३०० फ़ीटकी ऊँचाईपर करमालीका प्राचीन दुर्ग वर्त्तमान है। इस दुर्गके दक्षिणी प्राचीरके नीचे बेतवा अद्‌भुत सौंदर्य-रचना करती हुई बहती है। निकटमें ही आपको प्रकृतिकी दूसरी झाँकी मिलेगी। बेतवा जहाँ बलपूर्वक विंध्यपर्वतमें मार्ग बनाती है वहाँ चतुर्दिक् पर्वतोंसे घिरे हुए प्रपातकी रचनाके लिए चकमकाते हुए धारदार चट्टानोंसे ओजस्वी उछाल लेकर उसका सकरी दरीसे होकर अत्यंत गहराईमें आ जाना एक दुर्लभ दृश्य उपस्थित करता है। देवगढ़ प्रकृतिका आभषण है। देवगढ़ पर्वतका पश्चिमी भाग एक प्राचीरसे घिरा

है। इसके उत्तरकी ओर जैनियोंके लगभग सोलह मंदिर आज भी सुरक्षित खड़े हैं।

जैतपुर

इस नगरका इतिहास प्राचीन है। यह नगर २५°—१५ उत्तरी अक्षांश और ७९°—३५ पूर्वी देशान्तर रेखाओंपर स्थित है। नगरसे कुछ ही दूरीपर बेलाताल नामकी अति विशाल झील है जिसका व्यास लगभग नौ मीलका है। इसका निर्माण महोबाके चन्देल शासक बलरामने कराया था।

दुधही

अबू-रीहानके विवरणसे ज्ञात होता है कि चन्देलोंके समयमें यह एक बहुत बड़ा नगर था। प्रसिद्ध चन्देल शासक धंगके भाई कृष्ण, जो उप-शासक थे, उनके लेखसे ज्ञात होता है कि चन्देल शासकोंने इस नगरको अपने किसी संबंधीको सौंप दिया था।[1] यहाँके ऐतिहासिक अवशेषोंमें प्रमुख वराह और बच्चाका मंदिर है। कुछ जैन मंदिर भी सुरक्षित हैं। जितने भी लेख दुधहीमें प्राप्त हुए हैं उनसे यही ज्ञात होता है कि इन मंदिरोंका निर्माण गौरवशाली चन्देल शासक यशोवर्मन्के पौत्र देवलब्धिने कराया।

चाँदपुर

दुधही और देवगढ़के मध्यमें चाँदपुर नामका ऐतिहासिक स्थान स्थित है। चन्देलोंके युगके भग्नावशेष निश्चित रूपसे यह प्रदर्शित करते हैं कि उस समय यह एक उन्नत और समृद्धिशाली नगर रहा होगा। यहाँ ब्राह्मण और जैन दोनों वर्गोंके स्मारक प्राप्त होते हैं, पर सबके सब निर्दयताके साथ नष्ट कर दिये गये हैं।[2]

मदनपुर

यह नगर ऐतिहासिक दृष्टिसे अत्यंत मूल्यका है और प्राचीन है, यद्यपि चन्देलोंके समयमें महत्त्वशाली हो गया था। यहाँ खुले स्तम्भोंवाले भवनमें कुछ उत्कीर्ण लेख पृथ्वीराज चौहानके मिले हैं जो ऐतिहासिक महत्त्वके हैं। इनकी परीक्षा अगले अध्यायोंमें की जायगी।

यातायातके प्रमुख मार्ग और साधन

उपर्युक्त वर्णनसे यह स्पष्ट है कि वह भू-भाग जिसपर चन्देलोंका साम्राज्य था पहाड़ी, विशेषतया चट्टानोंसे आक्रान्त है। इसलिए चन्देल शासकोंके समक्ष साम्राज्यके भीतर और बाहरके स्थानोंसे गमना-गमनके साधन प्रतिष्ठित करना दुर्घट कार्य

---

१. ए० एस० आर०, भाग १०, पृ० ९५

२. वहीं, पृ० ९६

था। फिर भी अनेक प्रमाण ऐसे मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि पराक्रमी चन्देलोंने गमना-गमनके अनेक मार्ग अपने साम्राज्यके भीतर एवं बाहरके लिए बनवाये। ये मार्ग व्यापारिक एवं सैनिक दोनों उद्देश्योंसे बनाये गये थे। चन्देलोंके सुप्रसिद्ध आठ दुर्ग थे--बारीगढ़, कालंजर, अजयगढ़, मनियागढ़, मरफा, मुंढा, गढ़ और मनियर। इनको परस्पर संलग्न करनेवाले प्रशस्त मार्ग थे। जहाँ सड़कोंका बनाना सम्भव नहीं था अथवा पहाड़ दुर्गम थे वहाँ गमनागमनके लिए पर्वत और वन-पथोंका अवलम्बन किया जाता था। आज भी ऐसे स्थान हैं, जहाँ पहाड़ी गाड़ियाँ भी नहीं जा सकती है और जहाँ केवल टट्टुओंसे ही जाना पड़ता है। कभी-कभी तो विषम भूमियोंका परिणाम ऐसा देखा गया है कि जो स्थान वन-मार्गसे १५ मीलकी दूरीपर ही है वही राजमार्गसे १०० मीलपर पड़ जाता है। अस्तु, घाटियों और पहाड़ी मार्गोंके भीतर भी गमना-गमनके जो मार्ग शासकोंने स्थापित किये, उनका मूल्य ऐतिहासिक दृष्टिसे असाधारण है।

व्यापारिक दृष्टिसे भारतका यह भाग विशेष महत्वका न होते हुए भी उपेक्षणीय नहीं था। वन-सम्पत्तिके अतिरिक्त कामकी लकड़ी, पशु, बहुमूल्य पत्थर, साधारण पत्थर एवं चूने, अन्न, घी, चमड़ा, हड्डी यहाँ निर्यातकी सामग्री थी। वन-सम्पत्तिमें लाख, मोम, लकड़ी, घास, खारुवा और फल-मूल विशेष थे। व्यापारकी इन प्रचुर सामग्रियोंके निर्यातकी प्रेरणासे ही मार्गोंका विकास हुआ। ह्वेनत्सांगकी यात्रासे इसके कतिपय प्रमाण उपलब्ध होते हैं। उसने जेजाभुक्ति-साम्राज्य और उसकी राजधानी खजुराहोका भ्रमण किया था।[1] जिस मार्गका उसने अनुगमन किया उससे ही यह स्पष्ट है कि उज्जैन, ग्वालियर और कन्नौजको खजुराहोसे ही सड़कें जाती थीं।[2]

मध्यकालके हिन्दू-साम्राज्योंपर जो अनवरत आक्रमण होते रहे वे भी इन पर्वतीय भागोंमें सड़कोंके विकासमें प्रभावकारी निमित्त बने।

गमनागमनके दूसरे सम्भाव्य साधन उस कालमें नदियाँ थीं, किन्तु जेजाभुक्तिकी नदियाँ प्रायः पर्वतोंसे होकर बहती हैं, इसलिए उनका नाव्य होना सम्भव नहीं था। अनेक छोटी-बड़ी नदियोंमें केवल केन, बेतवा और चम्बलमें कुछ दूरीतक नौ-चालन हो सकता था। इसके अतिरिक्त उत्तरी सीमापर प्रवाहित होनेवाली यमुना व्यवस्थित रूपसे नौ-चालनके कार्यमें लाई जाती थी। नावों-द्वारा युद्ध-कालमें सैन्य-संचालन और शान्ति-कालमें व्यापारका काम लिया जाता था।

इस देशकी प्राकृतिक अवस्थाके इतने विशद परिचयके उपरान्त यहाँकी सवारियोंका अनुमान अनायास ही किया जा सकता है। ऐसी सवारियाँ थीं घोड़े-टट्टू जिनका प्रयोग यहाँ सभी भागोंमें किया जा सकता था। ये सर्वदासे अत्यंत

१. ए० एस० आर०, भाग २१, पृ० ५८

२. हिस्टौरिकल एटलस् औफ् इण्डिया (चार्ल्स जापेन द्वारा) एस० जे०, पृ० ६।

ही विश्वसनीय एवं शीघ्रगामी साधन रहे हैं। स्त्रियाँ भी घोड़े-टट्टूपर सवार होती थीं। ऊँटका प्रयोग भी यहाँ अति प्राचीन है। व्यापारिक सामग्रियोंके विनिमयके लिए यहाँ बैलोंका प्रयोग किया जाता था जिनके समूहको टाँड़ा कहते थे। ऐसे हजारों बैल देश-देशान्तरसे माल लाते और ले जाते थे। कभी-कभी एक-एक व्यापारी पाँच-पाँच सौ तक बैल रखता था।

पहाड़ी भूमिके अनुरूप बैल-गाड़ियोंका प्रयोग भी यहाँ पुराना है। 'धचरा' नामकी बैल-गाड़ियोंका प्रयोग तो अत्यन्त प्राचीन है। राजसी सवारियोंमें हाथी और पालकीका प्रयोग चिर कालसे रहा है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यहाँकी सभ्यतामें यातायातके साधनोंका विकास बहुत मन्द रहा।

उत्तर और दक्षिण भारतमें मार्ग-संबंध

पठारके उत्तरी सिरेपर दक्षिणके पठार और उत्तर भारतके बीच दीवारका काम करनेवाले पहाड़ोंकी क्रमबद्ध शृंखला है जो सामान्य रूपसे दक्षिण-पश्चिमसे उत्तर-पूर्वकी ओर चलती हुई गंगाके तटतक पहुँच जाती है। इसके अतिरिक्त अरब सागरमें गिरनेवाली नर्मदाके दोनों कूलोंपर विंध्य और सतपुड़ाके विशाल पर्वत हैं, जो क्रमशः पूर्वकी ओर नीचे होते जाते हैं और अंतमें उड़ीसा और छोटा नागपुरकी अधित्यकामें विलीन हो जाते हैं। उत्तर और दक्षिणके बीचमें वास्तविक व्यवधान यही है जिसका लंघन अत्यंत दुष्कर था।

उस युगमें दक्षिण और उत्तरके बीच संबंधका मार्ग केवल समुद्रकी तटीय भूमि थी अथवा समुद्रका जल-मार्ग। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इन्हीं कारणोंसे दक्षिण और उत्तर भारतमें स्वतंत्र साम्राज्योंका उदय हुआ, स्वतंत्र परम्पराएँ बनीं और स्वतंत्र इतिहासकी रचना भी हुई।

पर नर्मदाके तटसे जबलपुरके पास एक संकीर्ण मार्गने उस युगमें उत्तर-दक्षिणके बीच गमनागमन सम्भव बना दिया था। नर्मदा पार करते ही उत्तरमें यह मार्ग चन्देल-साम्राज्यमें प्रवेश करता था। राष्ट्रकूटोंने संभवतः इसी मार्गसे विंध्यमेखला पार करके उत्तरी भारतपर चढ़ाई की थी।

मध्यभारत और उत्तर प्रदेशमें मार्ग-संबंध

जेजाभुक्तिका प्रांगण मध्यभारत था। उत्तरमें उसका संबंध केवल दो विशिष्ट मार्गोंसे था—एक तो बेतवा नदीके साथ आधुनिक झाँसी जिलेसे होकर दूसरा मैहर रियासतसे होकर। यह पहले मार्गसे अपेक्षाकृत कुछ अधिक पहाड़ी था।

इतिहासपर प्रभाव

मध्यभारतकी इस असामान्य भौगोलिक स्थितिने यहाँकी इतिहास-रचनापर पर्याप्त नियंत्रण रक्खा था। चारों ओर सीमापर पहाड़ोंके ऊँचे प्राचीर होनेके कारण यह उन दिनों सभी बाहरी आक्रमणोंसे सुरक्षित था। उत्तर-पश्चिमसे

जिन आक्रमणोंका प्रबल प्रभंजन गंगा-यमुना, पंजाब और राजपूतानेमें बार-बार नित-नूतन चित्रपट बनाता रहा उनका यहाँ नगण्य प्रभाव था। इसका एक मात्र रहस्य यहाँके प्राकृतिक सौष्ठवमें है। कभी-कभी वेगवती हिलोरें तो बिहार पार कर जाती थीं पर यहाँ उनका प्रकंपन-मात्र एकाध बार ही पहुँच पाया—वह भी निस्तेज और प्रभावहीन होकर।

भीतरी बनावटने भी सुरक्षाकी व्यवस्थामें प्रोत्साहन दिया। कालंजर और अजयगढ़ जैसे अनेक अजय पहाड़ी दुर्गोंके निर्माणसे चन्देलोंका साम्राज्य किसी भी आक्रमणके निरोधके लिए सर्वदा तैयार था। तुर्कोंतककी अदम्य शक्तिको यहीं निराश होना पड़ा।

इस प्रदेशके पुष्ट और कठोर जलवायुने यहाँ बसनेवालोंको कठोर श्रमके लिए बाध्य किया। भूमि प्रायः वनाच्छादित, पठारी और कृषि-कर्मके लिए अनुपयुक्त है, इसलिए कठोर उद्यमसे ही जीविकोपार्जन सम्भव हुआ। अतः देशके इस भू-भागने सर्वदा उपयुक्त सैनिक प्रदान करनेका कार्य किया। यही नहीं, इस ऐकान्तिक भौगोलिक प्रदेशमें एक विशेष सामाजिकता, भारतीय संस्कृति-सरणिमें अनिर्लिप्त धारा, कलाके प्रति मञ्जुल दृष्टि-कोण तथा परंपराके प्रति आडंबर-विहीन सादगीसे आपूर्ण अवस्था पाई जाती है जो निस्सन्देह देशके किसी भी अन्य भागमें दुर्लभ है। इसका एक-मात्र कारण यहाँकी ऊपर वर्णित भौगोलिक स्थिति है।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि चन्देलोंका प्रादुर्भाव और उत्थान इसी प्रदेशमें हुआ और प्रकृतिने उनकी इतिहास-रचनामें भरपूर सहयोग दिया। चन्देलोंने यद्यपि मध्यभारतके अन्यकालीन शासकोंकी अपेक्षा यहाँकी परिस्थितियों तथा प्रकृतिका कहीं अधिक उपयोग किया तथापि यहाँकी अक्षय निधि आज भी अस्पृष्ट है। ये सभी बातें अगले अध्यायोंमें क्रमशः सुस्पष्ट होंगी।

अध्याय २

चन्देल-वंशकी उत्पत्ति

इसमें सन्देह नहीं कि कतिपय अन्य राजपूत-वंशोंकी भाँति चन्देलोंकी उत्पत्ति अस्पष्ट और दुर्बोध है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि परम्परा और उत्कीर्ण लेख दोनों इस विषयमें एकमत हैं कि इस वंशका संबंध 'चन्द्र' (प्राचीन चन्द्रवंश) से है। किन्तु परम्परा और उत्कीर्ण लेखों-द्वारा निर्धारित इस वंशके संस्थापकोंमें इतना व्यापक अंतर पड़ता है कि वह विभिन्न विद्वानोंमें मतभेदके लिए अवसर प्रदान करता रहता है। इसी कारण अनेक सिद्धान्तोंका प्रादुर्भाव भी हो गया है। कथाकार ऐतिहासिकों-द्वारा परम्परागत प्राप्त सामग्रीकी यदि परीक्षा की जाय तो यह जानकर बड़ी निराशा होगी कि किन्हीं भी दोके विवरण परस्पर मिलते नहीं हैं, यद्यपि सब कथानकोंका संदर्भ चन्दबरदाईसे प्राप्त बतलाया जाता है। कुछ विवरण तो इतने भिन्न रूपोंमें मिलते हैं कि उन्हें देखकर यह पहचानना भी कठिन हो जाता है कि ये सब एक ही कथाकी ओर उन्मुख हैं।

महोबासे प्राप्त परम्परा और अनुश्रुतियाँ

लोकप्रसिद्ध परम्पराके अनुसार चन्देलोंकी उत्पत्ति हेमावतीके गर्भसे हुई। हेमावती काशीके गहड़वार राजा इन्द्रजित्के पुरोहित हेमराजकी कन्या थी। वह बड़ी ही रूपवती थी। एक दिन जब वह रति-सरोवरमें स्नानके लिए गई तो चन्द्रमाने उसके रूपपर आकृष्ट होकर उसका आलिंगन कर लिया। जब वह आकाशकी ओर लौटने लगा तब हेमावती व्यथित होकर शाप देनेके लिए उद्यत हुई। चन्द्रमाने रोककर कहा, "देवि, तुम शाप क्यों दे रही हो ? इस गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होगा वह धरणीका शासक होगा और उससे अनेक राजवंशोंकी शाखाएँ निकलेंगी।"

हेमावतीने त्यौरी बदलकर कहा, "मैं एक अविवाहिता कन्या, भला मेरे इस स्खलनका कलंक कैसे धुलेगा ?" चन्द्रदेवने कुछ निकट आकर कहा, "भयातुर और चिन्तित न हो। तुम्हारा वह यशस्वी पुत्र कर्णावतीके तटपर उत्पन्न होगा। फिर उसे तुम खजुराहो ले जाना और उसे देव-प्रसाद समझना। वह महोबा (महोत्सव नगर) में एक यज्ञ सम्पादित करेगा। फलस्वरूप वह वहाँका शासक बनेगा तथा उसका प्रभाव भी बढ़ जायगा। उसे एक पारस मणि प्राप्त होगी जिससे कुधातुओंको भी वह स्वर्ण बना लेगा। कालंजरके दिव्य पर्वतपर वह एक दुर्गका निर्माण करेगा। हाँ, यह ध्यान रखना कि जब तुम्हारा यह गौरवशाली पुत्र सोलह वर्षका हो जाय तब तुम भाण्ड यज्ञका अनुष्ठान करना, जिससे तुम्हारा यह कलंक

धुल जाय। तत्पश्चात् तुम बनारसका परित्यागकर कालंजर पर्वतपर निवासके लिए चली जाना।"[1] यह कहकर चन्द्रमा अंतर्धान हो गये।

यह भविष्यवाणी सत्य उतरी। वैशाख शुक्ल एकादशी, शुभकारी दिन सोमवारको मंगलमय मुहूर्त्तमें कर्णावती, आधुनिक कयान या केन (यूनानियोंके कैनस) के तटपर हेमावतीके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह रूप और प्रतिभामें द्वितीय चन्द्रमा ही जान पड़ता था। पूरे देवसमाजके साथ चन्द्रमा वहाँ प्रकट हुए। उन्होंने उस बालककी जन्मकुण्डली बनाई और उसका नाम चन्द्रवर्मा रखा। सोलह वर्षकी अवस्था प्राप्त करनेपर चन्द्रवर्माने एक दिन अकस्मात् एक सिंहका वध किया। इससे चन्द्रदेव बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने प्रकट होकर उस कुमारको पारस मणि प्रदान की, साथ ही उसे राजनीतिकी शिक्षा भी दी। चन्द्रवर्माने कालंजरमें एक दुर्गका निर्माण किया; तत्पश्चात् खजूरपुर (खजुराहो) पहुँचकर और एक यज्ञकी प्रतिष्ठा की। वहाँ उसने पचासी देवालयोंका निर्माण कराया।

फिर क्या था, मंगल-बधाइयाँ बजने लगीं। हेमावतीकी सेवामें उसकी समस्त पुत्र-वधुएँ जुटी रहती थीं। अंतमें चन्द्रवर्माने महोबा (चन्द्र-महोत्सवका एक पावन स्थान) पहुँचकर उसे अपनी राजधानी बनाया।

जनश्रुतिसे ज्ञात होता है कि चन्द्रमाने हेमावतीसे यह भी बतलाया था कि तुम्हारी संतान तभीतक ऐश्वर्यका अबाध भोग करती हुई निरंतर राज्य-श्रीको करतलगत रक्खेगी जबतक वह निम्नाङ्कित चार नियमोंका अनुगमन करती रहेगी—

१. सुरापान नहीं करना।
२. ब्रह्म-हत्या नहीं करना।
३. अनुचित संबंध नहीं करना।
४. 'वर्मा' नाम धारण करते रहना।

कहा जाता है कि दुर्भाग्यवश राजा परमर्दिदेवने, जिसे पहले पृथ्वीराज चौहानने फिर मुसलमानोंने पराजित किया, ये चारों नियम भंग कर दिए।[3] उसने सुरापान किया, ब्रह्म-हत्या भी की, अपनी ही बहनसे अनुचित संबंध भी किया और 'वर्मा' नामका परित्याग भी कर दिया।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त जनश्रुतियोंमें लोगोंको आजतक दृढ़ विश्वास है। इस लोकव्यापी परम्परासे, जिसे अधिकांशतः पुरावृत्त लेखकोंका भी समर्थन प्राप्त है, स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि चन्देलोंकी उत्पत्ति गहड़वार पुरोहित हेमराजकी कन्या हेमावतीसे हुई। इस कथनका राजनीतिक मूल्य विशेष

---

१. ए० एस० आर०, भाग २, पृ० ४४५
२. ए० एस० आर०, भाग २, पृ० ४४६
३. वही, भाग, २१, पृ० ७०–७१

है। महोबाके कानूनगो परिवार-द्वारा रक्षित वंशावलीसे ज्ञात होता है कि चन्द्रवर्माने बुन्देलखण्डके परिहारोंको राज्यच्युत किया था।[1]

अभिलेखोंमें सुरक्षित परम्परा

किन्तु ऐसी लोक-विश्रुत उपर्युक्त परम्पराका थोड़ा भी प्रतिपादन अभिलेखोंसे नहीं होता। चन्देल शासकोंके राजकीय शासन-पत्रोंमें सुरक्षित वंशावलीमें चन्द्रवर्माके नामका सर्वथा लोप है। इस वंशकी उत्पत्तिके संबंधमें चर्चा करनेवाले अभिलेखोंमें सबसे प्राचीन महाराजा धंग (वि० सं० १०११) के खजुराहो-शिलालेखमें, वंश-संस्थापकके संबंधमें 'श्री ब्रह्मेन्द्र मुनिके महनीय वंश' का उल्लेख किया गया है। परिचय देते हुए वह लेख यशोवर्माके पूर्वजोंका विवरण इस प्रकार देता है[2]—"विश्वके रचयिता, प्राचीन पुरुष, पवित्र ज्ञानके निलय उस मुनिसे मरीचि आदि विमल चरित्रवाले प्राक् मुनियोंका प्रादुर्भाव हुआ। उनमें अत्रिसे सहजोज्वलतर ज्ञान-प्रदीप, मुनि चन्द्रात्रेयकी उत्पत्ति हुई जिसने अपनी अविराम तपस्यासे तीव्र प्रभाव अर्जित किया[3]। जो संसृतिके क्षेत्रका कारण हो और जिसमें सभी विज्ञान सन्निहित हों उससे उद्भूत वंश निश्चित ही प्रशंसाका पात्र है। इस वंशमें किसीके शौर्यने न तो उद्वेग उत्पन्न किया न चाटुकारिताने उल्लासातिरेक। इसमें दौर्बल्यकी छाया भी नहीं आई और अभीष्ट-प्राप्तिके लिए यहाँ किसीके स्वामित्वका विनाश भी नहीं सोचा गया। इस वंशके निष्कलंक कीर्तिवाले नृपतियोंमें सम्पूर्ण वसुन्धराके पालन और संहारकी शक्ति थी। उन्होंमें पुण्यश्लोक नन्नुक थे जो मानो क्षात्र-दर्प-रूपी स्वर्णकी परखके लिए निकष (कसौटी) थे (तत्र क्षत्रसुवर्णसारनिकषग्रावा)"।

इस प्रकारके विरुदके साथ खजुराहोके अभिलेखने इस वंशकी उत्पत्तिके संबंधमें निम्नांकित विवरण प्रस्तुत किया है।[4]

---

१. ज० ए० एस० बं०, १८८१, भाग एल० पृ० ३। इस घटनाका समय संवत् ६७७ दिया गया है।

२. ई० आइ०, भाग १, पृ० १२८

३. ई० आइ०, भाग १, पृ० १२७

तस्माद्विश्वसृजः पुराणपुरुषादाम्नायधाम्नः कवेर्येऽभूवन्मुनयः पवित्रचरिताः पूर्वे मरीच्यादयः। तत्रात्रिः सुषुवे निरन्तरतपस्तीव्रप्रभावं सुतं चन्द्रात्रेयमकृत्रिमोज्ज्वलतरज्ञान-प्रदीपं मुनिम्॥ अस्ति स्वस्तिविधायिनः स जगतां निःशेषविद्याविदस्तस्यालोपनता-खिलश्रुतिनिधेर्वंशः प्रशंसास्पदम्॥

ई० आई०, भाग १, पृ० १२७; (खजुराहोके लक्ष्मीजीके मंदिरसे)—आ० स० रि०, भाग २, पृ० ४४१।

४. डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ इण्डिया, भाग २, पृ० ६६६।

विश्वसृक् पुराण पुरुष (विश्वके रचयिता, प्राचीन पुरुष)
|
मुनि मरीचि, अत्रि आदि
|
मुनि चन्द्रात्रेय (अपनी अविराम तपस्यासे जिसने तीव्र प्रभाव अर्जित किया)
|
नृपति भूभुजाम् (जो सम्पूर्ण वसुन्धराका विनाश और उसकी रक्षा कर सकते थे)।
|
इसी वंशमें नन्नुक
|
वाक्पति

और लेखोंमें थोड़ी-सी भिन्नता मिलती है जैसे कोक्कल (वि० सं० १०५८) के खजुराहो-शिलालेखमें यह विवरण मिलता है :—प्रथमतः अत्रि; उनके नेत्रसे चन्द्रमा; उनका पुत्र मुनि चन्द्रात्रेय; तदनन्तर इसी वंशमें नन्नुक[1] भी हुए। ताम्र-पत्र तो अधिकांश 'चन्द्रात्रेयनरेन्द्राणां वंश' की स्तुतिसे ही विवरण प्रारम्भ करते हैं[2]। महोबाके एक खंडित अभिलेखमें तो वंशावली इस प्रकार प्रारम्भ की गई है—"रजनी-वल्लभसे एक वंशकी उत्पत्ति हुई जो सबका प्रिय बना"। उस सुरक्षित खण्डमें कहीं भी चन्द्र या चन्द्रात्रेय शब्द नहीं आते[3]। सामान्य रूपसे पहलेके सब उत्कीर्ण लेख चन्द्रात्रेय-वंशकी ही चर्चा करते हैं। किन्तु यशोवर्मन्के पौत्र देवलब्धिके दुधहोके शिलालेखमें इस वंशको चन्द्रेलान्वय (चन्द्र और इलाकी सन्तान) कहा गया है। इसमें सन्देह नहीं कि आगे चलकर इसी चन्द्रेल शब्दसे चन्देल शब्द निकला है। जिससे यह भी स्पष्ट होता है कि चन्द्रकी पत्नी इला रही होगी और उन दोनोंके नामसे वंश प्रसिद्ध हुआ होगा।

किलहौर्नको यह सन्देह हो गया था कि 'चन्द्रात्रेय' शब्द वास्तवमें 'चन्देल' शब्दका संस्कृत रूप है जो आगे चलकर प्रयुक्त हुआ। पर यह भ्रम-मात्र था। 'चन्द्रेला' शब्द तो संस्कृतमें बराबर प्रयुक्त हुआ ही है। इस शब्दका 'चँन्देल्ल' रूप कीर्त्तिवर्मन्के देवगढ़-शिलालेखमें[4] और इसका 'चन्देल्ल' रूप कलचुरी राजा लक्ष्मीकर्णके बनारसके दानपत्रमें मिलता है[5]। इसका 'चन्देल' रूप चौहान पृथ्वीराजके मदनपुर अभिलेख (वि० सं० १२३९) में मिलता है।[6] हाँ, चन्द्रात्रेय शब्दसे इस शब्दका वैज्ञानिक संबंध अवश्य है।

---

१. ई० आई०, भाग १, पृ० १३७
२. वही, भाग १६, पृ० ९
३. वही, भाग १, पृ० २१७
४. आई० ए०, भाग १८, पृ० २३७
५. ई० आई० भाग २, पृ० ३०६
६. ए० एस० आर०, भाग २१, पृ० १७४

उपर्यङ्कित रूपान्तरोंसे दो तथ्य सामने आ रहे हैं। पूर्ववर्ती उत्कीर्ण लेखोंसे यह तात्पर्य निकलता है कि इस वंशकी उत्पत्ति अत्रि और चन्द्रात्रेयसे हुई है। परवर्ती उत्कीर्ण लेख यह प्रकट करते हैं कि इस वंशका प्रादुर्भाव चन्द्रात्रेयसे ही हुआ। वे चन्द्रात्रेयके पूर्वपुरुषोंका प्रसंग भी नहीं लाते। वास्तवमें चन्देल्ल, चन्द्रेल और चन्देल सब चन्द्रात्रेयके ही विभिन्न रूप हैं जो वंशके संस्थापक थे। यह गौरवका विषय समझा गया कि वंशका नाम उसके संस्थापकके ऊपर ही रक्खा जाय[1]। पिछले उत्कीर्ण लेखोंमें अत्रिकी अनुपस्थितिका सहज कारण वंशावलीके विस्तृत होनेका भय ही है। इसके पश्चात्के अभिलेखोंकी वंशावलीमें तो चन्द्रात्रेयको भी छोड़ दिया गया है और वंशके चौथे महाराज नन्नुकसे ही प्रारम्भ किया गया है पर वंशकी प्रतिष्ठा के उद्बोधनमें उसका स्थान महत्त्वशाली है।

उत्पत्तिके संबंधमें ऐतिहासिकोंका मत

लोक-विश्रुत परंपरा और अभिलेखोंमें अंकित परंपराके बीच कोई समन्वय किए जानेसे पूर्व चन्देलोंकी उत्पत्तिके संबंधमें गण्यमान्य विद्वानोंके मतोंकी समीक्षा वांछनीय है।

स्मिथ तथा वैद्यके मतोंका विस्तृत वर्णन

कुछ तो ऐसे विद्वान् हैं जिनकी दृढ़ धारणा है कि चन्देलोंका उद्भव निम्न जातियोंके बीचसे हुआ। श्री वी० ए० स्मिथ स्पष्ट रूपसे इस धारणाको व्यक्त करते हैं कि चन्देलोंका उदय गोंड़ोंसे हुआ, जिनमें समान सभ्यतावाली कुछ और जातियोंका भी मिश्रण था। इस धारणाकी पुष्टिका आधार उनके पास यह है कि खजुराहोके चन्देल जमींदार अपनी उत्पत्ति मनियागढ़से बतलाते हैं, जो खजुराहोसे थोड़ी ही दूरीपर केनके तटपर है। इस विश्वासके पीछे मनियादेवीका, चन्देलों-द्वारा कुलदेवीके रूपमें पूजा जाना स्वाभाविक है, जिनके नामपर मनियागढ़ बना। जब नवीं सदीके प्रारम्भमें चन्देलोंने महोबाको अधीन किया तब अपने साथ वे मनियादेवीकी पूजा भी लेते आए। मनियादेवी गोंड़ोंकी कुलदेवीकी या तो प्रतिरूप हैं या वही हैं। मि० स्मिथने इस विचारकी पुष्टिमें और कहा है कि 'कवि चन्दबरदाईने मनियागढ़को गोंड़ शासकोंका गढ़ माना है।' इस आधारपर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि चन्देल निश्चित ही आदिमवासियोंकी संतान हैं, वे आदिम-वासी चाहे भर हों या गोंड़[2]।'

श्री डी० एल० ड्रेक ब्रौकमैनने ठीक स्मिथके विचारोंका अनुसरण करते हुए उनके ही मतकी पुष्टि की है किन्तु कोई नवीन तर्क या प्रमाण उन्होंने नहीं प्रस्तुत किया। उनका विश्वास है 'कि चन्देलोंकी ठीक उत्पत्ति तो अज्ञात ही है।' पर ऐसे निर्देश तो मिले ही हैं जिनसे व्यक्त होता है कि चन्देल खजुराहो और

१. ई० आई०, भाग १, पृ० १३७।

२. आई० ए०, १९०८, भाग ३७, पृ० १३६-१३७।

मनियागढ़के पास गोंड़ोंसे लगभग नवीं सदीमें निकले[1]। उनके तर्कके मूलको देखनेसे ज्ञात होता है कि उनके पास कोई गम्भीर या नवीन प्रमाण नहीं है। इस प्रकारके मत किसी अन्य विद्वान्-द्वारा भी नहीं प्रकट किये गये हैं।

किन्तु कुछ ऐसे इतिहासज्ञ हैं जो चन्देलोंके निम्न उद्गमसे उत्पन्न होनेके मतको स्वीकार नहीं करते। उनके विचार केवल कल्पना अथवा सामान्य जनश्रुतिपर ही नहीं आश्रित हैं वरन् अभिलेखोंमें अंकित कथनोंके विश्लेषणपर टिके हैं। ऐसे विद्वानोंमें डॉ० हेमचन्द्र राय[2] और श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य[3] प्रमुख हैं। डॉ० रायने चन्द्रवर्माको नन्नुकका विरुद-मात्र मानकर जनश्रुतियों और अभिलेखोंके बीच समन्वय स्थापित किया है। इस पद्धतिपर वही निष्कर्ष निकलता है कि चन्देल आदिमवासियोंके नहीं अपितु क्षत्रिय जातिके वंशज हैं। श्री वैद्यने स्मिथके तर्कोंका खण्डनकर एक नवीन विचार-धारा प्रवाहित की है। उनका कथन है कि चन्देल वंशका यह नाम गोत्र-नाम ही है। प्राचीन ब्राह्मणों और कुछ सीमातक क्षत्रियोंमें यह परम्परा प्रचलित थी कि गोत्र-नामको ग्रहणकर वंशका नामकरण कर लेते थे। यह नाम प्राचीन चन्द्रात्रेय गोत्रसे निकला है[4]। इस प्रकार उन्होंने ऐतिहासिक मानदण्डका हेतु-रहित प्रयोग किया है।

मतोंकी परीक्षा

इस वंशकी उत्पत्तिको लेकर दो प्रमुख विचार-धारायें प्रवाहित हुई हैं, जिनकी अलग-अलग परीक्षा आवश्यक है। आदिवासियोंसे उत्पत्तिकी विचारधाराकी पुष्टिमें प्रस्तुत की गयी उपपत्तिमें कोई बल नहीं है क्योंकि उसका आधार न तो लोकप्रिय जनश्रुतियोंमें है और न इस वंशके शासकोंके राजकीय विवरणोंमें। स्मिथका तर्क यह है कि 'चन्देलोंका प्रारम्भिक निवास मनियागढ़में था, जहाँ उनकी कुलदेवी मनियादेवीका वासस्थान है। क्योंकि मनियागढ़का संबंध गोंड़ सरदारोंसे है जो चन्देलोंके पूर्ववर्त्ती हैं, इसलिए चन्देलोंका गोंड़ोंसे जातिगत संबंध अवश्य रहा होगा। यह केवल एक अनुमान है। परन्तु मनियागढ़की देवीका मनियागढ़में निवास होते हुए भी गोंड़ोंसे कोई संबंध नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि मनियागढ़ गोंड़ोंका वासस्थान था; आगे चलकर चन्देलोंका भी वासस्थान बना। इतने मात्रसे ही यह तर्क निकालना कि चन्देल अवश्य ही गोंड़ोंके सजातीय हैं, वस्तुतः काल्पनिक है[5]। मनियागढ़में रहते हुए भी चन्देलोंका पूर्ववर्त्ती गोंड़ोंसे

---

१. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, यू० पी०, झाँसी, भाग २४

२. डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ नौर्थ इण्डिया, भाग २ पृ० ६६७–६६८

३. हिस्ट्री औफ़ मेडिवल हिन्दू इण्डिया, भाग २, पृ० १३०–१३३

४. हिस्ट्री औफ़ मेडिवल हिन्दू इण्डिया, भाग ३, पृ० १७६

५. चि० वि० वैद्यने स्मिथके मतकी विस्तृत परीक्षा का पूर्ण रूपसे खण्डन किया है। उसकी निःसारता प्रकट हो गई है। यहाँ केवल कुछ नवीन तर्क ही उपस्थित किये गये हैं। वही—पृ० १३०–१३३

कोई संबंध नहीं हो सकता है। इतना तो निश्चित है कि मनियागढ़में चन्देलों-का निवास गोंड़ोंके पश्चात्‌का है। जनश्रुतियोंकी यह बात तो वी० ए० स्मिथने स्वीकार की है कि चन्देलोंका संबंध गहड़वारोंसे था किन्तु शेष बातोंका परित्याग कर दिया है। और उतनेको ही लेकर अपनी कल्पनाको बल देना चाहा है। परन्तु स्मरण रखनेकी बात यह है कि वह आज भी विवादका प्रश्न है। यदि इसे मान भी लिया जाय तो जनश्रुतिके अनुसार चन्देलोंका संबंध गहड़वारोंसे नहीं, उनके ब्राह्मण पुरोहितकी कन्यासे सिद्ध होता है।

इसके अतिरिक्त अभिलेखों और अन्य प्रशस्तियोंमें जो महत्त्व एवं उच्च गौरवकी उक्तियाँ मिली हैं उनसे यही मानना पड़ता है कि चन्देल किसी निम्न उत्पत्तिके नहीं हैं। इस प्रकारके कथनोंकी सम्पुष्टि कतिपय ऐतिहासिक प्रमाणोंसे भी होती है। चन्देलोंके वैवाहिक संबंध उच्च और विशुद्ध क्षत्रियोंमें हुये हैं। इस वंशके 'सौंदर्यशाली शरीर और प्रखर बुद्धिवाले' छठे शासक श्रीहर्षने ही, विहित शास्त्रीय विधियोंके साथ समान जाति (सवर्ण) चौहान वंश-उत्पन्न एक उपयुक्त कन्या कंचुकाका पाणिग्रहण किया था[1]। यहाँ 'सवर्ण' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। अब यह नितान्त स्पष्ट और सन्देहरहित है कि चौहान शुद्ध क्षत्रिय वंशकी संतान हैं। स्मिथ और जैक्सन[2] के ये मत कि 'चौहान और अन्य अग्निकुलके क्षत्रिय सामान्यतया विदेशी हूण आदि जातियोंसे निकले हैं', अब सर्वथा अमान्य हो गये हैं। वस्तुतः तथाकथित निम्न उत्पत्तिके चन्देल चौहानोंके समान उच्चवंशीय क्षत्रियोंसे वैवाहिक संबंध नहीं कर सकते थे। इससे फल यह निकलता है कि चन्देलोंपर सीधे आदिवासियोंसे उत्पन्न होनेका जो आरोप कुछ विद्वानोंने लगाया है वह निराधार और काल्पनिक है।

इस बातका कोई कारण नहीं दिखलाई पड़ता कि इस प्रश्नपर क्यों न सहज रूपसे विचार किया जाय और निश्चयपर पहुँचा जाय। सहज प्रक्रियासे परीक्षण करनेपर यह विदित होता है कि विद्वानोंको जिस बातने असाधारण रूपसे निम्न उत्पत्तिकी ओर झुकाया वह थी राजपूत जातियोंकी पूर्व-मध्यकालमें एकाएक उत्पत्ति––वह भी अपरिचित नामों और विरुदोंके साथ, जिनका कोई भी स्पष्ट संबंध प्राचीन क्षत्रिय-वंशोंसे नहीं लक्षित होता। किन्तु यह भारतीय वर्ण-व्यवस्थाकी विकास-पद्धतिसे विपरीत नहीं है। हिन्दू-समाजमें उपजातियोंके विकासमें उपजातियोंके ऐसे अश्रुतपूर्व नामोंका आना एक सामान्य घटना है। एक बात और है। यदि स्मिथके मतको हम कुछ समयके लिए मान भी लें कि 'अग्निकुलवाले विदेशी जातियोंसे निकले हैं और चन्देल आदि आदिवासियोंसे', तो एक विलक्षण

---

१. धंगका खजुराहो-स्थित पत्थर अभिलेख–––ई० आई०, भाग १, पृ० १३२, श्लोक २३:–सवर्णचाहमानकुलोद्भवां सोऽनुरूपां सरूपाङ्गां कञ्चुकाख्यामकुण्ठधीः।

२. बंबईका गज़ेटियर, भाग १, १८९६, पृ० ४६८

प्रश्न यह उठता है कि प्राचीन क्षत्रिय राजवंश क्या हुए? क्या वे सबके सब कालके गम्भीर सागरमें अचानक ही डूब गये?

चन्देलोंके संबंधमें निम्न उत्पत्तिका सिद्धान्त काल्पनिक है, यह बात सिद्ध है। अब विचारणीय यह है कि जनश्रुति और राजकीय परंपराके समन्वयसे सत्यकी स्थापना कैसे हो। जनश्रुतियोंमें दो बातोंपर विशेष बल दिया गया है--१. चन्द्रमासे उत्पत्ति दिखाकर चन्द्रवंशी क्षत्रियोंसे वंशगत संबंध और २. ब्राह्मण मातृपक्ष दिखाकर गौरवकी वृद्धि[1]। जनश्रुतियाँ सर्वथा विश्वसनीय नहीं होतीं। वे तो एक ऐसी नदीके समान हैं जिसमें युग-युगकी अनन्त धारायें आ-आकर अपना जल भरती रहती हैं। मौलिक धाराका रूप भी तो बदल ही जाता है। कभी-कभी तो पहचानना भी दुष्कर हो जाता है। पर उनकी मूल इकाईका विलोप नहीं होता। उनकी परख और पहचान अन्य ऐतिहासिक सामग्रियोंके बीच की जा सकती है। यही उनकी सार्थकता है। चन्देलोंकी उत्पत्तिके संबंधमें जितनी भी जनश्रुतियाँ हैं, सबका एक निःसंदिग्ध आग्रह यह है कि चन्देलोंका रक्त-संबंध चन्द्रवंशी क्षत्रियोंसे है और मातृपक्ष भी महान् है। उनकी समस्त सामग्रीसे केवल यही लिया जाना तर्कसंगत है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि इस तथ्यकी रक्षा युगोंसे आजतक जनश्रुतियाँ अनेक विकृत कथाओं-द्वारा करती आ रही हैं। इसकी उपेक्षा कदापि उचित नहीं कही जा सकती।

चन्देल : प्राचीन क्षत्रियोंके वंशज

वस्तुतः यह निर्विवाद समझना चाहिए कि परंपरागत जनश्रुति और उत्कीर्ण लेखोंका एक ही आग्रह है कि चन्देल-वंशका संबंध चन्द्रमासे है--उस व्याजसे विख्यात चन्द्रवंशसे। उपर्युक्त प्रमाणोंसे यह भी सिद्ध हो गया कि चन्देलोंके विरुद, उनके लेखोंके कथन एवं चौहान आदि विशिष्ट क्षत्रियोंका संबंध सब सनातन क्षत्रिय वर्णसे उनके संबंध बतलाते हैं। जनश्रुतियोंके अनुसार इस वंशकी स्थापना खजुराहोमें हुई थी, यही शिलालेख एवं ताम्रपत्र भी उद्धृत करते हैं। इस कथनकी पुष्टि तत्कालीन अरब इतिहास 'कामिल' से भी होती है। इसके अनुसार इस वंशका प्रथमतः संबंध खजुराहह् से था[2]। कामिलके अभिलेखोंसे किसी कथनका विरोध नहीं पड़ता। जनश्रुति और अभिलेखोंके बीच समन्वय लाकर नन्नुककी आसन्न तिथि निर्धारण करके कनिंघमने लेखोंके कथनकी पुष्टि की गई है[3]। जब अभिलेखोंकी बातोंकी प्रामाणिकता अन्य कसौटियोंसे भी ठीक उतरती है, तब उनके विपरीत अप्राकृतिक रूपसे सोचनेका कोई प्रयोजन नहीं। कोई ऐसा ऐतिहासिक प्रमाण भी नहीं मिलता जो खजुराहोके राजकीय प्रशासनको चुनौती देता हो या विरोधमें पड़ता हो।

---

१. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, उ० प्र०, हमीरपुर, भाग २२, पृ० १२६
२. टी० के० ए० बुलक, १८७४, भाग ६, पृ० ११५–१६
३. ए० एस० आर०, भाग २, पृ० ४४७

इसके अतिरिक्त चन्देल शासकोंकी उत्तराधिकारिणी वर्तमान गिद्धौरकी राजमातासे जो सामग्री मिली है वह भी प्राप्त लेखोंकी पुष्टि ही करती है[1]। सबका सहज विश्वास है और उनके लेखपत्रसे भी अभिव्यक्त होता है कि वे चन्द्रवंशी क्षत्रिय हैं।

अब प्रश्न यह है कि क्या जनश्रुतियोंका चन्देलवंश-संस्थापक चन्द्रवर्मा कोई ऐतिहासिक व्यक्ति था? यदि नहीं था तो 'वर्मा' या 'वर्मन्' का विरुद इस वंशके अत्यधिक शासकोंने कैसे धारण किया? इस वंशके संस्थापकके दो रूप मिलते हैं। जनश्रुति उसे चन्दवर्मा या चन्द्रवर्मन् कहती है और अधिकांश अभिलेख मुनि चन्द्रात्रेयको ही इसका संस्थापक स्वीकार करते हैं और उसीसे वंशावली प्रारम्भ करते हैं। खंडित महोबा-लेख तथा सब ताम्रपत्र अत्रि मुनिके अनुगामी और उत्तराधिकारी मुनि चन्द्रात्रेयको ही जो इस वंशका संस्थापक मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि चन्द्रात्रेय ही अनुश्रुतियोंका चन्द्रवर्मा था। चन्द्रात्रेय ही आगे चलकर जनश्रुतियोंमें 'चन्द्र' कहा जाने लगा, जिसमें सूतकारोंने इस वंशका प्रिय विरुद 'वर्मा' या 'वर्मन्' मिला लिया। चन्द्रात्रेयका आत्रेय स्वाभाविक रूपसे छोड़ दिया गया। इसी प्रकार 'चन्द्रात्रेय' लोकगीतों एवं अनुश्रुतियोंमें 'चन्द्रवर्मा' के रूपमें आ गया। डॉ० हे० चं० रायने 'चन्द्रवर्मा' को 'नन्नुक' का विरुद-मात्र माना है[2]। 'चन्द्रवर्मा' तो जनश्रुतिके अनुसार इस वंशका संस्थापक था। पर अभिलेखोंके अनुसार नन्नुक इस वंशका संस्थापक नहीं था। हाँ, उसके समयमें इस वंशकी श्रीवृद्धिमें चार चाँद अवश्य लगे। डॉ० रायके इस कथनको स्वीकार करनेसे तो चन्द्रात्रेयके व्यक्तित्वकी ही समाप्ति हो जायगी, जो इतिहासको कदापि अभीष्ट नहीं। तात्पर्य यह कि इस वंशका संस्थापक चन्द्रात्रेय अनुश्रुतियोंका चन्द्रवर्मा ही था, अन्य कोई नहीं।

चन्द्रात्रेय संज्ञा सार्थक है और प्रयोग दुहरा है। रघुवंशके प्रसंगमें बतलाया गया है कि अत्रिके नेत्रसे चन्द्रमाकी उत्पत्ति हुई है[3]। इस कारण स्वयं चन्द्र ही आत्रेय है। चन्द्रसे इस वंशका संबंध है। इसलिए चन्द्रके गोत्र आत्रेयको भी लगाकर इस वंशको ही चन्द्रात्रेय कहा गया है और वंशके प्रथम पुरुष अथवा संस्थापकका नाम भी चन्द्रात्रेय प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार चन्द्रात्रेय कहीं तो इस जातिको बोधक रूपमें प्रयुक्त हुआ है और कहीं वंशके प्रथम पुरुषके लिए व्यक्ति-बोधक रूपमें। इस मर्मको ध्यानमें न रखनेसे कई स्थलोंपर इतिहासकारोंने भूल कर दी है।

---

१. गिद्धौर वर्तमान मुंगेर जिलेमें एक राज्य है। यह चन्देलवंशीय शासकोंका वास्तविक उत्तराधिकारी है। यहाँ कुछ ऐतिहासिक सामग्री भी मिली जिससे तथ्योंकी और पुष्टि होती है।

२. डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ नदर्न इण्डिया, भाग २, पृ० ६६७

३. रघुवंश, सर्ग २, श्लो० ७५

स्थापनाकी तिथि

इस वंशकी स्थापनाकी तिथि विभिन्न साधनोंसे भिन्न-भिन्न ज्ञात होती है[1]।

१. २२५ महाकवि चन्दबरदाईके महोबा-खण्डकी एक प्रतिसे।

२. २०४ चन्देलोंके एक उत्तराधिकारी श्रीबहादुरसिंहसे।

३. ६६१ महोबाके प्रमुख चारणसे।

४. ६८२ धर्मदास कानूनगो-द्वारा कर्नल आर० आर० एलिसको दिया गया।

जनरल कनिंघम और कर्नल एलिसने इन तिथियोंको चन्देलोंकी स्थापनाके संबंधमें विभिन्न अवसरोंपर प्रस्तुत किया है। इतना तो निर्विवाद तथ्य है कि चन्देल-वंशका उत्थान लगभग ८०० ई० में या सम्भवतः कुछ और पश्चात् अर्थात् ई० स० ८०१ और ८१०के बीचमें हुआ। उसी तिथिको केन्द्र मानकर चन्देल राजवंशकी स्थापनाका काल स्थिर किया जा सकेगा। इस तिथिको आधार मानते ही यह निष्कर्ष निकलता है कि उपर्युक्त चारों तिथियाँ विक्रमीय संवत् नहीं हैं। डॉ० स्मिथ और जनरल कनिंघमने इन तिथियोंका संबंध चन्देल वंशके राजा नन्नुकसे जोड़ा है जो उचित नहीं। प्रथमतः तो इसलिए कि इन सब तिथियोंका संबंध आग्रह-पूर्वक एक ही व्यक्तिसे लगाया जाय यह आवश्यक नहीं। दूसरे इसलिए कि नन्नुक इस वंशका संस्थापक नहीं था। वह चन्द्रात्रेय (चंद्रवर्मा) था जैसी कि स्मिथकी धारणा है।

अभिलेखोंके अनुसार इस वंशका महान् शासक राजा धंग नन्नुकसे गिननेपर वंशावलीमें छठा पड़ता है। धंग निश्चित् ही वि० सं० १०११ (ई० स० ९५४) में शासन कर रहा था। किन्तु वह ई० स० ९९९ तक मरा नहीं था। अस्तु, उसका राज्यारोहण किसी भी प्रकार ई० स० ९५० से पहले नहीं रक्खा जा सकता। यदि प्रत्येक पीढ़ीके राजाको सामान्यतया २५ वर्षका राज्यकाल दिया जाय, जैसा कि अनेक ऐसे विवादोंके समय विद्वानोंने एकमत होकर दिया है, तो नन्नुकका सम्भाव्य राज्यारोहण-काल ई०स० ८०० ठहरता है। जनरल कनिंघमके इस सिद्धान्तको भी यदि मान्यता दी जाय कि भारतके शासकोंका तिथिक्रम २० और ३० वर्षोंके बीचमें घटता-बढ़ता रहता है, तो यही निश्चय हुआ कि नन्नुकका राज्यारोहण ई० स० ८०० से लगभग ३० वर्ष पहले या पीछे हुआ होगा। अभिलेखोंकी कसौटीसे ये ही तिथियाँ निकलती हैं।

उपर्यंकित चारों तिथियोंका संबंध किन भारतीय संवत्सरोंसे है, जिनका तादात्म्य अभिलेखोंकी तिथियोंसे हो सके और ऐतिहासिक क्रममें बाधा न पहुँचे, इसका ध्यान रखते हुए बहुत सुरक्षित रूपसे इनका समीकरण किया जाना चाहिए। प्रथम दो तिथियाँ २०४ और २२५ तो कन्नौजके हर्षके संवत्से गिनी गई हैं।

---

१. ए० एस० आर०, भाग २, पृ० ४४६

जनरल कनिंघमने भी इसीको ग्रहण किया है[1] जो क्रमशः ई० स० ८१० और ८३१ के बराबर है। शेष दो तिथियों ६६१ और ६८२ का समीकरण शक संवत्से किया जाय तो क्रमशः ई० स० ७३९ और ७६० प्राप्त होता है। उस समीकरणकी कसौटी उत्कीर्ण लेखों-द्वारा प्राप्त स्थिर तिथियाँ ही हैं। स्मिथने पिछली दो तिथियोंको नन्नुकके लिए बताना चाहा है इसलिए उनका तादात्म्य उन्होंने कलचुरी संवत्से किया है, यद्यपि उन्होंने स्वयं इस प्रयासकी अस्वाभाविकताको स्वीकार किया है। नन्नुकको संस्थापक मान लेनेपर ही शक संवत्से पिछली तिथियोंका तादात्म्य उन्हें बहुत अचिर जान पड़ा। चन्देलोंकी स्थापनाके संबंधमें कही गई ये चारों तिथियाँ इस प्रकार तुलती हैं—

१. २२५ (हर्ष) समान है ई० स० ८३१
२. २०४ (हर्ष) ,, ,, ८१०
३. ६६१ (शक) ,, ,, ७३९
४. ६८२ (शक) ,, ,, ७६०

इसमें भी ई० स० ८१० और ८३१ तो नन्नुकको संस्थापक मानकर उनके लिए कहे गए हैं। नन्नुक संस्थापक नहीं था, इसलिए ये तिथियाँ चन्देलोंकी स्थापनाकी नहीं हो सकतीं पर नन्नुकके राज्यारोहणका काल तो है ही। ऊपरके लेखोंके आधारपर नन्नुककी राजत्व-प्राप्तिकी तिथिसे ये मिलती-जुलती हैं। यह मत डॉ० स्मिथ और जेनरल कनिंघमसे भी तुल जाता है।

धंगके खजुराहो-शिलालेखमें इस वंशकी उत्पत्तिका विवरण इस प्रकार दिया गया है कि राजा नन्नुकके पूर्ववर्ती शासक भूभुजाम्[2] थे। भूभुजाम्का पूर्ववर्ती मुनि चन्द्रात्रेय था जिसने अपने व्यापक प्रभाव और अविराम तपस्यासे प्रभाव अर्जित किया। सामान्यसे थोड़ा अधिक राजत्वकाल यदि नृप भूभुजाम् और वंशके संस्थापक मुनि चन्द्रात्रेय—चन्द्रवर्माको प्रदान किया जाय तो क्रमशः ई० स० ७६० से ७९० नृप भूभुजाम्के लिए और ई० स० ७४० से ७६० तक मुनि चन्द्रात्रेयके लिए हम प्राप्त करते हैं। इस प्रकार शिलालेखोंके आधारपर मुनि चन्द्रात्रेय-द्वारा इस वंशकी स्थापनाकी तिथि लगभग ई० स० ७४० ठहरती है। पिछली दो शक तिथियाँ ६६१ और ६८२ (क्रमशः ई० स० ७३९ और ७६०) वस्तुतः चन्द्रात्रेयके ही राजत्वकालके लिए प्रयुक्त हुई हैं। अभिलेखों-द्वारा निर्धारित चन्द्रात्रेयकी तथि भी इससे तुलती हैं। अतः उत्कीर्ण लेखों एवं अन्य साधनोंसे इस वंशकी स्थापनाकी तिथि लगभग ७४० ई० ही निर्धारित होती है, इसमें सन्देह नहीं।

---

१. ए० एस० आर०, भाग २, पृ० ४४६–४७
२. यह पूरा नाम नहीं है।

अध्याय ३

शक्तिका राजनीतिक उत्थान

उत्तर भारतकी राजनीतिक स्थिति

हर्षके स्वर्गवास (सन् ६४७) के पश्चात् जिस इतिहासका प्रादुर्भाव इस देशमें हुआ उसमें राजनीतिक संभ्रम, अस्त-व्यस्तता और विकेंद्रीकरणकी भावनाका ही प्राबल्य हुआ। इस युगकी यही विशेषता रही। उसके विशाल साम्राज्यसे अलग होकर अनेक स्वतंत्र राज्योंका शीघ्रताके साथ उदय हुआ। इन राज्योंमें किन्हीं राजनीतिक सिद्धान्तोंको लेकर न तो परस्पर एकता थी न राष्ट्रीय संकल्पकी प्रेरणा। ये नितान्त परिमित दृष्टिकोणसे अपनी पृथक् सत्ताको अक्षुण्ण रखनेके लिए अहर्निश चिंतित रहते थे। इनकी विपुल शक्ति अधिकतर परस्पर युद्ध छेड़कर एक दूसरेको पदाक्रान्तकर अपना साम्राज्य-प्रसार करनेमें अथवा अपना नेतृत्व स्थापित करनेमें लगती थी। इस संघर्षमें ये इतने तल्लीन हुए कि अंताराष्ट्रिय राजनीतिसे दूर तो होते ही गये, अपनी आंतरिक राज्य-व्यवस्था भी न संभाल सकनेकी स्थितिमें आ गये। सीमाओंकी रक्षाकी इस सीमातक उपेक्षा हुई कि भारतकी महत्त्वपूर्ण पश्चिमोत्तर सीमापर अभूतपूर्व अराजकताका परिचय प्राप्त होने लगा। कोई ऐसी सार्वभौम सत्ता नहीं रही जो द्रुत गतिसे विघटित होनेवाले इस देशको एक छत्र-छायाके नीचे ला सके। किसीमें इस प्रकारके अनुष्ठान भी नहीं दिखाई पड़ते थे। जो कन्नौज वर्षोंसे एक सुसंघटित, केन्द्रीय व विशाल और प्रमुख राज्य था उसके भी पूर्व विघटित होनेवाले राज्योंके ऊपरसे गौरवकी धाक और छाप मिट रही थी। भारतीय इतिहासकी यह परम्परा मिलती है कि जब किसी सार्वभौम सुसंघटित और केन्द्रीय शासनका विलोप होता है तो द्रुत गतिसे देश छिन्न-भिन्न हो जाता है। सूर्यास्तके पश्चात् जिस प्रकार अमा टिमटिम प्रकाशवाली अनेक तारिकाओंको लेकर डेरा जमाती है उसी प्रकार उसके राजनीतिक गगनमें असम्बद्ध और विशृंखलित भावनाओंके साथ अनेक राज्योंका उदय होता है और सब मिलकर भी राजनीतिक कालिमाको नहीं हटा पाते।

देशकी वही दशा हुई जो सोलहवीं सदीमें जर्मनीकी हुई जिसमें सैकड़ों स्थानीय राज्य प्रतिष्ठित हो चुके थे। वे सब प्रकारसे अपनेको स्वतंत्र और एकाधिकारी समझते थे।

यह ध्यान देनेकी बात है कि इन राज्योंमेंसे किसीकी भी स्थिति पहले नहीं थी। बहुतोंका आविर्भाव तो उस राजनीतिक संभ्रमके कारण हो गया और उस अराजक स्थितिमें वे फैल गये। इस प्रकार उदित होनेवाले प्रमुख राज्योंका वर्णन

अलग-अलग करना आवश्यक है जिससे तत्कालीन भारतका वास्तविक चित्रपट उपस्थित हो जाय और फिर उसमें चन्देलोंके अस्तित्वका मूल्यांकन किया जा सके।

हर्षके पश्चात् उत्तरी भारतमें जिन राज्योंका प्रादुर्भाव हुआ उनको दो समूहोंमें विभाजित किया जा सकता है :--१. हिमप्रदेशके राज्य; २. आर्यावर्तके राज्य।

कश्मीर

हर्षके साम्राज्यांतर्गत तो नहीं हो सका परन्तु वहाँके शासकको महात्मा बुद्धका बहुमूल्य अवशेष भेंट करनेके लिए बाध्य होना पड़ा। ई० स० ६३१-३३ में जब ह्वेनत्सांगने कश्मीर-भ्रमणके लिए पदार्पण किया तब उसका हार्दिक स्वागत किया गया। सम्भवतः उस समयका शासक कर्कोटा वंशका दुर्लभ-वर्धन था। दुर्लभवर्धनके पश्चात् उसके तीन पुत्र--उदीयमान, ललितादित्य और मुक्तापीड़ क्रमसे गद्दीपर आसीन हुए। यह एक शक्तिशाली राजा था जिसने अपने भुजबलसे कश्मीरके प्राचीरोंके बाहर साम्राज्यका विस्तार किया और पार्श्ववर्त्ती राज्योंको अधीन कर लिया। उसने कन्नौजके यशोवर्मन्पर आक्रमण किया, वहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित किया और तिब्बत तथा भोटियोंके विरुद्ध युद्ध छेड़ा। मुक्तापीड़का पौत्र जयपीड़ भी उसीके समान प्रतिभा-सम्पन्न था। उसने राज्यश्रीकी और भी वृद्धि की और विश्व विजयके लिए प्रयाण किया, पर इसकी अधिक सूचना इतिहाससे नहीं मिलती। नवीं शताब्दिके प्रारम्भमें काकेशि-वंशके पराभवके पश्चात् उत्पल वंशकी स्थापना हुई। इसी वंशके राज्य-कालमें तुर्की शाहियोंको पदच्युत कर लल्लिय ब्राह्मणने हिन्दूशाही वंशकी स्थापना की। ये सन् १०२० तक शासन करते रहे, अंतमें मुस्लिम आक्रमणोंने इस वंशकी लीला समाप्त की।

नैपाल

नैपालका इतिहास प्राचीन समयसे ही स्वतंत्र रूपसे विकसित हुआ है। लिच्छवि-वंशका राज्य लगभग दूसरी शताब्दिसे सातवीं शताब्दितक चलता रहा। इस वंशका अंतिम शासक अपने चतुर मंत्री अंशुवर्मा-द्वारा पदच्युत किया गया। उसने नूतन वंशकी स्थापना की। किन्तु एक शताब्दिके पश्चात् ही नैपालपर तिब्बतका अधिकार स्थापित हो गया। तिब्बतके शक्तिहीन होनेपर नैपालने अपनी स्वतंत्रता पुनः प्रतिष्ठित की। यहींसे नैपालके इहिासका नया और गौरवशाली युग प्रारम्भ होता है। राजनीतिक विकासके साथ आर्थिक उन्नति भी हुई। नैपालका यह सम्मुन्नति-काल ग्यारहवीं सदीतक प्रतिष्ठित रहा।

तिब्बत

सातवीं और आठवीं शताब्दिका तिब्बत बड़ा शक्ति-सम्पन्न था। सीमावर्त्ती देशोंसे, प्रमुख रूपमें भारतवर्षसे उसका अत्यंत घनिष्ठ संबंध था। स्नोगत्सन गम्पों तिब्बतका बड़ा महत्त्वशाली राजा था। उसने सातवीं शताब्दिके उत्तरार्द्धमें नैपाल और तिरहुततकके देश जीत लिये। ग्यारहवीं सदीमें मगधके भिक्षु प्रचारकोंने तिब्बतमें लामा-मतकी स्थापना की।

कामरूप

कामरूप आधुनिक असमका इतिहास बहुत कुछ स्वतंत्र रूपसे, विशेष-तया भौगोलिक बंधनोंके कारण भी विकसित हो रहा था। छठी शताब्दिके अंतमें भास्करवर्मा यहाँ शासन कर रहा था। वह महाराज हर्ष और बंगालके शशांकका समकालीन था। शशांकके विरुद्ध उसने हर्षकी अधीनता स्वीकार कर ली। इसके पश्चात् यहाँ एक म्लेच्छ वंशकी स्थापना शालास्तम्भने की। इस वंशने लगभग तीन सौ वर्षोंतक राज्य किया। तेरहवीं सदीमें अहोम-वंशका राज्य स्थापित हुआ और अँगरेजोंके आगमनतक चलता रहा। आसाम सांस्कृतिक रूपसे अत्यंत प्राचीन समयसे देशका अभिन्न अंग रहा है। मध्ययुगमें वैष्णव-मतकी धाराने उसको अभिषिक्त किया।

आर्यावर्त्तके राज्य

कन्नौज

कन्नौजका इतिहास महाभारतसे प्रारम्भ होता है। इसके जीवनमें बड़ा उतार-चढ़ावमय रहा। स्वयं हर्षने इसे अपनी राजधानी बनाकर इसे बहुत विशाल एवं समुन्नत बना दिया। उसके पश्चात् ही आठवीं सदीमें अपने समयके सबसे प्रतिभाशाली और महान् राजा यशोवर्मन्ने, कन्नौजपर राज्य स्थापित किया। इसने एक बार सारे उत्तरी भारतको एक शासनके अंतर्गत लानेकी चेष्टा की। जीवितगुप्तको हराकर उसने अपनी पूर्वी सीमा बंगालकी खाड़ी बनाई। राजपूताना और स्थानेश्वरको अधीन करके हिमालयको इसने अपनी सीमा प्रतिष्ठित की। हिमवान्के उत्तुंग शृंगोंको पारकर इसने तिब्बतपर आक्रमण किया। सन् ७३१ में यशोवर्मन्ने एक दूत-मण्डल चीनके सम्राट्के पास भेजा। अन्य राज्योंसे भी दौत्य-संबंध स्थापित किया। वह केवल विजयी और कूटनीतिज्ञ ही नहीं था वरन् विद्वानोंका आश्रयदाता तथा साहित्य और शिक्षाप्रेमी भी था। संस्कृतके प्रसिद्ध कवि एवं नाटककार भवभूति उसीकी सभामें रहता था। प्राकृत भाषाका उद्भट विद्वान् वाक्पतिराज भी उसीका आश्रित था। किन्तु कश्मीरके ललितादित्यने सन् ७४० में कन्नौजपर आक्रमणकर यशोवर्मन्को पराजित किया। फिर भी उसकी कीर्त्ति अक्षय है।

किन्तु हर्षके पश्चात् तत्काल उत्तरी भारतमें किसीने यदि स्थायी राज्य बनाया तो वे प्रतिहार थे। वत्सराज प्रतिहारने ७८३ ई० में कन्नौजके अंतिम राजाको पराजित करके वहाँ अपना राज्य स्थापित किया। मिहिरभोज इस वंशका सबसे प्रतापी राजा हुआ। उस समय पूर्वके पाल राजाओंकी और कश्मीरकी शक्ति क्षीण हो रही थी। इस स्थितिसे लाभ उठाकर भोजने अपना साम्राज्य पंजाबसे लेकर मगधतक प्रसारित किया। राजपूताना, ग्वालियर, अवन्ति (मालवा) और सौराष्ट्र सबको इसने अधिकृत कर लिया। इसके उत्तराधिकारी महेन्द्रपालने साम्राज्य-सीमाको और बढ़ाया। सन् ९१६ ई० के लगभग राष्ट्रकूट राजा इन्द्र तृतीयने प्रतिहार सम्राट् महिपालको परास्त किया और प्रतिहारोंकी शक्ति नष्ट कर दी।

परन्तु राष्ट्रकूटोंने अपना राज्य उत्तरमें नहीं स्थापित किया। फल यह हुआ कि उत्तरी भारतमें कोई राज्य रह नहीं गया और प्रतिहार तो विनष्ट हो हो गये। इस स्थितिने चन्देलोंके लिए उत्तरी भारतको साम्राज्य-निर्माणका अवसर दे दिया। कन्नौजका पतन भारतके पूर्व मध्यकालीन युगकी सबसे बड़ी घटना है। कन्नौजके प्रांत तो टूटकर अलग हो ही गये, उसकी दुर्बलताका लाभ उठाकर आक्रामक महमूद ग़ज़नीने देशको रौंदा। अंतमें सन् १०७२ और १०९० के बीच गहड़वाल राजा चन्द्रदेवने अंतिम परिहारको हराकर अपने साम्राज्यकी स्थापना की।

गुजरात पहले ही पूर्ण स्वतंत्र हो चुका था। १०वीं शताब्दिके मध्यमें वहाँ सोलंकी वंशका राज्य स्थापित हुआ, जिससे यह प्रकट होता है कि कन्नौजका इस समय भारतके इस भागसे कोई संबंध नहीं रह गया था। ग्वालियर तो कन्नौजकी सत्तासे मुक्त हो ही गया था।

मगध

गुप्तवंशके पतनके पश्चात् मगध तो श्री-विहीन हो गया था परन्तु लगभग ई० सन् ५०० से ७०० तक एक वंशका राज्य वहाँ चलता रहा। ई०८वीं शताब्दीमें कन्नौजके यशस्वी यशोवर्मन्ने इस वंशके अंतिम राजा जीवितगुप्तको पराजित करके मगधसे सर्वदाके लिए राजसत्ताका अंत कर दिया।

बंगालके पालवंश

इस भागपर हर्षके पश्चात् ही तत्काल मगध और कन्नौजका अधिकार रहा। परन्तु आठवीं सदीके उत्तरार्द्धमें जब कन्नौजमें प्रतिहार शक्ति-संचय कर रहे थे, बंगालमें पालवंशका प्रादुर्भाव हुआ। इस समय बंगाल एक प्रकारसे अराजक अवस्थामें था। इस अस्थिरताके कारण संदिग्ध जनताने गोपालको अपना शासक चुना, जिसने पालवंशकी प्रतिष्ठा की। वह राजपूतानेके गुर्जर राजा वत्सराज-द्वारा पराजित हुआ किन्तु उसके उत्तराधिकारी धर्मपालने कठिन अध्यवसायसे उत्तर भारतके साम्राज्य-संघर्षमें प्रवेशकर सफलता प्राप्त की। कुछ साधनोंसे विशेषतः तिब्बतके इतिहासकार तारानाथसे तो उसके पूरे उत्तरी भारतपर अधिकारी होनेकी बात मिलती है। भागलपुरके पास गंगाके तटपर विक्रमशिला नामक स्थानमें उसने एक विहार और सैकड़ों मंदिरोंका निर्माण कराया और बौद्ध धर्मकी शिक्षाके लिए छः विद्यालय बनवाये। इसने बौद्धोंकी एक महासभा भी बुलवाई। ई० ग्यारहवीं सदीके प्रारम्भमें ही पालोंका ह्रास हुआ। तुर्क आक्रमणकारियोंका प्रभंजन रोका न जा सका।

पालोंके पतनके पश्चात् बंगालमें सेन-वंशका उदय हुआ। इस वंशमें बल्लालसेन और उसके पुत्र लक्ष्मणसेन बड़े प्रतापी हुए। साम्राज्य-विस्तारके अतिरिक्त उसने कला और साहित्यके प्रति भी प्रगाढ़ अनुरागका परिचय दिया। उसकी

१. आ।ई० ए०, भाग, ११, पृ० १३६–१६०

सभा कवि और मनीषियोंसे विभूषित रहती थी। गीतगोविन्दके रचयिता जयदेव उसके आश्रित थे।

उत्तर-पश्चिमी भारत

यद्यपि यह देशके लिए राजनीतिक महत्त्वका था फिर भी हर्षके समयसे ही यहाँका इतिहास अंधकारमय था। दसवीं सदीके उत्तरार्द्धमें काबुलमें हिन्दूशाही वंशका राज्य था। इस वंशका प्रसिद्ध राजा जयपाल था। पूर्वमें इसकी राजधानी वैहिन्द या वमन्द[1] थी। ग़ज़नी-साम्राज्यके दबावके कारण उसे पश्चिमसे और भी पूर्व हटकर लाहौर और भटिण्डाको सामरिक केन्द्र बनाना पड़ा। अपने गिरे दिनोंमें भी राज्यपालका राज्य सतलजसे लमगान और काबुलतक फैला था। ग़ज़नवी वंशके संघर्षमें भारतीय नरेशोंके बीच जयपालका महत्त्वपूर्ण स्थान रहा।

कलचुरी वंश चेदी

इस वंशका इतिहास अत्यंत प्राचीन है, ऐसा पौराणिक आख्यानोंसे ज्ञात होता है। इसे हैहय-वंश भी कहा गया है। इस वंशकी विशेष ख्याति नवीं शताब्दिमें ही हुई। इस वंशका प्रतापी राजा कुक्कलदेव सन् ८५० ई० के लगभग राज्य करता रहा। उसने अपनी राजधानी चन्देलोंकी सीमापर नागपुरके पास चेदीमें बनाई थी। राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज, कन्नौजके मिहिरभोज और चन्देल राजा हर्ष इसके समकालीन थे। उसने इन सबसे वैवाहिक संबंध भी स्थापित किये थे। इस वंशका सबसे प्रतापशाली शासक गांगेयदेव हुआ।

मालवा

मालवाका परमार-वंश अपने अनेक गुणोंके कारण बहुत ही विख्यात था। अपनी उदारता और कला-प्रेमके लिए परमारवंश सदैव अमर रहेगा। इस वंशकी स्थापना कृष्णराज या उपेन्द्रने नवीं सदीमें की। इस वंशका राज्य प्राचीन अवंतिकी सीमाओंतक पहुँचा और दक्षिणमें नर्मदातटतक फैल गया। मालवाके चारों ओर शक्तिशाली राज्योंका जमाव था, जो निरंतर अपनी साम्राज्यवादी पिपासासे व्याकुल रहते थे। परमारोंको बराबर चन्देल, कलचुरी, सोलंकी और चालुक्य शासकोंसे युद्ध करते रहना पड़ता था। इस वंशके सुप्रसिद्ध राजा श्रीहर्ष, वाक्पतिराज अथवा मुंज तथा भोज थे। मुंज तो यशस्वी और योद्धा था ही, वह बड़ा गुणग्राही, विद्वान् और कवि भी था। उसने राष्ट्रकूट, चोल, कलचुरी और केरल आदि राजाओंको परास्त किया।

मुंजके भाई सिन्धुराजका पुत्र राजा भोज भारतका अत्यंत लोकप्रिय शासक सिद्ध हुआ। इसके समयमें परमार वंशकी कीर्त्ति चतुर्दिक् फैली। इसने तुरुष्कों (तुर्कों) को भी पराजित किया। भोजकी लोकप्रियताका प्रधान कारण वस्तुतः उसकी साहित्य-सेवा, विद्यानुराग, लोकरंजक शासन तथा उसकी उदारता थी।

---

१. प्राचीन उद्भाण्डपुर, आधुनिक उन्द जो सिन्धु नदीके तटपर कटकके सन्निकट है।

मेवाड़

राजपूतानेके भीतर शिरमौर माने जानेवाला गहलोत-वंशका प्राचीन इतिहास प्रच्छन्न है। शिलालेखों, जनश्रुतियों तथा चारणोंसे इस वंशका गौरवमय इतिहास प्राप्त होता है। दसवीं सदीमें इस वंशका वास्तविक राजनीतिक उत्थान हुआ।

अपने समयके अद्वितीय वीर बप्पा रावलने ठीक उसी प्रकार अरबोंको सिंधसे आगे नहीं बढ़ने दिया जैसे चार्ल्स मार्टेलने स्पेनसे आए हुए यवनोंको योरोपमें आगे बढ़नेसे रोका था।

साँभर

एक और महत्त्वशाली राजवंश साँभरके चौहानोंका था। इतिहासकार टौडके अनुसार यह समस्त राजपूत राजवंशोंमें अधिक शूर और साहसी था। मेवाड़में गहलोत-वंशकी स्थापना उसी समय हुई जब साँभर (सायम्भर या शाकम्भरी) में चाहमान या चौहान-वंशका उदय हुआ। इस वंशके प्रारम्भिक शासकोंमें विग्रहराज चतुर्थ—बीसलदेव था, जो महान् पराक्रमी, उत्कट विजयाभिलाषी, विद्यानुरागी और कवि भी था। इसने प्रतिहारोंसे दिल्लीको जीता और हिमालयसे विंध्यमेखलातक विशाल साम्राज्य स्थापित किया।

उपर्युक्त वर्णनसे इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि देशमें इस समय राजनीतिक एकता और सामाजिक संहतिका एकमात्र अभाव था। उस समय स्वच्छन्द और एक-सत्तात्मक प्रवृत्तिसे प्रेरित एक नहीं अनेक नेता थे। देशकी कर्तृत्व-शक्ति छोटे-छोटे राज्योंके परस्पर कलहसे छिन्न-भिन्न हो रही थी। कुछ विद्वानोंके मतानुसार उस समय देशका केवल भौगोलिक अस्तित्व तो था किन्तु राजनीतिक अस्तित्व ही विलुप्त हो रहा था। वह एक दीन और निराशाजनक स्थिति थी, जब भारत असहाय होकर एकके पश्चात् दूसरे विदेशी नृशंस आक्रमणकारियोंकी मुट्ठीमें पड़ता जाता था। फलतः एक-एक करके सब आक्रामकों-द्वारा च्युत किये गये भारतमें बारहवीं सदीमें मुसलमानोंका साम्राज्य स्थापित हुआ।

पर स्मरण रखनेकी बात है कि इस तमसाच्छन्न राजनीतिक अवस्थामें भी कुछ राज्योंका राष्ट्रीय स्तरका उदय हुआ जिससे सारे उत्तरी भारतवर्षमें अद्भुत चेतना भर गई। कन्नौजके प्रतिहार और महोबाके चन्देल शासकोंको ही यह श्रेय प्राप्त हुआ। चन्देलोंने तो अनेक बार विदेशी आक्रमणकारियों-द्वारा राष्ट्रीय संकट उपस्थित किए जानेपर उन्हें खदेड़ निकालनेके लिए देश-रक्षाके प्रश्नको सर्वव्यापी स्तर दिया और बड़े-बड़े संघोंका निर्माण किया। जब कोई राज्य इसमें सहयोग देनेमें जी चुराता तो उसके दण्डकी व्यवस्था की जाती। उनकी इस राजनीतिक चेतना और शौर्यका मूल्यांकन विदेशी इतिहासकारोंने भी किया।

चन्देल-वंशकी स्थापना

जिस प्रकार चन्देल-वंशकी उत्पत्ति और उसके संस्थापकके संबंधमें विद्वानोंमें मतभेद है उसी प्रकारका गहरा मतभेद इस विषयमें भी है। यह मतभेद केवल इस

प्रश्नपर नहीं है कि चन्देलोंने साम्राज्य किससे छीना और कब प्राप्त किया वरन् इस विषयमें भी है कि उनकी स्थापना अधिकृत शासकके रूपमें हुई या स्वतंत्र।

अधिकतर विद्वानोंने नन्नुकको ही इस वंशका संस्थापक माना है। किन्तु पिछले अध्यायमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि चन्द्रात्रेय (जनश्रुतियोंके चन्द्रवर्मा) ने ही ई० सन् ७४० में इस वंशकी स्थापना की। डॉ० स्मिथका मत है कि चन्देल-संस्थापक नन्नुकने महोबाके परिहार सरदारको राज्यच्युतकर अपने वंशकी स्थापना की[१]। चिन्तामणि विनायक वैद्यकी धारणा है कि चन्देलोंके पूर्ववर्त्ती 'मान्खारी' या 'वर्मा' थे जिन्हें उन्होंने अपदस्थ किया। वर्मोंने हर्षके उपरान्त निकटके प्रांत जेजाभुक्तिपर अपनी सत्ता स्वतंत्र रूपसे स्थापित कर ली और जिस समय कन्नौजकी शाही गद्दीपर एक विदेशी शक्ति-द्वारा इन्द्रायुधके स्थानपर चन्द्रायुध बिठाया जा रहा था, उसी समय चन्देलोंने लड़खड़ाते मानखरी वर्मोंको धक्का देकर अपना शासन जिझौतीमें स्वतंत्र, अर्द्ध-स्वतंत्र अथवा अधिकृत रूपमें स्थापित किया[२]। इतिहासकार वैद्यका यह मत कई स्थलोंपर इतिहासकी धाराके विरुद्ध पड़ता है। महोबाकी एक जनश्रुति बतलाती है कि गहड़वालोंके हाथसे शासन प्रतिहारोंके हाथमें गया। प्रतिहारोंको संवत् ६७७ में चन्द्रवर्मा प्रथम चन्देलने हराया और अपना शासन जमाया[३]। जेनरल कनिंघमने एक दूसरी अनुश्रुतिका उद्धरण दिया है कि उचहर और नागोदके प्रतिहारोंका राज्य महोबाके चन्देलोंसे पुराना है और इसीमें पहले महोबा, उत्तरमें घाटतकका प्रदेश, दक्षिणमें बिलारी, पश्चिममें मऊ, महोबा तथा पूर्वमें आधुनिक बघेलखण्डका बहुत-सा भाग सम्मिलित था[४]। इन मतों और कथनोंके संबंधमें तनिक भी गम्भीर आलोचनाकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि इनमें ऐतिहासिक तथ्यका यों ही अभाव है।

नवीं सदीमें जिन कतिपय स्वतंत्र राज्योंके उन्नयन हुए उनमें चन्देलोंका स्थान प्रमुख है। किस क्रमिक रूपमें इन राज्योंका विकास हुआ, इसकी जानकारीका कोई विशेष साधन नहीं है और न इसका ठीक-ठीक निर्धारण ही हो सकता है। सन् ६४८ में हर्षकी मृत्युके पश्चात् स्थानीय महात्त्वाकांक्षाओंके साथ कितने ही राज्य, सार्वभौम सत्ताके भंग होते ही उठ खड़े हुए परन्तु नवीं सदीके मध्यकी राजनीतिक घटनाएँ इतनी विरल हैं कि उनके उत्थानके क्रमोंका पूर्ण परिचय प्राप्त करना कठिन हो गया है। फिर भी प्रमुख राजवंशोंके अभिलेख इस मार्गमें बहुत सहायक और निश्चयतक पहुँचा सकनेमें समर्थ होते हैं।

---

१. जे० ए० एस० बी०, १८८१, भाग १, पृ० ६

२. हिस्ट्री औफ़ मैडिवल हिन्दू इण्डिया, भाग २, पृ० १२४

३. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, यू० पी०, हमीरपुर, भाग २२, पृ० १२५

४. डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ नौर्थ इण्डिया, भाग १, पृ० ५०४

चन्देलोंने प्रतिहारोंको राज्यच्युतकर अपनी स्थापना की, यह कथन सर्वथा स्वीकार्य नहीं है क्योंकि जब प्रतिहारोंकी स्थापना सन् ७४० ई० में हो रही थी, उसी समय चन्द्रात्रेय (नामांतर चन्द्रवर्मा) चन्देल-वंशकी साम्राज्य-सृष्टि जेजाभुक्तिमें कर रहे थे। चन्देलोंकी उत्पत्तिसे जनश्रुतियों-द्वारा स्थापित गहड़वाल पुरोहितका संबंध भी किसी प्रमाणसे पुष्ट नहीं हो पाता। वास्तविकता तो यह है कि अभिलेखोंके प्रमाण इसके भी विरुद्ध हैं कि बनारसके पूर्ववर्त्ती गहड़वाल भी चन्देलोंके संस्थापकके समकालीन हों। अतः चन्देलोंने किससे साम्राज्य प्राप्त किया इसके लिए और गहराईमें जानेकी आवश्यकता है। चीनी यात्रीने जेजाभुक्ति (ची ची तो) के मार्गोंकी चर्चा की है और बतलाया है कि इसकी राजधानी आधुनिक खजुराहो थी जो इस समय छतरपुर राज्यमें है। उसने यह भी बतलाया है कि ई० सन् ६४१ में इसपर एक ब्राह्मण राज्य कर रहा था[1]। यह अनुमान करना असंगत नहीं कि ची ची तोका वह ब्राह्मण राजा हर्षवर्धनका करदाता था। इस विवरणसे चन्देलोंके उत्थानकी एक सीमा बन जाती है। यह ऐतिहासिक प्रमाणोंके अत्यंत मेलमें आता है कि हर्षके निधनके पश्चात् जेजाभुक्तिमें वह ब्राह्मण राजा बंधन-मुक्त तो हुआ, पर अपने संरक्षकके अभावमें बलहीन भी। इस अवस्थामें अभी एक शताब्दि भी व्यतीत नहीं हुई थी कि सुयोग पाकर उदीयमान चन्देलोंने लड़खड़ाते हुए इस राज्यको अपदस्थकर अपना एक छोटासा राज्य सन् ७४० ई० में स्थापित कर लिया जो कुछ समय पश्चात् वृहद् जेजाभुक्तिमें खजुराहो राजधानीके साथ समुन्नत हुआ। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यह स्थापना उन्होंने स्वाधीन रूपमें की क्योंकि उस समय सार्वभौम सत्ताका उत्तर भारतमें सर्वथा अभाव था। यह निष्कर्ष जनश्रुतियोंके कथनसे भी समन्वित हो रहा है।

चन्देल स्वाधीन सत्ताके रूपमें

इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिकतम खोजोंसे जो परिणाम निकलते हैं वे पूर्णतः पहलेके विद्वानोंकी धारणासे विपरीत जा रहे हैं जिनका विश्वास चन्देलोंके स्वाधीन प्रादुर्भावमें नहीं है। चन्देल-वंशकी स्थापना तो स्वाधीन हुई ही, उनकी किसी और शक्तिके प्रति भक्ति भी नहीं थी। हाँ, आगे चलकर जब कन्नौजमें प्रतिहारोंकी शक्ति अत्यंत प्रबल हुई, तब कुछ पीढ़ियोंतक उनके संरक्षणमें चन्देलोंको चला जाना पड़ा। इसका विस्तृत विवेचन अगले प्रसंगमें किया जायगा।

चन्द्रात्रेयसे नन्नुकके राज्यकालतकका लगभग ९० वर्षका समय (सन् ७४० से ८३१ तक) चन्देलोंके लिए उदयका समय था। इस वंशके जिन शासकोंने इस अवधिको अलंकृत किया, वे थे मुनि चन्द्रात्रेय, नृपति भूभुजाम् और नन्नुक, जैसा कि धंगके खजुराहो–शिलालेखसे विदित होता है[2]। इनके व्यक्तिगत इतिहासके संबंधमें बहुत अल्प सामग्री उत्कीर्ण लेखोंसे मिलती है।

---

१. ज़िला गज़ेटियर यू० पी०, बाँदा, भाग २१, पृ० १५८–५९
२. ई० आई०, भाग १, ृ० १२२।

इस प्रारम्भिक कालके राजाओंकी वंशावली केवल तीन उत्कीर्ण लेखोंमें मिलती है—धंगके खजुराहो लेख, कोक्कोलके लेख[1] तथा ताम्र-पत्रोंमें[2]। ताम्र-पत्रों और कोक्कोलके लेखोंमें तो बहुत साधारण अंतर है किन्तु धंगके लेखकी मान्यता अधिक विश्वसनीय है। इसके अनुसार चन्द्रात्रेयके उत्तराधिकारी 'नृपति भूभुजाम्' थे जिनके पूर्ण नाम नहीं विदित होते। पिछले उत्कीर्ण लेख इन दो व्यक्तियोंका नाम वंशावलियोंमें नहीं देते। मुनि चन्द्रात्रेय निश्चित ही एक विमल जीवन और महान् चरित्रवाले व्यक्ति थे। उनके उदात्त गुणों और संकल्पकी पवित्रताने ही उन्हें इस वंशकी स्थापनाका अवसर दिया। 'उन्होंने अविराम तपस्यासे तीव्र प्रभाव अर्जित किया और वे सहज और उज्ज्वलतर ज्ञानके प्रदीप थे[3]' निश्चित ही इन प्रशंसाके शब्दोंको ऐतिहासिक घटना नहीं माना जा सकता। ये केवल यह प्रदर्शित करते हैं कि एक वंश-संस्थापकमें उक्त गुण होने चाहिए—जो मुनि चन्द्रात्रेयमें थे।

उस लेखमें आगे कहा गया है, "उस व्यक्तिसे उद्भूत वंश प्रशंसाका निश्चित विषय है और जिसमें सभी विज्ञान सन्निहित है, जो संसृतिके क्षेत्रका कारण है। इस वंशमें किसीके शौर्यने न तो उद्वेग उत्पन्न किया न चाटुकारिताने उल्लासातिरेक। इसमें दौर्बल्यकी कनीनिका भी नहीं आई और अभीप्सितकी प्राप्तिके लिए यहाँ किसीके स्वामित्वका विनाश भी नहीं सोचा गया।"

चन्द्रात्रेयके उत्तराधिकारी क्रमसे दो राजा थे जिनके अधूरे नाम भूभुजाम् थे[4] जो अपने वंशकी कलंकरहित ख्यातिसे युक्त थे। उनकी विचार-शक्ति संकटापन्न जनोंके रक्षणमें लगी रहती थी और वे ऐसी शक्ति भी रखते थे कि जगत्का संहार और उसका रक्षण कर सकें। लेखोंसे उनके व्यक्तिगत इतिहासके संबंधमें और ज्ञात नहीं है। सम्भवतः इन उत्कीर्ण लेखोंके प्रतिष्ठाताओंने अपने उन पूर्व-पुरुषोंके संबंधमें अभिलेखोंके सीमित स्थानमें इससे अधिक अवसर देना आवश्यक नहीं समझा।

चन्देलोंका शासन-काल सुगमतासे तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—१. प्रारम्भसे दूसरे राजा भूभुजामतकका स्वाधीन शासनका युग, २. नन्नुकसे राजा राहिलतक संरक्षित शासन; ३. हर्षसे अवनतिके प्रारम्भतक स्वाधीनता

---

१. वही, १३७।

२. आई० ए०, भाग १६, पृ० २०७।

३. ई० आई०, भाग १, पृ० १३०।

४. वही—

इस नामका जो अनुवाद प्रो० एफ० किलहोर्नने (ई० आई० भाग १, पृ० १३०) किया है, वह अनुचित विदित होता है। वे उन्हें व्यक्तिवाचक शब्द नहीं मानते, राजाके पर्यायवाची शब्द मानते हैं। डा० रायका अनुवाद (डायनिस्टिक हिस्ट्री औफ़ नौर्थ इण्डिया, भाग २, पृ० ६६६) पर्याप्त तर्कपूर्ण है।

और गौरवपूर्ण युग। इनका विस्तृत विचार अगले अध्यायोंमें होगा और इसके पूर्व कि संरक्षण-कालका इतिहास प्रस्तुत किया जाय, इस वंशकी वंशावली निश्चित कर लेना परम आवश्यक है। इतिहासमें स्वयं यह गहन विवादका विषय बना रहा है।

वंशावली

चरित-लेखों-द्वारा चन्देलोंका जो परंपरागत इतिहास पहले प्रस्तुत किया गया है उसमें किन्हीं दोका भी विवरण परस्पर मिलता जुलता नहीं है। यही नहीं, उनमेंसे प्रत्येक द्वारा प्रस्तुत वंशावली अभिलेखों-द्वारा प्रस्तुत वास्तविक वंशावलीसे मौलिक रूपमें भिन्न है। इसीसे चारणों-द्वारा प्रस्तुत ऐतिहासिक सामग्रीके तथ्यपर विश्वास नहीं टिकता।

वंशावलीकी प्राप्त सूचियाँ छः से कम नहीं हैं, जिनमेंसे तीन तो महाकवि चन्दके काव्यसे ही ली गई हैं[1]। यदि इनमें आये नामोंकी तुलना की जाय तो केवल पाँच ही नाम ऐसे निकलते हैं, जो उत्कीर्ण लेखोंके नामोंसे मेल खाते हैं। किन्तु औरोंका तादात्म्य तो कुछ सीमातक समान उच्चारण अथवा समान अर्थोंको ही लेकर किया जा सकता है। कनिंघमने इन नामोंके तादात्म्यकी चेष्टा की है। उनके पहले आधारपर यह स्पष्ट है कि गंग और ग्यान सम्भवतः धंगके लिए अशुद्ध पढ़ा गया है। वैसे ही विधि बुधसे, माधव विद्याधरसे और हर बहुत कुछ हर्षसे समत्व रखते हैं। दूसरे आधारपर कल्याण राजा हर्षका पर्यायवाची माना जा सकता है और जगत् पृथ्वीका।

इस प्रकार समीपताके आधारपर किये गये तादात्म्यकी छानबीन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसका इतना ही तात्पर्य है कि परंपरा-द्वारा प्रस्तुत वंशावलीकी सूची वास्तविक सूचीसे बहुत ही थोड़े अंशमें मिलती है। इससे यह सम्भावना भी पुष्ट होती है कि सब चारणोंने अपनी सूची स्वेच्छासे परिवर्तन करते हुए चन्दके काव्यसे ली है किन्तु महाकवि चन्दका प्रमाण स्वतः सन्देहका विषय बना है क्योंकि इसका कुछ भाग निश्चित ही पीछे जोड़ा गया है।

उपर्युक्त सब बातोंकी उचित प्रतिष्ठा करते हुए भी यह प्रगट हो रहा है कि लगभग आधेसे अधिक नाम तो उत्कीर्ण लेखोंकी वंशावलीसे मेल खाते ही हैं। शेष नामोंमें अनुमानसे अधिक भिन्नता भी है। जेनरल कनिंघमका यह निष्कर्ष-कथन सम्भव है कि चारणोंकी सूचीके अनेक राजा राजवंशके छोटे भाई थे जो सरोवर आदिके निर्माण द्वारा अपनी उज्ज्वल कृतियाँ और प्रौढ़ स्मृतियाँ छोड़ गये थे, फिर चारणोंने अज्ञानवश उन्हें उन वास्तविक शासकोंका स्थानापन्न शासक गिन लिया जिनका उल्लेख लुप्त हो गया था, और वे वंशावलीमें सुशोभित भी हो गये[2]।

१. ए० एस० आर०, भाग २, पृ० ४४६

२. वही

इसके पूर्व कि उत्कीर्ण लेखोंके आधारपर वंशावलीका यथार्थ ज्ञान किया जाय, कुछ इतिहासकारों-द्वारा तैयार सूचियोंके गुण-दोषका विवेचन आवश्यक है। जेनरल कनिंघमने चन्देलोंकी वंशावलीकी सही सूची बनानेके लिए चार प्रयास किये हैं[1]। अपने इन प्रयत्नोंमें स्वयं उन्होंने नवीन प्रमाणोंके आधारपर अपने पूर्वके निश्चयोंको संदिग्ध मान लिया है। डॉ० स्मिथने जो सूची तैयार की है उसमें थोड़ी भिन्नता है[2]। ध्यान देनेकी बात यह है कि दोनोंने राज वंशका प्रारम्भ नन्नुकसे किया है और उसे ही संस्थापक भी मनोनीत किया है। यही निश्चय चिं० वि० वैद्य[3] और डॉ० हे० चं० राय[4] ने भी किया है। स्पष्ट है कि इन इतिहासकारोंकी सूची कुछ पीछेसे प्रारम्भ हुई है। जेनरल कनिंघमने वाक्‌पतिके पश्चात् जयशक्तिको उत्तराधिकारी न मानकर विजयशक्तिको ला बैठाया है। वास्तविकता यह है कि जयशक्ति ही उत्तराधिकारी था। जयशक्ति संतान रहित था इसलिए उसके स्वर्गारोहणके पश्चात् उसका भाई विजयशक्ति गद्दीपर आया, जिसे कुछ उत्कीर्ण लेखोंमें केवल विजय कहा गया है। कनिंघमने वंशावलीके चौदहवें राजा सल्लक्षण वर्माको हल्लक्षण वर्मा पढ़ा है, जो निश्चित ही भ्रमात्मक है। कनिंघमकी सूचीमें एक दूसरी त्रुटि यह है कि उन्होंने हल्लक्षण वर्मा द्वितीयके नामसे एक और राजा जयवर्माके पश्चात् जोड़ा है[5] किन्तु उसका नाम किसी भी अभिलेखमें अंकित नहीं मिलता।

वंशावली-संबंधी मतभेदोंकी समीक्षाके लिए अधिक विस्तार करना उचित नहीं। समस्त प्राप्त अभिलेखोंके आधारपर प्रामाणिक और वास्तविक वंशावली नीचे दी जा रही है। उसके साथ ही शासकोंके राज्यारोहणकी अधिकसे अधिक सही तिथि भी दी जा रही है। इसमें महाकवि चन्दकी सूचीकी वास्तविकताका उचित समादर है। जो तिथियाँ नीचे दी जा रही हैं वे अभिलेखों और मुद्रा-शास्त्रोंके आधारपर हैं—

---

१. प्रथम प्रयास ए० एस० आर०, भाग २, पृ० ४५१ में; दूसरा प्रयास भाग १०, पृ० २४ में; तीसरा और चौथा प्रयास 'क्वायन्स औफ़ मेडिवल इण्डिया, पृ० ७८ में उन्होंने किये।

२. आई० ए०, भाग ३७ पृ० १२६ (१९०८)

३. दी हिस्ट्री औफ़ मेडिवल हिन्दू इण्डिया, भाग २, पृ० १२४–३०

४. डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ नौर्थ इण्डिया, भाग २, पृ० ६६५–७३७

५. क्वायन्स औफ़ मेडिवल इण्डिया, पृ० ७८।

१. चन्द्रात्रेय
(समान)
चन्द्रवर्मा सन् ७४० ई०
२. नृपति भूभुजाम् सन् ७७० ई०
सन् ८०० ई०
३.
४. नन्नुक सन् ८३१ ई०
५. वाक्पति सन् ८४५ ई०
६. जयशक्ति सन् ८६० ई०
७. विजयशक्ति सन् ८८० ई०
कनिष्ठ भ्राता
(समान)
जेजा
जेजाक
जेज्जाक
(समान)
विजय
विजा
विज्जाक
८. राहिल सन् ९०० ई०
९. हर्ष सन् ९१५ ई०, काञ्चुकासे विवाह किया
१०. यशोवर्मन् सन् ९३० ई०, पुष्पासे विवाह किया।
(समान)
लक्ष्मणवर्मन्
११. धंग सन् ९५० ई०
कृष्णप
देवलब्धि
१२. गंड सन् १००० ई०
१३. विद्याधर सन् १०२५ ई०
१४. विजयपाल सन् १०४० ई०, भुवनादेवीसे विवाह किया
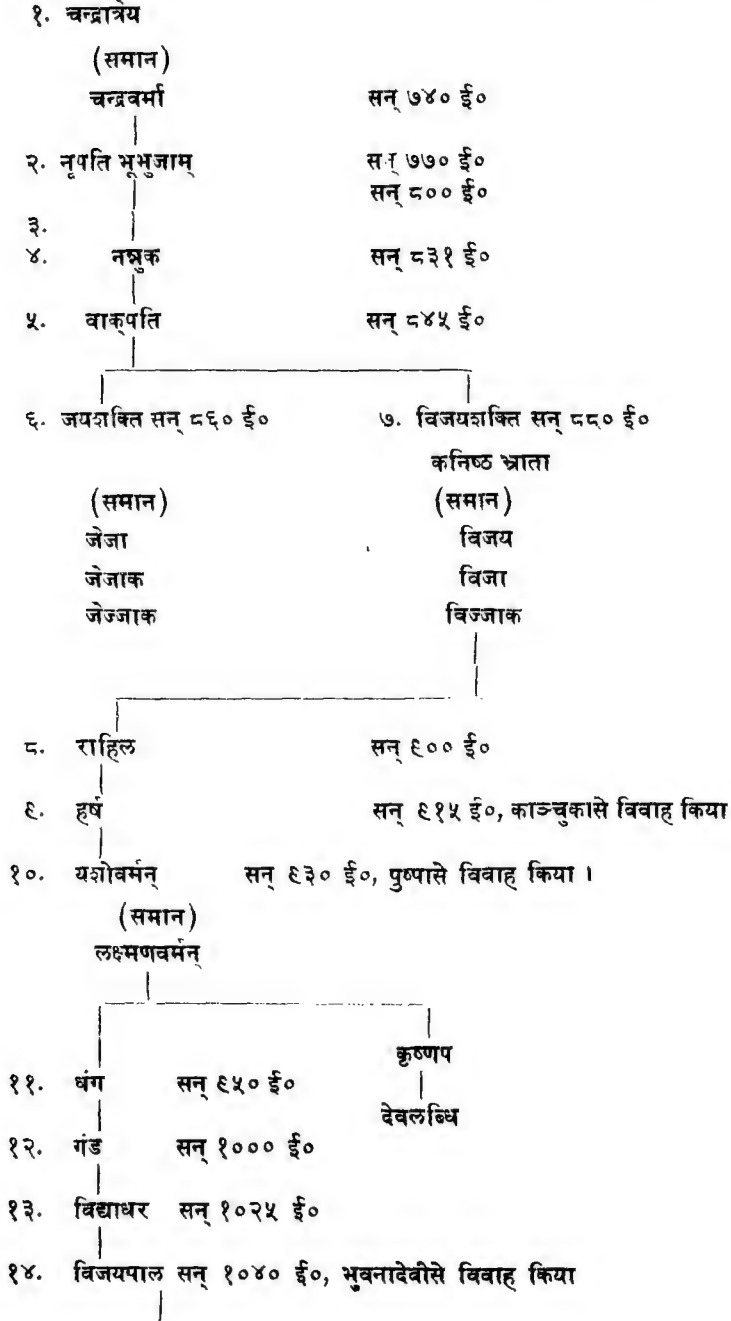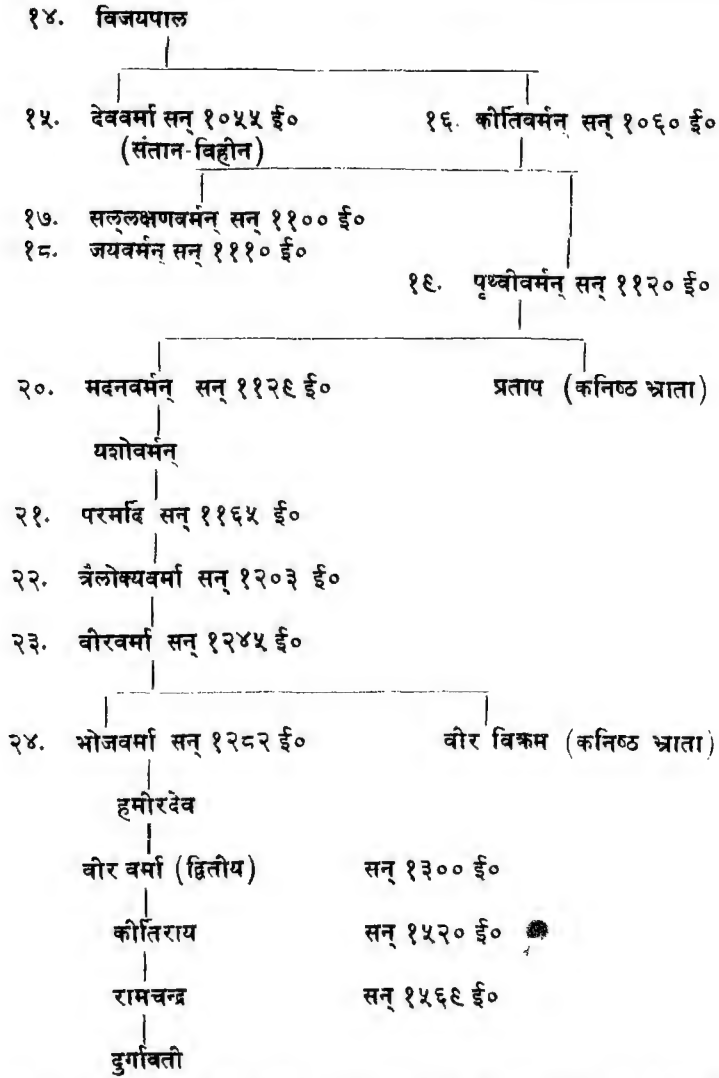
उपर्यंकित वंशावलीकी पुष्टिके लिए अभिलेखोंका संदर्भ परमावश्यक है, जो प्रत्येक राजाके व्यक्तिगत इतिहासके साथ उपस्थित किया जायगा।

अध्याय ४

पर-संरक्षणमें चन्देल-राज्य

प्रतिहारोंका उत्तर-भारतमें प्रादुर्भाव

चन्देल-वंशका वह इतिहास अत्यंत महत्त्वका जो वंशके चौथे महाराज नन्नुकके राज्यारोहणसे प्रारम्भ होकर राहिलके शासन-कालके अंत तक विस्तृत है चन्देलोंने यद्यपि इसी बीच अपनी एक सत्तात्मकता खो दी और कन्नौजके प्रतिहार सम्राटोंकी सार्वभौम सत्ताके अधीन संरक्षित जीवन व्यतीत किया, फिर भी उन्हें इसी अवस्थामें अपनेको बलशाली बनाने एवं शक्ति-संचय करनेका सुनहला अवसर प्राप्त हो गया। प्रतिहारोंका सुदूरतक फैले अपने करद राज्योंपर बड़ा शिथिल नियंत्रण था, जिसके फल-स्वरूप चन्देलोंको किसी अन्यके आक्रमणसे निश्चित रहते हुए अपनी शक्ति और व्यावहारिक रूपसे एक दृढ़ सेना संगठित करनेका अनायास सुयोग हाथ लगा। चन्देल शासकोंने सुगमतासे अपने भविष्यकी रचना की।

हिन्दुओंकी मूर्त्तियों आदिको भंगकर उनके धर्मपर आघात करनेवाले और अबाध रूपसे सिंध जीतकर पूर्वकी ओर बढ़नेको ठाननेवाले अरब आक्रमणकारियोंको परास्त कर प्रथम प्रतिहार शासक नागभट्टने बड़ी कीर्त्ति अर्जित कर ली थी। परन्तु यह अत्यंत खेदका विषय है कि इस वंशके इतिहासको विस्तारके साथ उपस्थित करनेवाले अभिलेख भी कहीं इस प्रसंगकी चर्चा नहीं करते कि नागभट्टने ही इस वंशकी स्थापना की। डॉ० स्मिथ इतना कहते हैं कि 'नागभट्ट भीनमलका राजा था' पर यह निश्चित नहीं करते कि प्रतिहार-वंशके प्रथम उदीयमान शासक नागभट्टने ही वंशकी स्थापना की। कुछ विश्वसनीय तथ्योंके आधारसे यह अवश्य प्रमाणित होता है कि नागभट्टने मन्दोरपर अवश्य ही शासन किया होगा।[1] उसका देश गुर्जरात्रा या मारवाड़में था, यह भी असंदिग्ध है। नागभट्टका उत्तराधिकारी उसका भतीजा काकुस्थ या कक्कुक था, जिसका राज्यकाल डॉ० स्मिथके अनुसार सन् ७४० से ७८५ तक था, उसका भाई और उत्तराधिकारी देवशक्ति था और पुत्र वत्सराज। वत्सराज वंशका दूसरा विख्यात राजा था। वत्सराजकी सर्वोत्तम उज्ज्वल कीर्त्ति यह थी कि उसने प्रसिद्ध भण्डिवंशके हाथोंसे कन्नौजका केन्द्रीय शासन स्वहस्तगत कर लिया था। कन्नौजके वर्मावंशका राज्य अवनतिपर था और वत्सराजने उसे पदच्युत कर दिया। अभिलेखोंसे यह तो स्पष्ट नहीं होता कि

१. हिस्ट्री औफ़ मेडिवल हिन्दू इण्डिया, भाग २, पृ० ९९–१००

उसने उस वंशके किस व्यक्तिसे राज्य छीना, परन्तु सम्भावना इन्द्रराजकी है। विजयका अनुमानित काल सन् ७८० ई० ठहरता है।[1] इन्द्रराज फिर भी कन्नौजकी गद्दीपर अधीनतामें छोड़ दिया गया। किन्तु इतना तो प्रकट है कि इस विजयका प्रभाव यमुना नदीके दक्षिणी भागपर बिलकुल नहीं पड़ सका, जहाँ चन्देल राजा अपने छोटे राज्यको बढ़ानेमें दत्तचित्त थे।

वत्सराजकी कीर्त्ति तब और द्विगुणित हुई जब उसने बंगालके शासक गोपालको परास्त किया। किन्तु उसकी इन गौरव-पूर्ण विजयोंपर दक्षिणके राष्ट्रकूट राजा ध्रुवने उसे हराकर पानी फेर दिया। ध्रुवने दो जय-स्मारक उसके यहाँसे उठा लिए और उसे अपने ही सीमित देश अर्थात् गुर्जरात्रके मरुस्थलमें रहनेके लिए बाध्य कर दिया। ऐसी अवस्थामें वत्सराजके लिए यह असम्भव था कि वह पूर्व-मध्य-भारतको थोड़ा भी प्रभावित करता। वह किसी भी प्रकार चन्देलोंके खजुराहोसे महोबातकके द्रुतगति-प्रसारमें बाधा न पहुँचा सका। यह कार्य उसके पुत्र नागभट्ट द्वितीय-द्वारा सम्पादित हुआ, जिसने पहले-पहल आंध्र, सैंधव, कलिंग, विदर्भ और अन्य राज्योंको विजित किया। उस समय कन्नौजके चले आते हुए करद राज्य भी रहे होंगे जिन्हें उसने पुनर्विजित किया होगा। उसके इसी दिग्विजय-प्रयाणमें मध्यभारतके सरदार और छोटे शासक पराजित किये गये। परन्तु स्मरण रखनेकी बात यह है कि यमुनाके दक्षिण भागपर उसका आधिपत्य तब हुआ जब उसने कन्नौजको अपनी राजधानी बना लिया। कन्नौजके अंतिम वर्मा शासकके इस प्रकार अपदस्थ होनेका सम्भावित समय सन् ८१६ ई० था। अपनी शक्तिको इस प्रकार कन्नौजमें प्रतिष्ठित कर लेनेपर नागभट्ट द्वितीयने निश्चित रूपसे उन पड़ोसी राज्योंको प्रभावित किया, जो अपनी छोटी सीमामें स्वतंत्रता भोग रहे थे।

४. नन्नुक

उत्तरमें दूरतक अपनी राज्य-सीमा फैलानेवाले और महोबाको राजधानी बनानेवाले गौरवशाली शासक नन्नुकको नागभट्ट द्वितीय (सन् ८१५–३३) की शक्तिशाली सेनाका सामना सन् ८३२ ई०में करना पड़ा और अंतमें वह अधिकृत बना लिया गया। महत्त्वकी बात यह है कि प्रतिहारोंका क्रमिक विकास अनुकूल परिस्थितियोंके कारण चन्देलोंसे अपेक्षाकृत अधिक दृढ़ था। अरब यात्री अल मसूदीने सन् ८५१ ई० में लिखा है कि 'प्रतिहार शासकने एक शक्तिशाली सेना रखी थी, जिसमें भारतवर्षके सबसे अच्छे अश्वारोही थे और बड़ी संख्यामें ऊँट भी।'[2] इस कथनसे ऊपरका निष्कर्ष और प्रमाणित हो जाता है।

जैसा कि पिछले अध्यायोंमें कहा गया है, डॉ० स्मिथकी धारणा है,

---

१. वही, पृ० १०१

२. ईलियट, भाग १, पृ० ४

चन्देलोंका उदय महोबामें नहीं हुआ ।[1] हाँ, महोबा उसके पहले ही स्थापित अवश्य हो चुका था। महोबाको तो नन्नुकने अपनी राजधानी बनाया जब वह कन्नौजके प्रतिहारोंके अधीन हो गया था। इसमें थोड़ी भी शंका नहीं है कि नन्नुकको लगभग दो वर्षोंतक नागभट्ट द्वितीयके संरक्षणमें शासन करना पड़ा और तत्पश्चात् जीवनके शेष कालतक उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी रामचन्द्र (सन् ८२५–८४० ई०) के संरक्षणमें। परन्तु विचारणीय यह रह जाता है कि चन्देलोंपर प्रतिहारोंका यह संरक्षण किस प्रकारका था। डॉ० रायका कथन है कि नन्नुक प्रतिहारोंके पूर्णतया अधीन था और उसकी स्थिति एक करद की थी।[2] किन्तु अभिलेखोंसे ज्ञात होता है कि संरक्षण कालमें चन्देलोंकी सार्वभौमता बिलकुल विलुप्त नहीं हुई थी। स्वतंत्र शासकके लक्षण उनमें पर्याप्त थे। शिलालेखोंमें नन्नुक और उसके उत्तराधिकारियोंको महीपति और नृपतिकी उपाधियोंसे अलंकृत किया गया है। इसके अतिरिक्त इस प्रारम्भिक कालमें यह कन्नौजके प्रतिहारोंकी क्षमताके नितांत परे था कि वे मालवा, कीरत, वत्स, मत्स्य और अनार्ता आदिके साथ-साथ चन्देलोंको भी पूर्ण अधीनतामें ला सके।

प्रतिहार-प्रभुत्वके भीतर सामान्य विकास

धंगके खजुराहो–अभिलेखमें नन्नुककी बड़ी प्रशंसा की गई है। इससे दो बातें लक्षित होती हैं––पहली तो यह कि चन्देलोंने संरक्षणमें भी सुगमतासे अपन साम्राज्य-विकास और शक्ति-वृद्धिको क्रम-बद्ध रखा और दूसरे चन्देलोंके ऐतिहासिक व्यक्तित्वका परिचय प्राप्त होता है। इस लेखमें नन्नुक 'नृप' कहा गया है–– 'जो मानो क्षात्र-दर्प-रूपी स्वर्णकी परखके लिए निकष था, जो चतुर्दिक् स्त्रियोंके वदनको अपनी ख्यातिके गंधसारसे लीलया विभूषित कर देता था और जिसके आदेशको उसके शत्रु पुष्पोपहारकी भाँति शिरोधार्य करते थे[3]।' धंगके एक दूसरे खजुराहो–लेखमें उसे 'महीपति' कहा गया है––'जिसका शौर्य देवताओं और अर्जुनका स्मरण दिलाता था।'[4]––ये उक्तियाँ, किसी भी प्रकार क्यों न देखी जायँ, केवल अस्पष्ट और साधारण निरूपण मात्र नहीं हैं।

प्रतिहारोंसे नन्नुक गौण अवश्य था किन्तु उन्होंने उसके साम्राज्य-प्रसारमें कोई विशेष बाधा नहीं पहुँचाई। उपर्युक्त कथनसे कमसे कम इतना तो प्रकट होता ही है कि उसके अधीन कुछ स्थानीय सामंत थे जो उसकी आज्ञाका पालन करते थे और उसका अभिनन्दन किया करते थे। वह शिलालेख पुनः सूचित करता है

१. इण्डियन एन्टिक्वेरी, भाग ३७, १६०८, पृ० १३५
२. डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ् नौर्थ इण्डिया, भाग २, पृ० ६६८
३. ई० आई०, भाग १, पृ० १२५ श्लो० १०
४. वही, पृ० १४१ श्लोक–१४–१५

कि 'उसने कितने ही शत्रु-समूहोंको जीता'। यह स्पष्ट है कि ये शत्रु वनकी आदिवासी जातिके गोंड़ और भर थे जो सरलतासे कीर्तिमान राजा नन्नुक-द्वारा अधिकृत कर लिए गए। उसने अपने युद्ध-रत प्रयत्नोंसे राज्य-सीमाको जेजाभुक्तिके बाहर वन-पर्वत-प्रदेशोंकी ओर बढ़ाया। किन्तु उसने प्रतिहारोंको पराजित नहीं किया, जैसा कि जनश्रुतियोंका कथन है। यदि यह घटना नन्नुकके समयमें घटी हुई न होती तो भारतीय प्रशस्तिकार प्रतिहारोंकी पराजय जैसी वास्तविक ऐतिहासिक घटनाको छोड़ देते, यह कल्पनासे परेकी बात है।

नन्नुकका नाम अन्य शिलालेखोंमें नहीं आया है, इसको कुछ इतिहासकारोंने अधिक महत्त्व दे दिया है। किन्तु इससे उसकी ख्यातिमें कोई कमी नहीं पड़ती। क्योंकि छूटनेका कारण पश्चात्‌के अभिलेखोंमें स्थानाभाव ही था।

५. वाक्पति

नन्नुकका पदगामी वाक्पति था जो उसका पुत्र और उत्तराधिकारी था। उसका उल्लेख धंगके दोनों खजुराहो-अभिलेखोंमें मिलता है। पहले लेखमें लिखा है कि 'वाक्पतिने अपने शत्रुओंको तुमुल युद्धमें परास्त किया और विंध्यमेखलाको अपने मनोरंजनके लिए क्रीड़ागिरि बनाया।'[1] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वह अपने पूर्वजोंकी राज्य-सीमाको विस्तृत करनेमें कुछ अंशतक सफल हुआ। जैसा कि पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है, चन्देल शासक इस समय यद्यपि प्रतिहारोंके करद थे परन्तु उनकी नूतन विजय-योजनाओंमें कोई बाधा नहीं थी। फिर भी उसका प्रसार कभी रुका नहीं यद्यपि राज्य-सीमाओंको निरंतर विषम अवस्थाओंका सामना करना पड़ा। दूसरे अभिलेख-द्वारा वाक्पतिके संबंधमें बतलाया गया है कि क्षितिप वाक्पतिने अपने दर्प और बुद्धिसे पौराणिक राजा पृथु और काकुस्थतकको भी लज्जित कर दिया था।[2] इस अस्पष्ट तुलनासे यह प्रकट होता है कि वह महत्त्वाकांक्षी था और विंध्यमेखलाके छोटे-छोटे सामंत शत्रुओंको कुचलनेमें सच्चाईसे अपनेको निरत रखता था।

उसका अल्पकालीन शासन सन् ८४५ से ८६० तक रहा। प्रतिहारोंमें सुविख्यात राजा मिहिरभोजके संरक्षणमें था। भोजका राज्यकाल सन् ८४० से ८९० ई० तक था। अपनी समस्त शक्तिके होते हुए भी भोज दक्षिणमें अपनी राज्य-सीमा यमुनाके पार न ले जा सका और चन्देल तब भी अर्ध-स्वतंत्र राज्य-शक्तिके रूपमें अंताराष्ट्रिय क्षेत्रमें और स्वतंत्र शक्तिके रूपमें आंतरिक क्षेत्रमें आचरण करनेके लिए स्वतंत्र थे।

---

१. ई० आई०, भाग १, पृ० १२५, श्लोक ११–१२

२. ई० आई०, भाग १, पृ० १४१ श्लोक १६–१७

६. जयशक्ति

वाक्पतिके स्वर्गारोहणके पश्चात् उनके दो पुत्रोंमें ज्येष्ठपुत्र जयशक्ति ही सन् ८६० ई०के लगभग सिंहासनारूढ़ हुआ। छोटा भाई विजयशक्ति भी वैसे ही विख्यात वीर था। ऊपर जिन दो अभिलेखोंकी चर्चा की गई है, उनको छोड़कर प्रायः अन्य सब चन्देल उत्कीर्ण लेखोंमें इन दोनों सहोदरोंको चन्देलोंका प्रथम प्राचीन पुरुष माना गया है। इन दोनोंके नाम भिन्न-भिन्न अभिलेखोंमें भिन्न-भिन्न मिलते हैं। जयशक्तिको जय, जेजा, जेजाक और जेज्जाक नामोंसे अलंकृत किया गया है। अभिलेखोंमें उसका गुणानुवाद शत्रुओंके विजेताके रूपमें किया गया है। धंगके खजुराहो-लेखमें अंकित है कि उसके और उसके अनुजके अनुलनीय शौर्यने विपक्षियोंका उसी प्रकार सर्वनाश किया जिस प्रकार धधकती हुई आग वनको भस्म कर देती है[१]। अभिलेखोंकी इन महत्त्वपूर्ण पंक्तियोंका तात्पर्य यह है कि ये दोनों भाई इस वंशके पराक्रमी शासकोंमेंसे थे। शिलालेख बार-बार यह अंकित करते हैं कि इन्होंने इस वंशमें दीप्ति जोड़ दी। जयशक्ति को 'वीर' के विरुदसे अलंकृत किया गया है जिससे उसके रण-कौशल और अप्रतिम योद्धा होनेका परिचय मिलता है।

महोबाके एक खण्डित शिलालेखमें यह कहा गया है कि 'जेजा' (जयशक्ति) ने ही जेजा-भुक्ति[२] नामको ठीक उसी प्रकारसे जन्म दिया जिस प्रकारसे पृथुने पृथ्वीको।[३] ध्यान देनेकी बात यह है कि डॉ० रायने यह धारणा प्रकट की है कि 'चन्देल शासक जयशक्तिके ही नामपर बुन्देलखण्डका नाम जेजाभुक्ति पड़ा।' उन्होंने और डॉ० र० चं० मजूमदारने बड़ी गम्भीरतासे जेनरल कनिंघमको उस बातका भी खण्डन किया है जिसके द्वारा उन्होंने ह्वेनत्सांगके चीह्-ची-त्-ओ और खजुराहोमें तादात्म्य स्थापित करनेका प्रयत्न किया है। किन्तु चीह्-ची-त्-ओ और उसकी राजधानी खजुराहोकी भौगोलिक परिस्थिति जैसी ह्वेनत्सांगने बतलाई है—हमारी समस्त शंकाओंको निर्मूल करती हुई यह सिद्ध करती है कि जेजाभुक्ति नामसे इस भू-भागकी स्थिति ह्वेनत्सांगके समयसे ही चली आ रही है। जयशक्ति-

---

१. ए० ई० भाग १, पृ० १२६, श्लोक १५

२. जेजाभुक्ति वर्त्तमान बुन्देलखण्डके वृहद् रूपका प्राचीन नाम है। यही वास्तवमें चन्देल-साम्राज्यका बोध कराता है। वर्त्तमान जेजाहुति और जेझौती शब्द उसीसे निकले हैं। इस नामके अनेक रूपोंकी चर्चा पहले की गई हैं। मदनपुर-शिलालेखमें इसे जेजाक-भुक्ति कहा गया है। (ए० एस० आर० भाग १०, पृ० ३२, श्लो० १०)। कलचुरी राजा जजल्लदेवके रतनपुरके शिलालेखमें जेजाभुक्तिक कहा गया है (ई० आई० भाग १, पृ० ३५, श्लो०२१)। अलबरूनीकी इण्डिकामें जेजाहुति रूप आया है, जिसकी राजधानी खजुराहो बतलाई गई है (सचाऊ-द्वारा अनूदित, भाग १, पृ० २०२)। इब्नबतूताने सन् १३३५ में कजना नगरका भ्रमण किया था। यह वही बरूनी और इब्नुलअतहरका खजुराहह् होगा।

३. ए० ई०, भाग १, पृ० १२६, श्लो० १५

द्वारा यह नामकरण नहीं हुआ। जयशक्तिने इस भुक्तिको अपना नाम प्रदान किया, अभिलेखोंके इस कथनकी सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती। जयशक्तिने अपनी विजयोंसे इस पूरे भू-भागमें पूर्वकी अपेक्षा निश्चित ही क्रांतिकारी कार्य किया। प्रशस्तिकारोंने उसके गौरवको स्थायी करनेके लिए पहलेसे चले आते हुए नामका इस आलंकारिक रूपसे संबंध संघटित कर दिया होगा। इतिहासमें ऐसे उदाहरणोंकी कमी नहीं। इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि जयशक्तिने अपने पराक्रमसे वंशकी राज्यश्रीको पर्याप्त बढ़ाया।

७. विजयशक्ति

जयशक्तिको कोई संतान नहीं थी इसलिए उत्तराधिकारका प्रश्न उपस्थित होनेपर उसका अनुज विजयशक्ति गद्दीपर आसीन हुआ। जो अपने पूर्वजोंकी भाँति वीर और महत्त्वाकांक्षी था, इसका व्यक्तित्व पूर्ववर्ती शासकोंकी अपेक्षा कई दृष्टियोंसे अधिक महत्त्वपूर्ण था। वह विजेताके विशेष गुणोंसे सुसम्पन्न था। धंगके खजुराहो-अभिलेखमें उसके संबंधमें कहा गया है कि 'वह रामकी भाँति अपनी विजयकी दौड़में दक्षिणी भारतके अंतिम छोरतक पहुँच गया था[१]।' यह आलंकारिक विवरण कुछ सत्यांशका आधार अवश्य है इसमें सन्देह नहीं। सचमुच उसने दक्षिण भारतपर आक्रमण किया। यह दूसरी बात है कि उसने एक सामंतके रूपमें यह विजय-यात्रा की हो। कन्नौजका प्रतिहार शासक मिहिरभोज अब भी जेजाभुक्तिका संरक्षक था। इस दशामें विजयशक्तिकी यह दक्षिण-विजय भोजके एक अधीनस्थ सामंतके रूपमें रही होगी। हाँ, प्रश्न यह उठ सकता है कि उसने उत्तर भारतपर आक्रमणकर प्रतिहारोंसे बंधन-मुक्त होनेकी योजना क्यों नहीं बनाई? अपेक्षाकृत यह अधिक आवश्यक भी था। उसका कारण यह था कि विजयशक्तिके उत्थान और उत्तरकी ओर बढ़नेकी योजनासे भोज जैसे लोकप्रिय बलशाली सेनावाले शासकपर कोई भी मौलिक प्रभाव पड़नेकी सम्भावना नहीं थी। दूसरे यह कि प्रतिभाशाली भोजके विरुद्ध चन्देलोंका अभी शिर उठाना भी अदूरदर्शितापूर्ण था, फिर विद्रोह करनेकी बात कौन करे!

किन्तु दक्षिणकी ओर चन्देलोंके बढ़ावके लिए इस समय सुयोग उपस्थित हो गया था। दक्षिणका राष्ट्रकूट शासन इस समय दुर्बल हाथोंमें आ पड़ा था। अमोघवर्षकी शक्तिशाली भुजाओंसे शासन-सूत्र उसके उत्तराधिकारी अकालवर्षके हाथोंमें आ गया था। अकालवर्ष संकल्पका दुर्बल और अकुशल था। ऐसे ही दुर्दिनमें राष्ट्रकूटोंके पड़ोसी राज्योंने सिर उठाया था। राष्ट्रकूट इस समय उनसे निपटनेमें पूर्ण रूपसे व्यस्त थे। इस समयका लाभ उठाकर विजयशक्तिने दक्षिणपर प्रबल आक्रमण किया, जिसे रोकनेमें तत्कालीन राष्ट्रकूट-शासक पूर्ण रूपसे असफल रहा। इन तथ्योंके आधारपर अभिलेखोंमें विजयशक्तिकी तुलना रामसे बहुत ही संगत जान पड़ती है।

---

१. ई० आई०, भाग १, पृ० १४१–४२, श्लो० २०

प्रतिहारोंके विरुद्ध युद्ध न छेड़नेसे विजयशक्तिकी नीति-कुशलता प्रदर्शित होती है जैसा कि ऊपर कहा गया है। इससे यह भी अनुमानित होता है कि संरक्षणमें होते हुए भी उस समय प्रतिहारों और चन्देलोंके बीच मैत्री स्थापित थी। प्रतिहारोंके तथाकथित संरक्षणका चातुर्य-पूर्ण लाभ उठाकर विजयशक्तिने अपने पूर्ववर्ती शासकोंकी राज्य-विजय-संबंधी नीतिको और भी उत्कृष्ट रूपमें रक्खा। खेद है कि उसका राज्य-काल अत्यल्प (ई० सन् ८८० से ८९९ तक) ही रहा।

८–राहिल

सैन्य-शक्तिका विस्तार

नन्नुकके उपरान्त चन्देल-वंशका शासन क्रमशः ऐसे शासकोंके हाथमें आया जो अत्यधिक महत्त्वाकांक्षी और पौरुष-सम्पन्न थे तथा पड़ोसी राजाओंसे युद्ध करनेमें संतत संलग्न थे। इसके फलस्वरूप एक ओर तो उनके साम्राज्यकी सीमा बढ़ती गई, दूसरी ओर सैनिक-शक्ति। कितने ही पड़ोसी राज्योंसे इनकी सैन्य-शक्ति अधिक प्रभावशाली थी।

विजयशक्तिके पुत्र और उसके एकमात्र उत्तराधिकारी राहिलके समयकी राजनीतिक अवस्था वैसी नहीं ज्ञात होती जैसी उसके पिताके समय थी। यों तो उसकी समुचित चर्चा केवल लालाजी और चतुर्भुजी अभिलेखोंमें ही की गई है, पर उसका नाम अजयगढ़के एक मंदिरकी अनेक शिलाओंपर भी खचित है। इन दोनों अभिलेखोंमें उसकी वीरता एवं विजयोंकी बड़ी ऊँची प्रशंसा की गई है। दूसरे शासकोंके अभिलेखोंमें भी इसकी पुष्टि मिलती है। धंगके खजुराहो-अभिलेखके राजकीय प्रशस्तिकारने वर्णन किया है, "जिसका (राहिलका) स्मरण करने-मात्रसे रिपुओंको रात्रिमें नींद नहीं आती थी, जो उस समरकी वेदीपर रौद्र रूपधारी कृपाण मूर्त्तिके लिए बलि देते कभी थकता ही नहीं था, रक्तकी प्रवाहित धारा ही मानो जहाँ विशुद्ध घृतकी आहुतियाँ थीं, धनुषकी प्रत्यंचाकी टंकार ही मानो वषट्कार था और जिसका उत्क्रोश सुनकर पलायन करनेवाले क्रुद्ध भट ही ऋत्विज् थे। उनकी सफल मंत्रणाके मंत्रोंके साथ वह अपने शत्रुओंको वैरकी आगमें पशुओंकी भाँति बलि चढ़ाता गया। इस आगकी लपटें उसके अशांत क्रोधरूपी वायुके साथ ऊपर उठने लगती थीं।"[1] धंगके ही एक दूसरे खजुराहो-अभिलेखमें उसे इस बातका श्रेय प्रदान किया गया है कि वह अपने मित्रोंका समादर और वैरियोंका दण्ड-विधान करता था।[2] यद्यपि उन विवरणोंमें किसी ऐसी खास महत्त्वपूर्ण घटनाकी ओर संकेत नहीं मिलता जिसका नायक राहिल हो, फिर भी शत्रुओंके विरुद्ध उसकी सफलताका आभास तो स्पष्ट ही है।

१. ई० आई०, भाग १, पृ० १३१, श्लोक १७
२. वहीं, पृ० २४२, श्लो० २२–२३

अजयगढ़के एक मंदिरकी शिलाओंपर उसका नाम अनेक स्थानोंपर अंकित हैं[1]। इसके अतिरिक्त यह भी लोक प्रसिद्ध है कि अजयगढ़-दुर्गके कुछ जलाशय और मंदिर उसके ही द्वारा निर्मित कराए गए हैं[2]। इससे प्रमाणित होता है कि राहिलके समयमें अजयगढ़ चन्देल राज्यके भीतर आ गया था और यह भी सिद्ध हो जाता है कि अजयगढ़की पहाड़ी और उसका समीपवर्त्ती भाग उससे पहले ही अधीन हो गया था। राहिल-सागर और उसके मुहानेपर बना एक मनोहर किन्तु जीर्ण-शीर्ण मंदिर, दोनों निश्चित राहिलकी ही कृतियाँ हैं। ये महोबासे निकट ही हैं। महोबा और अजयगढ़ दोनों उसके हाथोंमें थे। महोबा तो उसकी राजधानी थी और अजयगढ़ उसका सैनिक-केन्द्र। अजयगढ़ चन्देलोंका महत्त्वशाली सैनिक-केन्द्र तबतक रहा जबतक कि कालंजरका महत्त्वपूर्ण दुर्ग यशोवर्मन्-द्वारा अधिकृत नहीं कर लिया गया।

राहिलकी विजयोंका एक विवरण महाकवि चन्दबरदाईने भी प्रस्तुत किया है। चन्दने यह भी बतलाया है कि राहिलने रासनकी स्थापना की थी जो परगना बदौसामें था। यह कथन ठीक हो सकता है क्योंकि रासन पहाड़ोकी चोटीपर था। आज भी वहाँ भग्नावशेष उपलब्ध होते हैं। उनको देखनेसे ज्ञात होता है कि खजुराहोमें दसवीं-ग्यारहवीं सदीके बने अत्यंत सजावटवाले भवनोंसे वे निश्चित ही प्राचीन हैं। इससे भी इस नगरके राहिल-द्वारा बनाये जानेकी पुष्टि ही होती हैं[3]।

चन्देल इस समयतक चेदि-शासकोंकी राजनीतिक समानतामें पहुँच चुके थे। राहिलने अपनी कन्या नन्दादेवीका विवाह अपने समकालीन चेदि राजा कोक्कलसे किया[4]। यह विवाह राजनीतिक दृष्टिसे भी कम महत्त्वका नहीं था।

यदि चन्देल शासक राहिलके कार्योंका सिंहावलोकन किया जाय तो ज्ञात होगा कि सन् ९०० से ९१५ ई० तकके पन्द्रह वर्षके शासन-कालमें उसने सैन्य-बल संघटित किया, महत्त्वशाली बनाया और अजयगढ़की विजय करके ऐतिहासिक सैनिक केन्द्र स्थापित किया। इस अवधिमें उसने पूर्व और पश्चिममें अपनी दृढ़तर शक्ति स्थापित की। कलचुरी शासकोंसे वैवाहिक संबंध जोड़कर उसने प्रभावशाली कार्य किया। इस प्रकार अपने उत्तराधिकारीके लिए उसने ऐसा मार्ग प्रशस्त कर दिया कि उसने प्रतिहारोंकी सार्वभौम सत्ताके विरुद्ध अंतिम प्रहार करके अपने वंशको स्वतंत्र कर लिया। प्रतिहारोंके संरक्षणमें शासन करनेवाला वह अंतिम चन्देल था। यद्यपि अपने राज्यको वह स्वयं स्वतंत्र तो न बना सका किन्तु उसके लिए प्रचुर सामग्री उसीने इकट्ठी कर दी।

---

१. ज० ए० सो० बं०, १८८१, भाग १, पृ० ८
२. आ० स० रि०, भाग ७, पृ० ४१
३. ज० ए० सो० बं०, भाग १, १८८१, पृ० ८९
४. ए० भ० भो० ऋ०, भाग ९, १९२७–२८, पृ० २८५

अध्याय ५

स्वतंत्र शासन

गत अध्यायोंमें जो विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है उससे प्रकट है कि ये नव-स्थापित चन्देलवंशके राजे अधीनतामें रहते हुए भी अपने साम्राज्यकी वृद्धि ही करते गये। वे उत्तरमें महोबाको समेट चुके थे। अपने साथ वे अपनी कुलदेवीको भी महोबा लेते आए। यहींसे अपने राज्यको उन्होंने पूरे जेजाभुक्तिमें फैलाया। राहिलने तो दक्षिणमें इस भुक्तिके बाहर भी प्रसार करनेकी चेष्टा की और संघटित विजय-वाहिनीकी प्रतिष्ठा कर दी। अबतक वे पूर्ण रूपेण एक शासक जातिके रूपमें विकसित हो चुके थे और अनेक (गोंड़, कोल, भील) जातियोंको अर्ध या पूर्ण रूपमें अधीनस्थ कर चुके थे। एक ओर तो उनका प्रयत्न अपने राज्य-प्रसारकी ओर लगा था और दूसरी ओर प्रतिहारोंकी सार्वभौम सत्ताको विच्छिन्न करनेके लिए आवश्यक उपादान संग्रह करनेमें। उनका लक्ष्य व्यापक और ऊँचा था। वे देशमें विरल शासक बनना चाहते थे। दक्षिणके राष्ट्रकूटोंको वे किसी भी मूल्यपर उत्तर भारतकी ओर नहीं बढ़ने देना चाहते थे इसीलिये ऐसे उपक्रम करते रहे कि वे दक्षिण भारतमें ही अपनी समस्याओंसे मुक्त न हो सकें। यह सब उनकी अद्भुत सफलता थी।

६–हर्ष

उत्तरी भारतमें प्रतिहारोंकी अवनति

राहिलके उपरान्त उसका पुत्र हर्ष जब सन् ६१५ ई० के लगभग गद्दीपर बैठा तब प्रतिहारोंके गौरवशाली वंशका सूर्य प्रतीचीमें उतर रहा था। दुर्भाग्यवश राजा सुप्रख्यात और प्रतिभाशाली मिहिरभोजके पश्चात् एक दुर्बल राजा राजसिंहासनपर आसीन हुआ था। उधर प्रतिहारोंका जो संघर्ष राष्ट्रकूटोंके साथ वत्स और ध्रुवके समयसे निरंतर चला आ रहा था, उसका रूप अचानक सन् ६१५ से ६१८ के बीच प्रतिहारोंके लिए बड़ा घातक हो गया। महेन्द्रपालके पश्चात् गद्दीपर उसका पुत्र द्वितीय भोज बैठा जो सन् ६०८ से ६१० तक ही शासन कर सका। उसका शासन तो प्रतिहारोंके लिए ही अशुभ सिद्ध हुआ क्योंकि वह अपने सब प्रयत्न कर चुकनेपर भी सीमापर स्थित महत्त्वाकांक्षी अधीनस्थ राजाओंके प्रबल प्रतिरोधसे साम्राज्यकी स्थिति भंग होनेसे न बचा सका। अपने पिताके पश्चात् तत्काल बागडोर हाथमें लेनेवाला उसका पुत्र महिपाल भी साम्राज्यके क्रमिक अधःपतनको न सँभाल सका।

इस पतनमें चन्देलोंका कितना हाथ रहा, यह विषय कुछ विवाद-ग्रस्त है। राष्ट्रकूट राजा तृतीय इन्द्रने जब उज्जयिनीपर आधिपत्य स्थापित किया तब उसने उत्तर भारतको भी एक बार रौंद दिया। कन्नौजकी दशा स्वतः बड़ी चिंताजनक थी; वह तो पूरा ध्वस्त ही हो चुका था। राष्ट्रकूटोंका उत्तरी भारतपर यह आक्रमण निरर्थक ही नहीं था। गंगा-यमुनाके दोआबके कुछ भागपर उन्होंने अपना आधिपत्य भी स्थापित किया। डॉ० रायका तो मत है कि दक्षिणके राजाओंका यह आधिपत्य सन् ९३० ई० तक प्रतिष्ठित रहा। तृतीय इन्द्रके आक्रमणका यह प्रभंजन कन्नौजके तत्कालीन साम्राज्यके लिए बड़ा भारी धक्का था। कन्नौजकी जो सत्ता प्रांतोंमें विराजती थी उसे उखाड़ फेंकनेमें इसने कोई कसर नहीं रक्खी।

यह सत्य है कि प्रतिहारोंने अपने कतिपय सामन्तोंकी सहायतासे खोये हुए साम्राज्यके कुछ भाग लौटा लिये। किन्तु प्रतिहारोंके प्रति सामंतोंका यह श्रेष्ठ आचरण राजभक्तिके कारण नहीं था वरन् राष्ट्रकूटोंके उत्तरकी ओर बढ़ावको स्वयं अपने विकासकी दृष्टिसे घातक समझकर था। केन्द्रसे उनका बड़ा शिथिल ही संबंध था।

खजुराहोके एक खण्डित शिलालेखसे ज्ञात होता है कि हर्ष या यशोवर्मन् चन्देलने प्रतिहार शासक क्षितिपालदेवको पुनः गद्दीपर बिठाया।[१] इस घटनाके निश्चित रूपसे दो निष्कर्ष निकाले गये हैं। किलहौर्नने यह मत स्थिर किया है कि क्षितिपालदेवके समकालीन हर्षने पहले तो उसे पराजित किया किन्तु पुनः उसे उसकी गद्दीपर प्रतिष्ठित भी कर दिया। किन्तु नूतनतम खोजोंसे क्षितिपालदेवका तादात्म्य महिपालदेवसे सिद्ध किया गया है। यही युक्तिसंगत भी है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि प्रतिहार शासक महिपाल अथवा क्षितिपालको राष्ट्रकूट आक्रामक तृतीय इन्द्रने पदच्युत किया था, चन्देल राजाने नहीं। किलहौर्नकी यह व्याख्या ठीक है कि उक्त अभिलेखकी दशमी पंक्तिमें जो करण कारक 'येन' आया है वह हर्षके लिए ही आया है। उसका यह उद्घोष कि उसने अपने संरक्षक सम्राट्को पुनः राजगद्दीपर प्रतिष्ठित किया, उसकी अपरिमेय शक्ति और कौशलका द्योतक है। पर उसका आक्रमण प्रतिहारोंपर प्रमाणित नहीं होता क्योंकि जिस समय प्रतिहार-साम्राज्यपर राष्ट्रकूटोंका आक्रमण हुआ, उस समय उसका कन्नौजके सार्वभौम शासकसे कोई वैर नहीं था। इतना अवश्य था कि हर्षको कन्नौजका कोई भय नहीं था और न उसने भयभीत होकर राष्ट्रकूटोंके विरुद्ध प्रतिहारोंकी सहायता ही की। यह तो हर्षकी सूक्ष्म नीति थी जिसने

१. "पुनर्येन श्रीक्षितिपालदेवः नृपतिसिंहासने स्थापितः"—ई० आई० भाग १, पृ० १२२, पंक्ति १०; डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ नौर्थ इण्डिया, भाग १, पृ० ५८१–८२

कन्नौजमें अभी प्रतिहारोंके बने रहनेकी बड़ी आवश्यकता समझी और दाक्षिणात्य मराठोंके पूर्ववर्ती राष्ट्रकूटोंकी महत्त्वाकांक्षाके विरुद्ध कन्नौजके सार्वभौम रूपको बनाये रखना उपयुक्त समझा। इससे भिन्न कोई दूसरी नीति सफल न होती। लड़खड़ाती अवस्थामें भी प्रतिहारोंकी अभी आवश्यकता थी जिनकी छत्र-छायामें चन्देल अपनी शक्ति और साम्राज्यका गठन अधिक प्रभावकारी तथा विस्तृत बना लें।

चन्देलों-द्वारा प्रतिहारोंकी आंतरिक व्यवस्थामें हस्तक्षेप

चन्देलोंके राजकीय आलेख तो यह बतलाते हैं कि चन्देलोंने प्रतिहारोंका प्रभुत्व तो वस्तुतः सन् ९५४ ई० अर्थात् धंगके शासनके कुछ कालतक ही माना है। किन्तु कतिपय विशिष्ट प्रमाणोंसे यह विदित हो रहा है कि कन्नौजके प्रति उनकी यह मान्यता केवल नाममात्रकी और मौखिक थी। दसवीं सदीके प्रारम्भसे ही प्रतिहारोंकी आंतरिक व्यवस्थामें हर्ष हस्तक्षेप करने लगा और प्रतिहारोंका समस्त राजनीतिक अस्तित्व ही चन्देलोंकी अनुकम्पापर आकर टिक गया। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि दूसरे प्रांत भी मौखिक रूपसे उनका प्रभुत्व तो मानते रहे परन्तु वास्तविकता यह थी कि वे द्रुत गतिसे विद्रोह करते जा रहे थे और अलग भी होते जा रहे थे। उदाहरणके लिए काठियावाड़को लिया जा सकता है। २२ दिसम्बर सन् ९१४ ई० के हड्डालके पत्रसे[1] ज्ञात होता है कि महिपाल तब भी काठियावाड़का प्रभु था जब चापके राजा धरणीवर्षने दानपत्र दिये थे।[2] किन्तु यह भी छिपा नहीं है कि मूलराज चालुक्य चापवंशको उच्छिन्न करके अनिहलवाड़में स्वतंत्र राज्यकी स्थापना कर रहा था। तात्पर्य यह कि सन् ९१४ ई० के पश्चात् कन्नौजके हाथोंसे काठियावाड़ निकल चुका था। उधर चाहमान भी स्वतंत्र राज्य-स्थापनके प्रयत्नमें लगे थे। इस प्रकारके चतुर्दिक झोंकोंके बीच केवल चन्देल शासक हर्ष ही ऐसा था जो कन्नौजका पक्ष ग्रहण किये हुए था। वह भी प्रधानतया अपनी स्वतंत्रताको ही परिपुष्ट कर रहा था।

स्वतंत्र प्रभुत्वकी प्रतिष्ठा

जैसा कि सन् ९९९ ई० के धंगके अभिलेखसे ज्ञात होता है, हर्ष 'परम-भट्टारक' था और वह एकतंत्र-स्वतंत्र राजा हो चुका था।[3] उसके आगमनके साथ ही चंदेलवंशके संरक्षणका काल समाप्त हो चुका था। यह स्मरण रखना चाहिए कि उसने अपनी स्वतंत्रता प्रतिहारोंसे युद्ध करके नहीं स्थापित की। अन्य स्वतंत्र होनेवाले प्रांतोंके प्रतिकूल उसने अपनी स्वतंत्रता शांतिमय प्रयत्नोंसे

---

१. हिस्ट्री ऑफ़ मेडिवल हिन्दू इण्डिया, भाग २, पृ० १०६

२. आई० ए०, भाग १२, पृ० १९०

३. वही भाग १७, पृ० २०२

प्राप्त की। यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि तृतीय इन्द्रको बहिष्कृत करने और साम्राज्यको भंग होनेसे बचानेके उपलक्ष्यमें उसने गौरवपूर्ण संधि-द्वारा इसे प्राप्त किया।

स्वतंत्र सत्ता स्थापित होनेके पश्चात् महत्त्वाकांक्षी हर्षने विश्वविजयके लिए प्रस्थान किया। यद्यपि उसका यह प्रस्थान स्थायी नहीं था फिर भी उसने अनेक अभिमानी शत्रुओंको जीता।[1] धंगका सम्वत् १०११ का खजुराहो-प्रस्तर-अभिलेख यह प्रस्तुत करता है कि "उस वरेण्यतम राज्यमें धर्म-विरुद्ध आचरण करनेमें भय था और वह सर्वदा विष्णुके चरणकी अर्चनाके लिए इच्छुक रहता था।"[2] वे शत्रु कौन थे जिन्हें उसने पराजित किया, इस संबंधमें अभिलेख मौन है। इसका अर्थ यह है कि उसका यह आक्रमण स्थायी प्रभाववाला नहीं था, केवल धावा-मात्र था।

धंगके ही नन्यौरा पत्र (सम्वत् १०५५) में हर्षके संबंधमें कहा गया है कि उसने अपने भयानक सैन्य-समूहसे चारों ओर आतंक मचा दिया था और कितने ही राजाओंको करद बना लिया था।[3] धंगके सम्वत् १०५६ का एक अभिलेख निर्देश करता है कि अपने विरोधियोंका दलन करनेके उपरान्त हर्षने सारी वसुन्धराकी रक्षा की थी।[4] यह सत्य है कि इन कथनोंमें कोई महत्त्वका ऐतिहासिक तथ्य नहीं है किन्तु अस्पष्ट कथन होते हुए भी इतना तो प्रकट है ही कि वह अपने पूर्वजोंसे कहीं अधिक ओजस्वी और प्रतिभाशाली था। यह भी प्रकट होता है कि वह जीवनपर्यंत अपने शत्रु-देशोंके साथ अपरिमित युद्ध-चक्रमें उलझा रहा और ऐसी सब शक्तियोंका समूल उन्मूलन करता रहा जो तत्कालीन चन्देलोंके विकासमें बाधक थीं।

चन्देल शासकोंमें यही प्रथम नीतिपटु और वीर था जिसने अविलम्ब ही अपने वंशकी लोकप्रियताको उन्नत किया और अभ्युदयको स्थायी बनाया। अपनी लक्ष्य-पूर्तिके लिए इसने चाहमान शासकसे वैवाहिक संबंध स्थापित किया—"समान कुल गौरववाले चाहमानोंके वंशमें समुत्पन्न योग्य कुमारी कञ्चुकाका शास्त्र-विधिसे पाणिग्रहण किया।"[5] चाहमान भी उस समय कन्नौज-सत्तासे अलग हो रहे थे। इसी प्रकारका एक दूसरा वैवाहिक संबंध भी स्थापित किया गया। त्रिपुरीके कलचुरी राजा लक्ष्मीकरणके बनारसके दानपत्रसे इसका रहस्य खुलता है। इस लेखमें वर्णित चित्रकूट भूपाल, जिसे 'अभयदान' देनेका उद्घोष कलचुरी राजा कुक्कल करता है, कुछ विवादका विषय बना दिया गया है। किन्तु चित्रकूट भूपालका

---

१. ई० आई०, भाग १, पृ० १२१, पंक्ति ७
२. वही, भाग १, पृ० १२६, श्लोक २०–२१
३. आई० ए०, भाग १६, पृ० २०३, पंक्ति २–३
४. ई० आई० भाग १, पृ० १४२, श्लोक २५–२८
५. वही, पृ० १२६, श्लोक २०–२१

तादात्म्य चन्देल शासकसे ही किया जाना ठीक है।[1] ऐसा निश्चित हो जानेपर यह फल निकलता है कि कुक्कलकी रानी नट्टाख्यदेवी, उसके समकालीन राजा हर्षकी राजकुमारी थी। हर्षने अपने अति सन्निकटके दो उदीयमान राजवंशोंसे इस प्रकारके संबंध स्थापित करके अपनी दूरदर्शी योजनाओंको कार्यान्वित करनेमें बड़ी सुविधा प्राप्त कर ली। इस प्रकार अपनी स्वतंत्र स्थिति ठोस बनानेमें भी उसने सफलता प्राप्त की।

ऐतिहासिक सामग्रियोंसे हर्षके व्यक्तित्व और धार्मिक धारणाका विशद परिचय प्राप्त होता है। खजुराहोके श्रीलक्ष्मीजीके मंदिरमें प्राप्त होनेवाले यशोवर्मन्के एक अभिलेखसे[2] प्रकट होता है कि "वह एक अमिय तरु था जिसकी व्यापक ख्यातिके पुष्पोंसे झड़नेवाले परागसे यह देश आज भी सुवासित है। उसमें ऐश्वर्य और वाग्वैभव दोनोंका संयोग था तथा नीति और वीरत्वकी दीप्ति उतनी ही थी जितनी सौजन्यकी। पूर्ण धैर्य, संतोष, विजयकी इच्छा, आत्म-विश्वास और शालीनता तो उसके जन्मजात गुण थे।....वह असत्य भाषणमें मानो सहज ही मूक था। उसका रूप जितना ही सुन्दर था, उसकी बुद्धि उतनी ही प्रखर।" वह वैष्णव धर्मावलम्बी था। विष्णुके प्रति उसकी भक्तिकी चर्चा सभी अभिलेखोंसे प्राप्त होती है।

१०—यशोवर्मन्

नीति-परिवर्त्तन

राजा हर्षका उत्तराधिकारी यशोवर्मन् (नामान्तर लक्ष्मणवर्मन्) अपने पूर्वजोंसे असाधारण प्रतिभावाला शासक सिद्ध हुआ। सन् ९३० ई० में वह सिंहासनारूढ़ हुआ। तबसे लगभग बीस वर्षोंमें उसने अभूतपूर्व युद्धोंमें विजयी होकर वंशका गौरव शिखरासीन करनेके लिए कोई प्रयत्न उठा नहीं रक्खा। पहलेसे अधिकाधिक महत्त्वाकांक्षी राजनीतिक योजनाएँ लेकर उसने शस्त्र उठाये और भारतव्यापी साम्राज्य स्थापित करनेकी कल्पना की। अपने निःशेष शत्रुओंके महत्त्वशाली राज्य एवं दुर्ग विजित करके राज्यके लिए उसने स्थायी स्तम्भ

---

१. वास्तवमें यह चित्रकूट वह नहीं है जो राजपूतानेमें उसी नामसे स्थित एक पहाड़ है। यह तो बुन्देलखण्डमें स्थित चित्रकूट पर्वतसे तात्पर्य रखता है जैसा कि जनरल कनिंघमने तादात्म्य स्थापित किया है। यह पहाड़ी पयस्विनीके बायें तटपर अथवा पश्चिमी कूलपर, कर्वीसे पांच मील दक्षिण-पश्चिम, बाँदासे पचास मील दक्षिण-पूर्व स्थित है। यह रामायणका चित्रकूट है। (आ० स० रि०), भाग २१, पृ० १०–१३

२. वही, पृ० १३१

प्रतिष्ठित कर दिये। यही नहीं, अपने पिता हर्षकी नीतिमें भी उसने क्रांतिकारी परिवर्त्तन किए। हर्षकी नीति प्रतिहारोंके प्रति शांति और सहयोगकी थी, जिसकी उपयोगिताका वर्णन पीछे किया जा चुका है। उसने इसका परित्याग करके प्रतिहारोंके विरुद्ध विग्रह-नीतिका प्रयोग किया। उसने कन्नौजपर ऐसा प्रलयंकारी आक्रमण किया जिसके फलस्वरूप लड़खड़ाता हुआ प्रतिहार-वंश समाप्तप्राय हो गया। यद्यपि प्रतिहारोंका नाममात्रका राज्य कन्नौजमें अगले अनेक वर्षोंतक प्रतिष्ठित रहा पर उनकी सार्वभौमताकी भी जो थोड़ी मान्यता चल रही थी वह भी चकनाचूर हो गई। प्रान्तोंसे लगा हुआ सूत्र-संबंध अब बिलकुल भंग हो गया। गुजरात, अजमेर और मालवा सब स्वतंत्र राज्य बन गये। इस घटनाने सारे चन्देलोंकी राजनीतिक आकांक्षाओंके समक्ष उत्तरी भारतको निरवलंब समर्पित कर दिया।

कालंजर-विजय

यशोवर्मन्‌ने अपने वंशको स्थायी आधार देना चाहा इसलिए उसने समीपस्थ कालंजर गिरिको जीतना चाहा, जो सैनिक महत्त्वका अद्वितीय स्थान था। सामान्य रूपसे कालंजर तो हर्षके समयमें ही प्रतिहारोंसे उसके मधुर संबंधके फलस्वरूप चन्देलोंके प्रभावमें आ चुका था, किन्तु उसकी विजयका एक विशेष राजनीतिक महत्त्व यह था कि कालंजरका दुर्ग भारत-प्रसिद्ध था। उत्तरी भारतका एकच्छत्र शासक बननेवाले प्रत्येक विजेताके लिए इसकी विजय एक मौलिक स्थान रखती थी। मध्यकालीन पूर्व और उत्तर भारतके इतिहाससे यह रहस्य प्रकट हो जाता है। महाभारत-कालमें इसका जितना धार्मिक महत्त्व था उससे कई गुना अधिक महत्त्व उस समय इसका राजनीतिक दृष्टिसे हो गया था। इसलिए उसने कालंजरपर आक्रमण करके उसे अपने अधीन कर लिया।

यह प्रश्न कम विवादग्रस्त नहीं है कि चन्देलोंने किससे कालंजरको जीता। राष्ट्रकूट राजा तृतीय कर्णके जूरके मैहर रियासतमें हालमें ही प्राप्त अभिलेखसे ज्ञात हुआ है कि कालंजरपर सन् ९४० ई० के पूर्व कभी तृतीय कर्णका अधिकार था। उससे यह ज्ञात होता है कि उसने गुर्जरोंको जीता। ये गुर्जर कौन थे? खोजसे ज्ञात हुआ है कि कहेद और देवलीके पत्रोंमें कालंजरसे संबंधित जिन गुर्जरोंकी चर्चा आई है, वे और कोई नहीं, कन्नौजके गुर्जर प्रतिहार ही थे। यह भोजदेवके वाराह ताम्र-पत्रसे भी पुष्ट होता है, जो कान्यकुब्ज-भुक्तिके कालंजर-मण्डलमें भूमिदानके उपलक्ष्यमें लिखा गया था।[१] डा० रायने इन सामग्रियोंके आधारपर यह परिणाम निकाला है कि यशोवर्मन्‌ने कालंजरको गुर्जर प्रतिहारोंसे नहीं, राष्ट्रकूटोंसे जीता है। यशोवर्मन् तृतीय कर्णका समकालीन

१. डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ नदर्न इण्डिया, भाग २, पृ० ६७४

था।[1] चि० वि० वैद्य[2] एवं सर कनिंघम[3] की धारणा है कि यशोवर्मन्‌ने कालंजरको कलचुरी राजासे जीता। चेदीके राजाओंने अपनेको उस बड़े नगर कालंजरके स्वामीके विरुद 'कालंजर पुराधीश्वर'से सुशोभित किया था। दाहलके कलचुरोंने पिछले समयमें तमसा नदीके उस भागपर अधिकार किया था जिसे आज बघेलखण्ड कहते हैं। कालंजर दुर्गके साथ-साथ जब उन्होंने जेजाकभुक्तिपर आधिपत्य कर लिया तब गर्वभरे 'कालंजराधिपति' के विरुदसे अपनेको अलंकृत किया। यह ऐसा विरुद था जिसे कलचुरी-वंशकी दोनों शाखाओंने बहुत पिछले समयतक धारण करनेका दावा अपने उत्कीर्ण लेखोंमें किया है।

इन सामग्रियोंका वास्तविक विवेचन ऐतिहासिक अनुबन्धोंके आधारपर ही किया जाय तभी यथार्थ परिणामकी प्राप्ति सम्भव हो सकती है। कलचुरी शासकों द्वारा कालंजरकी विजय युक्तिसंगत है किन्तु निश्चित रूपसे यह भोज प्रतिहारके विस्तृत विजयोंके पूर्व ही हुई होगी। भोजके पिताने जब यमुनाके दक्षिणमें आक्रमण किया तब उसने कलचुरी आधिपत्यकी समाप्ति कर दी होगी। यह विश्लेषण कलचुरी शासकोंके दावेके अनुरूप है। साथ ही भोजदेवके वाराह ताम्रपत्रके कथनसे भी यह मेल खाता है, जिसमें कहा गया है कि प्रतिहारोंने कालंजर दुर्गपर आधिपत्य स्थापित किया। यह भोजदेव ही था जिसने कालंजरको अपने अधीन करके कालंजराधिपतिकी गौरवपूर्ण कीर्त्ति अपने वंशके साथ जोड़ी। परन्तु भोजदेवके सशक्त शासनके अंतमें जब तृतीय कर्णके युगमें राष्ट्रकूटोंका अभियान प्रतिहार साम्राज्यपर प्रारम्भ हुआ तब कालंजरका दुर्ग कुछ कालके लिए राष्ट्रकूटोंके हाथमें चला गया। जूर अभिलेखका कथन इसी आशयकी पुष्टि करता है। चन्देल राजा हर्षने राष्ट्रकूटोंके चंगुलसे प्रतिहार-साम्राज्यकी रक्षा की जिसमें कालंजरका भी त्राण हुआ। अब यह कीर्त्तिमान् यशोवर्मन्‌का कार्य था कि उसने कालंजरको विजित करके अपने आधिपत्यमें कर लिया। इस प्रकार हम लोग इस सुनिश्चित निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि चन्देल राजा यशोवर्मन्‌ने कालंजर दुर्गको प्रतिहारोंसे जीता, न कि कलचुरी या राष्ट्रकूट शासकोंसे, जैसी कि कुछ विद्वानोंकी धारणा है। धंगका सम्वत् १०११ का खजुराहो-अभिलेख प्रकट करता है कि राज-समाजके अग्रणी और आभूषण यशोवर्मन्‌ने सरलतासे शंकरके निवास-भूत कालंजर-गिरिपर विजय प्राप्त कर ली जो इतना ऊँचा था कि मध्याह्नमें सूर्यकी प्रगतिको भी बाधित करता था। इन विजयोंने भूमिकामें ही यशोवर्मन्‌को तत्कालीन शासकोंकी श्रेणीमें प्रथम ला दिया।

---

१. वही

२. हिस्ट्री ऑफ़ मेडिवल हिन्दू इण्डिया, भाग २, पृ० १२६

३. क्वायन्स ऑफ़ मेडिवल इण्डिया, पृ० ६७–६८

राजगद्दीपर आते ही यशोवर्मनने परंपरागत दिग्विजयके लिए प्रयाण किया। उपर्यंकित खजुराहो अभिलेखमें इस दिग्विजयका विस्तृत विवरण दिया गया है-- कतिपय स्थलोंपर अतिशयोक्ति भी कर दी गई है। "वह गौड़ोंको (काटनेके) लिए कृपाण था और वे मानो क्रीड़ालता थे। उसने खसोंकी सेनाओंकी समता की। वह कोसलोंके कोशागारको ढो ले गया, उसने कश्मीरके योद्धाओंको विनष्ट करते हुए (नश्यत्कश्मीरवीरः) मैथिलोंको भी दुर्बल कर दिया। वह मालवोंके लिए प्रलयंकर शंकर था। उसने गर्हित चेदियोंके ऊपर आपत्ति ढा दी। कुरु-रूपी वृक्षोंके लिए वह भयंकर आँधी था और गुर्जरोंके लिए प्रखर ज्वाला" (श्लो० २३)।[1]

"उसने निर्भय हो आशु ही युद्धक्षेत्रमें उस चेदिराजको पराजित किया, जिसके साथ अगणित सेना थी। उसने सुविख्यात नृपतियोंके किरीटपर अपने पदपंकज रक्खे और उसने प्रक्षुब्ध ऐरावतोंपर स्थित होकर क्रुद्ध और अप्रतिकार्य धनुर्धरोंकी बाण-वर्षासे अपनको बचानेकी चेष्टा की (श्लो० २८)।

"पर्वतीय भूभागोंकी विजयके समय उसके सैनिकोंने हिमाच्छादित श्रेणियोंकी उन ढालोंपर धीरे-धीरे चढ़नेका उपक्रम किया जहाँ उमाने स्वर्ग-लोकके वृक्षोंसे पुष्पराशि लाकर एकत्र कर रक्खी थी और जहाँ गंगाकी भयावह प्रवाह ध्वनिसे अश्वसेना अव्यवस्थित हो जाती थी। वे विजयी भी हुए...; (श्लो० ३०)।

"उसने बिना प्रयास ही कालंजर-गिरिको भी जीत लिया जो शंकरका निवास है और जिसकी ऊँचाई मध्याह्नमें सूर्यके बढ़ावमें बाधा उपस्थित कर देती है। (श्लो० ३१)।

"उत्तरी मैदानकी विजयके समय यशस्वी लक्ष्मणने कलिंद और जह्नुकी पुत्रियों (यमुना और गंगा) को क्रमसे अपना क्रीड़ा-सरोवर बनाया और उनके तटोंपर शिविर बनाकर अपने किसी भी शत्रुसे अनादर प्राप्त किये बिना ही अपने भयंकर और प्रबल हाथियोंके स्नानसे उनका जल गँदला कर दिया।"

जैसा कि ऊपरके वर्णनसे ज्ञात होता है, यशोवर्मन्ने हिमालयसे मालवा और कश्मीरसे बंगालतकके समस्त भागपर एक बार प्रभुत्व स्थापित कर लिया। यह ठीक है कि इस वर्णनमें अधिकतर तो प्रशस्ति और अतिशयोक्ति है किन्तु इसमें कोई असम्भव कथन नहीं प्रतीत होता कि उसने इन भागोंपर आक्रमण किया था। यह निर्धारित तथ्य है जैसी कि दो-बार इसकी चर्चा की गई है कि उसने चेदी शासनपर विजय प्राप्त की थी। उस समय चेदीमें केयूरवर्ष युवराज (सन् ९२५-९५० ई०) शासक था, जिसकी 'अगणित' सेना प्रबल युद्धके उपरान्त

१. गौडक्रीडालतासिस्तुलितखसबलः कोशलः कोशलानां
नश्यत्काश्मीरवीरः शिथिलितमिथिलः कालवन्मालवानाम्।
आसीत्सीदच्चेदिः कुरुतरुषु मरुत्संज्वरो गुर्जराणां
तस्मात्तस्यां स जज्ञे नृपकुलतिलकः श्रीयशोवर्मराजः॥
(ई० आई०, भाग १, पृ० १२६-२८।)

यशोवर्मन्से पराजित हुई थी। समकालीन गौड़ राजा या तो राज्यपाल था या उसका पुत्र द्वितीय गोपाल। ऐसा ज्ञात होता है कि वे युद्धमें चन्देल राजासे पराजित हुए थे। कश्मीरमें इस समय अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण कई राजे राज करते थे—चक्रवर्मन् (सन् ९२३–३७ ई०) से लेकर पर्वगुप्त (सन् ९४७–५० ई०) तक। लाहौरके खस-राज्यमें कोई सिंहराज (सन् ९५० ई०) का पूर्ववर्ती शासक, सम्भवतः चन्दुराज राज्य कर रहा था—डा० रायने भी ऐसा ही निश्चित किया है। मालवा, कोशल और कुरु राज्य यशोवर्मन्की विजयतक भी गुर्जर प्रतिहारोंकी ही अधीनतामें थे। मिथिलापर[1] बंगाल और बिहारके पालों-द्वारा शासन होने लगा था।[1] इन विवरणोंसे प्रमाणित होता है कि यशोवर्मन् अपनी विजयोंके कारण कन्नौजके सम्राट्के लिए शीघ्र ही विभीषिका सिद्ध हो गया और वह निश्चित ही अपनी प्रभु सत्ताके विरुद्ध भयंकर संघर्षमें संलग्न हो गया। यह बात 'संज्वरो गुर्जराणां'से सिद्ध है।

साम्राज्य-विस्तार एवं वंशकी सार्वभौम सत्ता स्थापित करनेमें जिस प्रकार यशोवर्मन् अग्रणी था उसी प्रकार सांस्कृतिक क्रिया-कलापोंमें भी वह अग्रदूत बना। "सागरके समान गम्भीर, चन्द्रमाके समान चारु और अह्लादक और सूर्यकी दीप्तिके समान प्रतिभावान्" यशोवर्मन्ने दैत्योंके अरि विष्णुके लिए "एक मनोरम मंदिर बनवाया जिसकी ऊँचाई हिमालयके शिखरसे भी अधिक थी।" ऊपर जिस खजुराहो-अभिलेखकी चर्चा की गई है, उससे ज्ञात होता है कि इस मंदिरमें वैकुंठकी मूर्त्ति उसने स्थापित कराई। यह मूर्त्ति प्रथमतः कैलासके भोटनाथके पास थी और उससे मित्रके रूपमें कैरके राजा शाहीको प्राप्त हुई। शाहीके पास भी यह दिव्य मूर्ति अधिक दिन न रह सकी और उससे हेरम्बपालने अपने हाथी और अश्वोंके बलसे प्राप्त कर लिया। यशोवर्मन्ने उसे हेरम्बपालके पुत्र देवपालसे प्राप्त किया जो हयपति कहा जाता था।[2] जनरल कनिंघमने इस उल्लिखित मंदिरका तादात्म्य खजुराहोके वैष्णव मंदिरसे किया है, जो रामचन्द्र, लक्ष्मण और चतुर्भुजके विभिन्न नामोंसे लोकविख्यात है।[3] इसके अतिरिक्त एक विशाल जलाशय बनवानेका श्रेय भी उसे सम्वत् १०५९ के धंगके दूसरे खजुराहो-अभिलेखने दिया है जो चन्देल शासकोंकी एक बड़ी देन है।[4]

---

१. महेन्द्रपालके समयमें गुर्जर-प्रतिहारोंका राज्य उत्तरप्रदेशमें 'सरस्वती' से लेकर उत्तर बंगालमें पहाड़पुरतक फैला था। (देखो—डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ नौदर्न इण्डिया, भाग १, पृ० ५६९–७०)

२. भोट उस युगमें तिब्बतको कहा जाता था। कैरकी स्थिति कश्मीरमें थी। ई० आई०, भाग १, पृ० १२९–१३४, श्लो० ४२–४३
बृहत्संहिता (१४,पृ० २९) के अनुसार ये दोनों कश्मीरके उत्तर-पूर्वमें स्थित थे।

३. ए० एस० आर०, भाग २, पृ० ४२५–२७

४. ई० आई०, भाग १, पृ० १४४

कतिपय शिलालेखोंसे यशोवर्मन्‌के व्यक्तिगत जीवनका भी परिचय मिलता है। सम्वत् १०५९ का धंगदेवका शिलालेख, जिसे सम्वत् ११७३ में जयवर्मन्‌देवने पुनर्निर्मित किया था, प्रकट करता है कि यशोवर्मन्‌की महारानी पुष्पा थी जिससे इस वंशके सबसे गौरवशाली शासक धंगदेवका जन्म हुआ था। खेद है कि इस महारानीके संबंधमें अधिक जानकारीके साधन नहीं हैं।

यशोवर्मन्‌ने केवल अपने विनाशकारी युद्धों और विजयोंके कारण ही अपनी प्रजामें लोकप्रियता नहीं पाई थी, जो उस युगकी एक सामान्य परंपरा बन गई थी, वरन् उसने जनहितके विविध कार्योंमें औदार्यपूर्ण भाग लेकर अपनी प्रजाकी सहज भक्ति और सहयोगको वशीभूत कर लिया था। चतुर्दिक् उसका कीर्त्तिगान गूंज रहा था। "राजाओंके समाजमें, मुनियोंके निवासोंमें, सत्संगोंमें, ग्रामोंमें, पामर वृन्दोंमें, व्यवसायियोंकी श्रेणीमें, वीथियों और चौराहोंपर, जहाँ कहीं राज-मार्गोंपर लोग बातें करते हैं और वनवासियोंके उटजोंमें—सब स्थानोंमें सभी व्यक्ति निरंतर आश्चर्यचकित हो उसके (यशोवर्मन्‌के) गुणोंकी चर्चा करते रहते हैं।"[3] प्रजाकी इस प्रकारकी भक्तिमय श्रद्धालु अभिव्यंजनासे यह सहज ही स्पष्ट हो रहा है कि उसकी लोकप्रिय व्यवस्थासे लोग कितने संतुष्ट एवं गद्‌गद् थे।

यशोवर्मन्‌का सुभग राज्यकाल इस प्रकार सन् ९५० ई० में समाप्त हुआ। उसी समय उसके कीर्त्तिकारी पुत्र और योद्धा धंगने शासन सूत्र अपने हाथोंमें सँभाला। इस प्रकारके वीरव्रतीके कार्योंका मूल्यांकन करना अनुचित नहीं होगा, जिसने अपना सम्पूर्ण जीवन प्रतिहारोंके सार्वभौम स्थानपर भारतव्यापी राज्य स्थापित करनेके लिए क्रम-बद्ध युद्ध और संघर्षोंमें व्यतीत कर दिया। उसने कन्नौजकी सम्पूर्ण श्री और गरिमा महोबामें लाकर प्रतिष्ठित कर दी। उसने अपनी साम्राज्य-सीमाको उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिममें फैलाया ही नहीं वरन् अपनी सेनाके लिए कालंजरमें बड़ा भारी दुर्ग-रक्षित शिविर भी बनाया। आगे चलकर यही कालंजर चन्देलोंकी सैनिक राजधानी बन गया। यशोवर्मन् ही एक ऐसा व्यक्ति था जिसने पहले-पहल अधीनता-पाशको साहससे काट डाला। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि धंगकी असीम सफलताकी गहरी नींव इसी महत्त्वाकांक्षी शासकके समयमें पड़ गई।

---

३. आस्थानेषु महीभुजां मुनिजनस्थाने सतां सङ्गमे
ग्रामे पामरमण्डलीषु वणिजां वीथीपथे चत्वरे।
अध्वन्यध्वगसं कथासु नित्यं ऽरण्यौकसां विस्मया-
न्नित्यं तद्‌गुणकीर्त्तनैकमुखराः सर्वत्र सर्वे जनाः॥
(श्लो० ४०) ई० आई०, भाग १, पृ० १३४

अध्याय ६

साम्राज्य का विस्तार, और उत्कर्ष

प्रथित पिताके स्थानपर सन् ९५० ई०में उसके कीर्त्तिमान् पुत्र धंगदेवका राज्यारोहण हुआ। अभिलेखोंसे धंगदेवके राज्यारोहणकी जो सबसे प्राचीन तिथि मिलती है वह सम्वत् १०११ है। जिस उत्कीर्ण लेखसे इस तिथिका ज्ञान होता है वह धंगके राज्य-विस्तारका पूरा परिचय देता है। इसकी चर्चा अन्यत्र की जायगी। इस तिथि-क्रमसे पिछले अध्यायमें निर्धारित तिथियोंकी भी विशेष रूपसे पुष्टि होती है।

११—धंगदेव

यशोवर्मन्का युग संघर्षका युग था जिसमें युद्धों एवं विजयोंकी प्रधानता थी। किन्तु बहुतसे प्रान्तोंकी विजय संदिग्ध और अस्थिर सिद्ध हुई, जिससे धंगदेवको पुनः दिग्विजयके लिये प्रयाण करना पड़ा। उसका बावन वर्षोंका प्रलम्ब राज्य-काल विजय और सफलताओंके समवेत कोलाहलसे मुखरित है यद्यपि यह स्मरण रहना चाहिए कि उसके कार्योंकी इति इतनेसे ही नहीं होती। धंगदेवके ताम्र-पत्र-लेखमें उसकी विजय और शत्रुओंपर अंतिम रूपसे आधिपत्य स्थापित करनेका विवरण मिलता है।[१] "यशस्वी धंगने अपने करवालकी धारसे सबपर अपना शासन स्थापित किया। वह विजयवाहिनीका स्वामी दुर्गाका कृपापात्र था और अगणित युद्धोंमें श्रेय प्राप्त कर चुका था।"

यह मत सर्वथा निराधार नहीं कि सन् ९५४–५५ ई० तक चन्देल शासक अपने राजकीय लेखोंमें प्रतीकात्मक रूपसे कन्नौजकी सत्ताका संरक्षण मानते रहे। इसका आभास इस ताम्रपत्रमें भी मिलता है। दूसरे सूत्रसे यह पता चलता है—"जबतक वसुन्धराका पालन यशस्वी विनायकपाल देव कर रहे हैं, तबतक पृथ्वीपर किसी भी शत्रुका अधिकार नहीं हो सकता। वे तो सदाके लिए उच्छिन्न कर दिए गए हैं।"[२] किन्तु इस उपर्युक्त तिथिके पश्चात् चन्देलोंके किसी भी अभिलेखमें प्रतिहारोंकी चर्चा नहीं आती। इससे इतना तो निर्विवाद रूपसे स्थिर हो गया है कि धंगदेव वस्तुतः और विधानतः भी सार्वभौम शासक हो गया था।

---

१. आई० ए०, भाग १६, पृ० २०३

२. ई० आई०, भाग १, पृ० १३५ और पृ० १२६, पंक्ति २८। विनायकपालके तादात्म्यके लिये देखिये—डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ नौर्थ इण्डिया, भाग १, पृ० ५७३, ५९०

इसके पूर्व यशोवर्मन्‌के समयमें प्रतीकात्मक रूपसे भी संरक्षणकी मान्यता चन्देलोंमें केवल नाममात्रको थी। वस्तुतः वे पूर्ण सत्ताधारी और सम्राट् हो चुके थे। उपर्युक्त उद्धरणमें जो 'कालंजरतक' विवरण आता है उससे पता चलता है कि उक्त उत्कीर्ण लेखकी तिथितक कालंजर चन्देलोंकी राजधानी नहीं बना था। उनकी राजधानी किसी अन्य नगरमें ही थी। यह नगर खजुराहो ही था, इसमें सन्देह है यद्यपि धंगदेवके एक लेखकी तिथि सम्वत् १०८९ है जिसमें 'खरज्जुरवाहक' का संबोधन है।[1] इब्न-उल-अतहरके कामिलसे भी इसकी कुछ पुष्टि होती है, जिसने धंगके पौत्रका खजुराहोके शासकके रूपमें उल्लेख किया है।[2] परन्तु इससे इस पूर्व निश्चित मान्यतापर कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि नन्नुकने खजुराहोसे राजधानी परिवर्तित करके महोबामें कर दी थी, यद्यपि खजुराहोका परित्याग सर्वथा नहीं किया गया। पूर्ववर्ती समस्त चन्देल शासकोंके---धंगके भी---अभिलेख खजुराहोसे ही मिलते हैं, फिर भी वह केवल इस वंशकी धार्मिक राजधानी-मात्र रह गई थी जहाँ राजकीय धार्मिक परिचर्याएं की जाती थीं। नन्नुकके पश्चात महोबा चन्देल शासकोंकी वास्तविक राजधानी बना रहा, जैसा कि पिछले परिच्छेदमें कहा गया है। कालंजर यशोवर्मन्‌के समयसे चन्देलोंकी सैनिक-राजधानी बन गया और वहाँ स्थायी रूपसे सेना रहने लगी।

यह ध्यान देनेकी बात है कि अपने संवत् १०५५ के एक लेखमें धंग 'कालंजराधिपति' कहा गया है।[3] इसका तात्पर्य यह है कि राजनीतिक महत्त्वकी दृष्टिसे कालंजर पूर्णरूपेण चन्देलोंकी द्वितीय राजधानी बन गया था। इस विरुदका तात्पर्य केवल इतना ही नहीं है कि उस समयतक चन्देल शासकका अधिकार तत्कालीन सबसे शक्तिशाली पर्वतीय दुर्गपर[4] हो गया था जिसने उन अग्न्यस्त्रोंके अभावके युगमें उसकी स्थितिको अनाक्रम्य बना दिया, वरन् इसका वास्तविक महत्त्व तो इस बातमें था कि कालंजरपर अधिकार उत्तरी भारतमें पूर्व मध्ययुगकी समस्त गण्यमाण्य शक्तियोंके चरम शौर्यका मानदंड बन गया था। कलचुरी, गुर्जर-प्रतिहार, राष्ट्रकूट और अंतमें चन्देलोंने उसपर अपना अधिकार अक्षुण्ण रखनेका प्रयास इसी भावनासे प्रेरित होकर किया।

कालंजरके उपरान्त उधर ग्वालियरका अधीन हो जाना भी मध्यभारतमें चन्देल शक्तिको ठोस बनानेमें विशेष महत्त्वका सिद्ध हुआ। इस प्रकार निश्चित अवस्थामें दिग्विजयके लिए धंगदेवने प्रस्थान किया। प्रथमतः उसने गंगाके दोआबकी

१. ई० आई०, भाग १, पृ० १४७, पंक्ति ३२--३३

२. अल-तारीख-उल-कामिल, लेखक इब्न-उल-अथीर, बुलक--१८७४, भाग ९ पृ० ११५--११६

३. आई० ए०, भाग १६, पृ० २०३, पंक्ति ७

४. अल-तारीख-उल कामिल, भाग ९, पृ० ११५--११६

ओर दृष्टि डाली। यद्यपि यशोवर्मन्‌ने भी अपनी विजय-यात्रा इधर की थी और गंगातटपर अपना शिविर भी स्थापित किया था तथापि व्यवस्थित विजयका अवकाश उसे नहीं था। उसकी पूर्ति धंगदेवने की। काशिका (बनारस) से प्रदान किया हुआ धंगका नन्यौरा ताम्र-पत्र प्रकट करता है कि धंगका यह दावा सर्वथा सत्य था।[1] संवत् १०५५ में चन्देलोंकी सेना निःसन्देह गंगातटपर थी। प्रयाग भी उसके पूर्णतया अधीन हो गया था—यह इस बातसे प्रकट हो रहा है कि उसने अपने नश्वर शरीरको जाह्नवी और कालिन्दीके समवेत जलमें छोड़कर कैवल्य प्राप्त किया था।[2] गंगातटके इन प्रमुख स्थानोंपर अधिकारके कारण यह निश्चित है कि उसने गंगा-यमुनाके विस्तीर्ण मैदानकी भी स्थायी विजय की थी।

खजुराहो शिलालेखसे ज्ञात होता है कि 'धंग इतना शक्तिशाली राजा था कि कोशल, क्रथ[3], सिंहल और कुन्तलके शासक बड़े विनीत भावसे उसके आदेश सुनते थे।[4] उसने अपनी विजय-योजनाओंमें इतनी अचूक सफलता प्राप्त की कि 'काँची, आंध्र, राढ़ा और अंगके राजाओंकी रानियाँ उसके कारागृहोंमें चिर-कालतक पड़ी रहीं।' इससे तो यह अनुमान होता है कि उसने दक्षिण भारतपर भी धावा किया था और सफलता भी प्राप्त की थी। सारांश यह कि धंगदेवने अपने साम्राज्यकी सीमा दूरतक—'मनुष्यसे बसे हुए भू-भाग-पर्यंत और उसके भी बाहर' पहुँचा दी। इस प्रकार आशु ही धंगदेव अपने समयका सबसे बड़ा शासक भारतवर्षमें हुआ। चन्देलोंके एक शिलालेखसे तो यह पता चलता है कि उसने कान्यकुब्ज-नरेन्द्रको युद्धक्षेत्रमें पराजित कर उसका साम्राज्य अपने राज्यमें मिला लिया।[5] इस कथनकी सत्यतामें सन्देहका कोई अवकाश नहीं है। इतना तो अन्य प्रमाणोंसे भी सिद्ध है कि जो मण्डलेश्वरत्वका गौरव उत्तर भारतमें वर्षोंतक वीर गुर्जर-प्रतिहारोंको प्राप्त था उसका सौभाग्य पराक्रमी धंगके प्रतापसे चंदेलोंको प्राप्त हुआ। उसके राजनीतिक अस्तित्वकी समाप्ति हर्षने तो शांतिमय रूपमें कर दी थी और यशोवर्मन्‌ने युद्धके मैदानमें। उत्बी जैसे इतिहासकारोंका हिजरी ४०९ (सन् १०१८ ई०) का कथन है कि कन्नौजका शासक राज्यपाल भारतके शासकोंका सम्राट् था—एक प्रतीकात्मक आधार ही रखता है, मर्यादाका निर्वाह

---

१. आई० ए०, भाग १६, पृ० २०३।

२. ई० आई० भाग १, पृ० १३९—१४६, श्लो० ८८।

३. क्रथ, भारतके दक्षिणी पठारमें एक देश था—सम्भवतः वर्तमान बरारके पास। महाभारतमें क्रथ-कैशिककी चर्चा आई है, जो भोज, पाण्ड्योंके साथ रक्खे गये हैं। कुछ लोग क्रथ-कैशिकका तादात्म्य विदर्भसे करते हैं—(जियोग्राफ़िकल डिक्शनरी ऑफ़ एंशियन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया, पृ० १०४)।

४. ई० आई०, भाग १, पृ० १४५ श्लो० ४६।

५. वही, पृ० १९७, श्लो० ३; पृष्ठ २०३ का फुटनोट ६२।

मात्र।[1] इसमें इतना ही सत्य है कि मण्डलेश्वरत्वकी आभा कुछ दिनों बाद-तक गुर्जर प्रतिहारोंके भालपर वर्तमान रही—जैसा कि विशाल साम्राज्योंके पतनके उपरान्त हुआ करता है।

शक्तिशाली धंगने अपने समकालीन सब भारतीय राजाओंको खुली चुनौती दी—यह महोबामें प्राप्त चन्देलोंके एक खण्डित शिलालेखसे ज्ञात होता है। 'धंगने अपने भुजबलसे शत्रुओंका उन्मूलन कर उस शौर्यशाली 'हम्वीर' की समता प्राप्त की जो पृथ्वीके लिए आतंक बन गया था।'[2] यह हम्बीर कौन था ? इसपर गम्भीर विवेचनाकी आवश्यकता है। डा० रायकी व्याख्या इस संबंधमें विचारणीय है। हम्वीर शब्द स्पष्टतया अरबी भाषाके शब्द अमीर (नेता, नायक) का अपभ्रंश है। यह शब्द अरबीके अम्र (नय) धातु से निकला है। यही विश्लेषण डा० रायका है। मुस्लिम इतिहासमें अमीरुल-मु-मिनीन अर्थात् 'धर्म-परायणोंका नेता' जो खलीफ़ा 'उमर' के समयसे सब खलीफ़ाओंकी परंपरागत उपाधि थी,[3] क्रमशः सब बादशाहोंके लिए प्रयुक्त होने लगी और बादमें साम्राज्यके बड़े-बड़े कर्मचारियोंके लिए भी। गजनीके यामिनी वंशवालोंके सिक्कोंसे ज्ञात होता है कि उनकी पदवी अमर थी। इतिहासकार स्टेनका कथन है कि कल्हणके हम्मीर-का तादात्म्य गजनीके महमूदसे किया जाना चाहिए। जो शाही त्रिलोचनपाल और कश्मीरके राजा संग्रामराज (सन् १००३–२८) का समकालीन था इस प्रकार[4] यह निर्णय करना अनुचित नहीं है कि हम्मीर[4] भी अरबी शब्द अमीरका भारतीय अपभ्रंश है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यह व्याख्या सर्वथा तर्कसंगत है। इसकी पुष्टि एक संस्कृत किंवदंतीसे भी होती है, जो मुहम्मद-इब्न-सामके स्वर्ण सिक्कोंके पृष्ठभागपर इस प्रकार अंकित है—'श्रीमद्हमीर महमद साम'।[5] इससे यह पुष्ट हो गया कि तबसे आगे बलबनके शासनकाल तक 'श्री हमीर' की उपाधि नियमित रूपसे गोरी और दिल्लीके सुल्तानोंके लिए उनके सिक्कों और अभिलेखोंमें प्रयुक्त होती आई है।[6] अस्तु इस प्रसंगसे अब इसमें थोड़ा भी सन्देह नहीं रह जाता कि हमीर, हम्मीर या हम्वीर भारतमें मुसलमान शासकों-द्वारा गृहीत उपाधि—कमसे कम सन् १००० से १३०० ई० तक तो निरंतर चलती रही।

---

१. किताब-इ-यामिनी; रेनाल्ड द्वारा अनूदित, पृ० ४८६।

२. ई० आई०, भाग १, पृ० २१८ और २२१, श्लो० १७।

३. इनसाइक्लोपीडिया आव् इण्डिया, भाग १, पृ० ३३०–३३४।

४. राजतरंगिणी, अध्याय ७ पृ. ५३, ६४; डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ नौर्थ इण्डिया, भाग १, पृ० ६५–१३५।

५. कैटेलौग औफ़ दि क्वायन्स आव् दि इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता, भाग २, औक्सफ़ोर्ड, १६०७, पृ० १७।

६. ज० ए० सो० बं०, टौमस भाग १, पृ० १०८।

जेजा भुक्ति
प्राकृतिक रचना
यमुना
प्रयाग
वाराणसी
महोबा
कालंजर
नर्मदा नदी
ताप्ती नदी
पयस्वनी नदी
ओंगा नदी
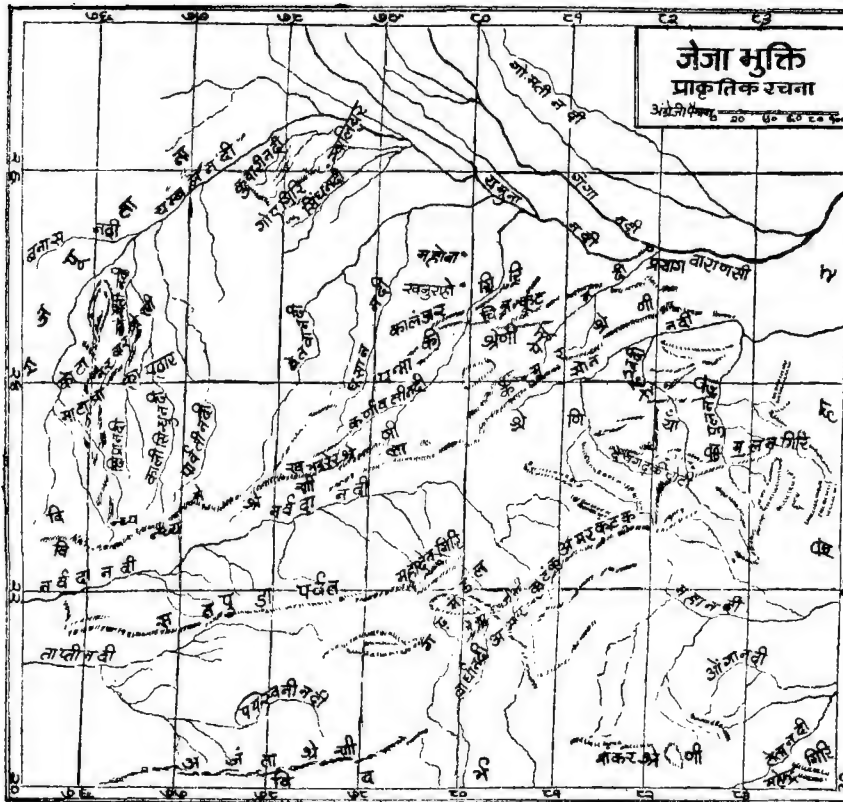
इस विवेचनको समाप्त करते हुए यह कहा जा सकता है कि—'यहाँतक कि वीर हम्वीरकी समानता कर गया—' विरुदका हम्मीर उपर्युक्त निष्कर्षकी ओर ही संकेत करता है और यहाँ सुबुक्तगीनके लिए आया है, जिसकी मृत्यु सन् ९९७ में हुई। फ़रिश्ताके कथनानुसार कालंजराधिपति धंगदेवने विदेशी आक्रामकोंके विरुद्ध सेना और धनसे शाही राजा जयपालकी सहायता की थी। अपनी इस साहसिक और राजनीतिक दूरदर्शिताके लिए वह पिछले प्रशस्तिकारों-द्वारा हम्मीरके विशेषणसे अलंकृत किया गया—ऐसा कुछ विद्वानोंका मत है।[1]

मुस्लिम शक्तियोंसे संघर्ष

तत्कालीन इतिहासके इस पक्षकी विशद व्याख्याके लिए यह आवश्यक है कि मुसलमानोंके साथके संघर्षका विस्तारके साथ वर्णन किया जाय, जिसका तात्पर्य इस देशमें अपना प्रभुत्व स्थापित करनेसे अधिक यहाँके उस विस्तीर्ण वैभव और सम्पत्तिकी खुली लूट करना था जो भारतके छोटे-छोटे राजाओंके पास बिखरी हुई थी। अरबमें छठी सदीमें जिस इस्लाम धर्मका प्रादुर्भाव हुआ वह पूर्व और पश्चिममें एक ही समय फैला। इस धर्मके प्रचारक दूत, शस्त्र और सैन्यबलसे सुसज्जित होकर अनेक देशोंमें मुहम्मदकी वाणीके प्रचारके लिए पिल पड़े। कुछ ही सदियोंके भीतर उन्होंने ईरान और भारतके उत्तर-पश्चिममें फैले हुए समस्त यूनानी देशोंका धर्म-परिवर्तन कर दिया और साथ ही उन देशोंपर अपना शासन भी उन्होंने स्थापित कर लिया। दसवीं सदीके उत्तरार्द्धमें अरबका यह नवोदित प्रकाश भारतके उत्तर-पश्चिम-गोपुरपर भी आ चमका। किन्तु इस समय-तक प्रचारकोंकी पद्धति, लक्ष्य और साधनोंमें पर्याप्त अन्तर हो गया था। इस्लाम धर्मके प्रति असीम उत्साह और प्रचारके निमित्त देश विजयके स्थानपर मुसलमानोंमें अनपेक्षित उद्ध्वंस, लूट और सर्वनाशकी व्याप्ति हो गई थी। इस भावनाने इतिहासमें एक विचित्र आदर्श-च्युत मतप्रपंचका प्रदर्शन किया। इस विकृत भावनाका शिकार दुर्भाग्यवश यही देश पहले पहल बना। यह कहा ही जा चुका है कि यह वह समय था जब भारतवर्षमें राजनीतिक एकताका सर्वथा विलोप हो चुका था और सामाजिक संकल्पकी समष्टि भी जर्जरित हो चुकी थी। फिर क्या था, धर्मान्धतामें उन्मत्त तथाकथित धर्मप्रचारकोंको इस धर्म-सहिष्णु धरणीके वक्षस्थलपर खुलकर खेलनेका अवसर मिल गया। इसका श्रीगणेश अमीर नासिरुद्दीन सुबुक्तगीनने किया।

परन्तु भारतीय राजनीतिमें लक्ष्यकी एकरूपताका अभाव यहाँके शासकोंमेंसे मातृभूमिके प्रेमका सर्वथा उन्मूलन न कर सका। इसके अनेक प्रमाण हैं

---

१. महोबाके जिस शिलालेखमें यह कथन आया है वह दुर्भाग्यवश खण्डित है लेकिन श्लोक २८ में वह कीर्तिवर्मन्के पुत्रकी ओर संकेत करता हुआ ज्ञात होता है—ई० आई०, भाग १, पृ० २२१

कि कई बार सम्मिलित शक्तिसे संघ बनाकर उन्होंने आक्रमणकारियोंको निकाल बाहर करनेका प्रयत्न किया। उनमें भी उज्ज्वल कीर्तिवाले चन्देल शासकोंका कार्य सबसे अधिक श्लाघनीय रहा--यह अभिलेखोंके कथनोंसे प्रमाणित होता है। उत्तरी भारतका अद्वितीय योद्धा धंगदेव, भारतके मध्य---हृदयभाग--से प्रस्थान करके आर्यावर्तकी सीमापर पहुँचा और उसने सुबुक्तगीनके विरुद्ध सहायता प्रदान करके मोर्चेको सुदृढ़ किया।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कालंजरका वह शासक, जिसने शाही राजा जयपालको सम्पत्ति और सेना दी थी, चन्देल शासक धंगदेव ही था---इसमें रंचमात्र संदेह नहीं है। फ़रिश्ताके अनुसार सुबुक्तगीन और जयपालके बीच इस दूसरे संघर्षका कारण यह था कि जयपालने उस निर्धारित रकमको अदा करनेसे अस्वीकार कर दिया था जिसे पहली बार उसने माना था।[1] जब जयपालने अस्वीकार कर दिया और सुबुक्तगीन-द्वारा भेजे हुए व्यक्तियोंको वन्दी बना लिया तब यह सूचना अमीरके पास पहुँची। उद्वेलित होते हुए फेनिल महाप्रवाहकी भाँति वह अपनी सेना लेकर भारतवर्षकी ओर चल पड़ा। फ़रिश्ता बतलाता है कि इस अवसरपर पड़ोसी राजाओं---विशेषतया दिल्ली, अजमेर, कालंजर और कन्नौजके राजाओंने सेना और सम्पत्तिसे जयपालको सहायता पहुँचाई। लेकिन इब्नुल-अतहर और निज़ामुद्दीन इस विषयपर मौन रह गये हैं। उत्बीने इसकी चर्चा तो की है परन्तु बिलकुल सामान्य रूपसे और दूसरे कारण प्रस्तुत करते हुए।[2] उसने बतलाया है कि जब अमीरने हिन्दुस्तानके बादशाहकी सीमाका उल्लंघन किया तब उसने सिवाय शस्त्र उठानेके और कोई चारा नहीं देखा। वह अपने समस्त सामंतों, करद राजाओं, सरदारों और मित्रोंको एकत्र करके एक विशाल सेनाके साथ मुसलमान साम्राज्यकी सीमापर इस आशाके साथ जा डटा कि उसकी सेनाका आतंक तुर्कोंका पलायन संभव कर देगा और कट्टर मुसलमानों-द्वारा इस देशमें जो इकाई तैयार की गई है वह पट जायगी।

जयपालकी सामयिक आवाजपर उत्तर भारतकी शक्तियोंका जो एक संघटन बना और जिसमें धंगदेवने गौरवपूर्ण भाग लिया था, वह आक्रमक था---रक्षात्मक नहीं था, जैसी कि फ़रिश्ताकी धारणा है। जयपालने इस बार ग़ज़नी राज्यका एक बड़ा भाग अधीन कर लिया। लेकिन इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप सुबुक्तगीनका फिर भयंकर आक्रमण हुआ। जयपालको विवश होकर प्रमुख राजाओंका पुनः संघ बनाकर सहायताके लिए आमंत्रित करना पड़ा। धंगने दूसरी बार भी इस मंडलमें भाग लिया। दुर्भाग्यवश विस्तीर्ण सागरके समान भारतकी सेना, जिसके सैनिक असंख्य पिपीलिकाओंके यूथके समान थे, मुसलमान आक्रमणकारियोंके

---

१. तारीख-ए-फ़रिश्ता, ब्रिग्स-द्वारा अनूदित, भाग १, पृ० १७–१८

२. किताब-ए यामिनी, मेमौयर्स औफ़ सुबुक्तगीन, पृ० ३४–३५

अदम्य उत्साह और पाशविक पद्धतिके समक्ष रुक न सकी। इस प्रकार देखा जाता है कि धंग, जो मध्यभारतके अपने समस्त सामंत शासकोंके साथ जयपालकी सहायताके लिए गया—प्रथम बार तो अपनी योजनामें सफल रहा परन्तु दूसरी बार मुसलमानोंका धक्का बड़ा घातक सिद्ध हुआ। वस्तुतः मुसलमानोंके साथ चन्देल शासकोंका संघर्ष इसी रीतिसे प्रारम्भ हुआ पर कुछ ही दिनोंके पश्चात् वह दोनोंका सीधा संघर्ष बन गया जिसने धीरे-धीरे और भी उग्र रूप धारण कर लिया।

सांस्कृतिक निर्माण-कार्य

उपर्यंकित वर्णनसे इस बातका स्पष्ट आभास मिलता है कि धंगका शासनकाल लम्बा तथा विशेषताओंसे भरा हुआ था। भारतकी सीमापर मुसलमानों-द्वारा पराजित होनेसे उसके श्री-गौरवपर कोई आँच नहीं आई थी। उसकी प्रतिभा और कार्य-क्षमता असाधारण थी। वह केवल शासन, विजय या राज्य-संघटनमें ही व्यक्त नहीं हुई वरन् तात्कालिक संस्कृतिकी रचनामें भी उसके कला-पक्षका अति सूक्ष्म अभिव्यंजन हुआ। यह देन इस क्षेत्रमें अमिट रहेगी।

जो मंदिर खजुराहोमें आज अवशिष्ट हैं, जिन्हें उत्तर भारतमें हिन्दू मंदिरोंके श्रेष्ठतम नमूनेके रूपमें कलाविदोंने स्वीकार किया है—वे लोकप्रिय, कलाप्रेमी और गौरवशाली दसवीं-ग्यारहवीं सदीके चन्देल-शासकोंकी ही कृतियाँ हैं।[1] वे गर्वसे सिर उन्नत करके आज भी उनकी अपरिमित विजयोंकी दुन्दुभी बजा रहे हैं। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इन अवशेषोंमेंसे कितने ही मंदिर निश्चित रूपसे धंगदेवके राज्य-कालके हैं। जिननाथका मंदिर इसी समय निर्मित हुआ। इसपर सन् १०११ का एक लेख है, जिसमें अनेक प्रसिद्ध जैन-परिव्राजकोंको दान देनेकी चर्चा मिलती है। विश्वनाथ या लालाजीके नामसे प्रसिद्ध मंदिर भी इसी युगका बना है। वैद्यनाथका मंदिर भी इसी युगका बना हुआ ज्ञात होता है। इसमें गहपति वंशके कुकल-द्वारा उत्कीर्ण एक लेख श्रीवैद्यनाथजीकी भक्तिमें मिलता है।[2] खजुराहोका एक दूसरा उत्कीर्ण लेख है, जो संवत् १०५६ का है और आजकल वहींके विश्वनाथ मंदिरमें लगा है। इस लेखमें और भी दो दिव्य मंदिरों—शम्भु और मरकतेश्वरके बननेकी चर्चा पाई जाती है। इनमें दो लिंग—एक मरकत और एक विशेष पत्थरके थे।[3] तात्पर्य यह कि दसवीं सदीमें ही धंगदेवके शासनकालमें खजुराहोका वैभव उत्कर्षके शिखरपर पहुँचा हुआ था।

१. कनिंघम आ० स० रि०, भाग २, पृ० ४१६। फरगुसन—हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया ऐण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, १९१०, भाग २, पृ० ४९। आई० ए०, १९०८, पृ० ६३।

२. ई० आई०, भाग १, पृ० १४७

३. वही, पृ० १३७

मदनवर्मन्के समयके मऊ शिलालेखसे धंगदेवके एक अमात्यका नाम ज्ञात होता है। वह प्रभास था जिसका जन्म अंगिरा और न्यायदर्शनके प्रवर्तक अक्षपाद गौतमकी वंश-परम्परामें हुआ था। इस उर्वर वंशमें, जो शक्ति और तपस्याका केन्द्र था, कालान्तरमें बुद्धिशाली प्रभासका अवतरण हुआ। वह धर्मध्वज था और अनेक आर्ष गुणोंसे आपूर्ण था। वह भाषण और वक्तृताकी कलामें पटु और पारंगत था। उसके दर्शनके लिए उच्च कोटिके गुणग्राही लोग उसी प्रकारसे पहुँचते थे जैसे किसी तीर्थस्थानपर।[1] ऐसा ज्ञात होता है कि वह निगूढ़ राजनीतिके नियमनमें अत्यंत दक्ष था। अनेक स्थलोंपर उसकी परीक्षा करके धंगने उसे अपने महामात्य पदपर नियुक्त किया था। उसके उत्तराधिकारी गंडदेवने भी उसे उस पदपर रखकर लाभ उठाया। धंगदेवकी सफलताओंमें प्रभासका कम योग नहीं था।

इस प्रकार राजनीति, शासन और निर्माणके कार्योंका सम्पादन करता हुआ धंगदेव 'शरदः शतं' से भी अधिक जीवित रहा। अंतमें नेत्र बन्द करके, रुद्रका ध्यान लगाए, पावन मंत्रोंका जप करते हुए, गंगा-यमुनाके संगम-जलमें अपना शरीर छोड़कर उसने मोक्ष प्राप्त किया।[2] धंगदेवके सम्वत् १०५९ के खजुराहो अभिलेखका, जिसे जयवर्मन्देवने संवत् ११७३ में पुनः उत्कीर्ण कराया था, सम्पादन करते हुए किलहौर्नने इस प्रकारके विचार प्रकट किये थे—"तिथिके देखनेसे ज्ञात होता है कि धंगदेवका निधन विक्रम संवत् १०५५ में हुआ। यही तिथि बंगालकी एशियाटिक सोसाइटीके ताम्र-पत्रमें भी मिलती है।"[3] अन्य विद्वानोंने भी इस तिथिको स्वीकार किया है।[4] डा० स्मिथका कथन है कि 'धंगका शासनकाल निश्चित किया जा सकता है और उसमें त्रुटिका बहुत कम अवकाश है। उसका शासनकाल दसवीं सदीका उत्तरार्ध ही होगा जो बिना किसी आपत्तिके सन् ९५० और १००० ई० के बीच रक्खा जा सकता है।' स्मिथके अनुसार 'उसका जीवन सामान्य मानव-जीवनसे बहुत लम्बा था।' लेकिन डा० रायने इससे मतभेद प्रकट किया है। उनका कथन है कि वह निश्चित रूपसे सन् १००२ के पश्चात् मरा।[5] इन मतोंकी समीक्षा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है

१. ई० आई०, भाग १, पृ० १९९, श्लो० २१

२. वही, पृ० १९९, श्लोक २१

रक्षित्वा क्षितिमम्बुराशिरशनामेतामनन्यापतिं ।
जीवित्वा शरदां शतात्समधिकं श्रीधंगपृथ्वीपतिः ॥
रुद्रं मुद्रितलोचनः स्वहृदये ध्यायञ्जपञ्जान्हवीं ।
कालिन्द्याः सलिले कलेवरपरित्यागादगान्निर्वृतिम् ॥

३. आई० ए०, भाग १६, पृ० २०२–४

४. वही, १९०८, पृ० १४१

५. डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ नौर्थ इण्डिया, भाग २, पृ० ६८२, फुटनोट।

क्योंकि धंगके देहावसानकी कोई निर्धारित तिथि बताना संभव नहीं है। फिर भी इतना तो सुनिश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि उसकी मृत्यु सन् १००८ से पहले नहीं हुई क्योंकि उपर्युक्त अभिलेखकी पंक्ति ३८–३, श्लोक ६३ में व्यक्त किया गया है कि धंग संवत् १०५६ में जीवित था।[१]

शिलालेख ऐसी सामग्री प्रस्तुत करते हैं जिनसे धंगदेवके धार्मिक विचारोंका पता चलता है। वह शंकरका परम भक्त था, जहाँ उसका पिता विष्णुका भक्त था। उसके सब अभिलेख "ओ३म् नमः शिवाय" पदके साथ प्रारम्भ होते हैं। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, उस समयके शासक प्रायः शिव, विष्णु, सूर्य और देवीकी पूजा करते थे। उनमें अपने ही इष्टदेवके प्रति कोई दुराग्रह-पूर्ण पक्षपात या हठ-भक्ति नहीं थी। असहिष्णुताने तो बादमें प्रवेश किया।

धर्मके क्षेत्रमें प्रजा बिल्कुल स्वतंत्र थी। निज अभिरुचिके अनुरूप धर्म-परिचर्याकी न केवल सुविधा ही दी गई थी वरन् राजकीय व्यवस्था भी ऐसी ही की गई थी। खजुराहोके शिलालेखसे प्रकट होता है कि धंगके दरबारमें राजकीय धर्माधिकारी पदपर यशोधर विराजमान था।[२]

महोबाकी राजगद्दीपर ऐसे शासकका लम्बे कालतक शासन मध्यकालीन भारतके इतिहासकी एक विशेष घटना है क्योंकि उसने केवल एक उत्तरी भारतव्यापी साम्राज्य स्थापित करके कन्नौजकी पूर्ति ही नहीं की बल्कि उस मर्यादाके लिए अपनेको बराबर तत्पर रखा। वह अपने पड़ोसियोंका अंधविजेता ही नहीं था बल्कि राष्ट्रीय आवश्यकतापर अपने व्यक्तित्वके प्रभावसे समस्त सामंत और शासकोंका संघ बनाकर विदेशी आक्रामकोंका सामना करनेके लिए भी प्रस्तुत रहता था। अपनी इस दूरदर्शी नीतिकी स्पष्ट छाप उसने अपने पुत्र एवं उत्तराधिकारी गंडपर भी छोड़ी।

१२. गंडदेव

अपने पिताकी गद्दीपर गंडदेव लगभग सन् १००२ और १००३ के बीच किसी समय आरूढ़ हुआ—मोटे तौरसे उसी समय जिस समय गजनीकी राजगद्दीपर अमीर सुबुक्तगीनका स्थान उसके महत्त्वाकांक्षी पुत्र सुलतान महमूदने अलंकृत किया। अत्यधिक दीर्घायु होनेपर वृद्ध शासक धंगदेवने अपना राज्यभार अपने पुत्रको समर्पित कर दिया। खेदका विषय है कि गंडदेवका अभीतक कोई भी उत्कीर्ण लेख प्राप्त नहीं हो सका है। उसकी चर्चा तो चन्देलोंके बहुत पश्चात्के शिलालेखोंमें मिलती है, जो कमसे कम उसकी मृत्युके सौ वर्षोंके उपरान्त लिखे गये हैं।

---

१. वही।

२. यशोवर्मन्का तादात्म्य नन्योरा ताम्र-पत्रके दातासे किया जा सकता है।

उत्कीर्ण लेख उसके शासन-कालके कुछ घटनाक्रमोंका परिचय देते हैं। चन्देलोंका एक खण्डित शिलालेख, जो कीर्तिवर्मन् (वि० सं० ११५४) के शासन-कालके पश्चात् लिखा गया था, गंडदेवके संबंधमें बतलाता है कि वह एक सार्वभौम वीर था जिसने अपनी भुजाओंपर धरणीके समस्त भागोंको धारण किया था[१]। यह लेख स्पष्ट संकेत करता है कि गंडदेवने चन्देल साम्राज्यकी रक्षा अक्षुण्ण रूपसे की—उसमें रंचमात्र भी कमी नहीं होने पाई। विदेशी घटना-चक्रोंमें उसने अपने पिताकी नीतिका और भी प्रभावकारी ढंगसे अनुसरण किया। अपनी विदेशी नीतिके कारण भारत एवं उसके पड़ोसी देशोंमें उसने और भी अधिक लोकप्रियता एवं यश अर्जित किया। मदनवर्मन् (वि० सं० ११८६—१२२०) के मऊ अभिलेखसे ज्ञात होता है कि 'गंडदेव चारों दिशाओंमें पृथ्वीका शासक था और शत्रुओंको उच्छिन्न करनेमें दक्ष था।'

भोजवर्मन्देवका एक शिलालेख[२] वात्सल्य कायस्थ वंशके ठक्कुर जजुकका नाम प्रकट करता है जिसे 'युद्धमें अजेय' गंडदेवने अपने साम्राज्यके सब कार्योंका सब समयके लिए पर्यवेक्षक नियुक्त किया था।[३] इस लेखमें इस अधिकारीके नामके अतिरिक्त गंडदेवके शासन-संबंधमें केवल कुछ अस्पष्ट और सामान्य वर्णन है। लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि पूर्वसे चले आते हुए शासन-यंत्रको उसने बड़े ही कौशलके साथ संचालित किया और लोकप्रियतामें भी वृद्धि की।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि अभिलेखोंके कथनकी पुष्टि तत्कालीन मुसलमान इतिहासकारोंके विवरणोंसे पूर्णतया होती है। फ़रिश्ताका 'नन्द' वास्तवमें गंड ही है।[४] फ़ारसी अक्षरोंका यह साधारण स्खलन है (گنده–گند या گندا–گندا)। लेकिन 'बिदा' (بیدا) किसी भी प्रकार गंडके साथ मेल नहीं खाता। 'बिदा' अरबी भाषाका शब्द है जो विद्यासे संबंध रखता है। इसके अपभ्रंशकी सम्भावित कोटियाँ—(३) بیدا (२) بدیا (१) بیدیا हैं। इसलिए बिदा तो विद्याका अपभ्रंश है जो विद्याधर नामका पूर्वांश है। विद्याधर ही गंडका पुत्र था। अतः मुसलमान इतिहासकारोंके 'बिदा'का तादात्म्य गंडसे करना सर्वथा अनुचित है; जैसा कि जनरल कनिंघमने किया है।[५]

यह ध्यान देनेकी बात है कि प्रसिद्ध इतिहासकार डा० रायने मुसलिम इतिहासकारोंके नन्द और बिदाका तादात्म्य विद्याधरसे करके पूरे इतिहासक्रमको ही बदलनेका बड़ा गम्भीर प्रयत्न किया है।[६] किन्तु यह तादात्म्य अस्वाभाविक है

---

१. ई० आई०, भाग १, पृ० २१९–२२१–२२२, श्लोक १९
२. वही, पृ० १९७ और २०३, श्लो० ४
३. वही, पृ० ३३३ ३३६, श्लो० ५–७
४. तारीख-ए-फ़रिश्ता, ब्रिग्स, भाग १, पृ० ६३–६४
५. भा० स० औफ़ इण्डिया रि०, भाग २१, पृ० ८३
६. डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ नौर्थ इण्डिया, भाग २, पृ० ६८९–९१

और ऐतिहासिक कालक्रमके विपरीत पड़ता है अतः स्वीकार नहीं किया जा सकता। विद्याधरदेवकी जो सबसे पूर्वकी तिथि ज्ञात है वह है सन् १०२५ (वि० सं० १०८२)[1]। इस दशामें कल्पनाके आधारपर उसके पिता गंडदेवकी सत्ताका लोप करना अयुक्तिसंगत है। विद्याधर किसी भी प्रकार उन घटनाओंका स्रष्टा नहीं है जो सन् १००८ में अथवा सन्निकट कालमें घटी। डा० रायको सबसे महत्त्वकी जो सामग्री इस प्रकारके तादात्म्य करनेके लिए प्राप्त है वह इब्न-उल-अतहर द्वारा 'बिदा' नामका उल्लेख है इसको डा० रायने अनेक महत्त्वशाली घटनाओंका श्रेय दिया है और इसे विद्याधर ही ठहराया है। विद्याधरको ही महान् यशस्वी मानकर उन्होंने मुसलिम इतिहासकारोंके 'नन्द'का भी उनसे तादात्म्य किया है। यदि श्रेयको ही कसौटी माना जाय तो अभिलेखोंमें गंडदेवके समक्ष विद्याधर अधिक लोकप्रिय नहीं ज्ञात होता। कसौटीकी अन्यान्य प्रचुर सामग्रीसे यही ज्ञात होता है कि मुसलमान इतिहासकारोंका 'नन्द' वास्तवमें गंड था और 'बिदा' ही विद्याधर था। जनरल कनिंघम और डा० रायकी एकांगी रायें नई खोजोंके आधारपर नहीं टिकतीं। हाँ, एक बात है, जैसा कि घटनाओंसे ज्ञात होगा कि गंडदेवने अपने जीवनकालमें अपने सुयोग्य एवं शौर्यशाली पुत्र विद्याधरको अनेक अवसरोंपर सैन्य-संचालनका दायित्व सौंपा था। इसीने मुसलिम इतिहासकार इब्न-उल-अतहरको भ्रममें डाल दिया है और उसने गलतीसे घटनाओंका श्रेय विद्याधरको दे दिया है जो केवल उस समय सेनापति था और जिसका पिता शासक था।

मुसलमान आक्रमणकारियोंसे संघर्ष

गंडदेवने अपने कीर्तिमान् पिताकी युद्धनीतिका अनुसरण किया। मुसलमान आक्रमणकारियोंके प्रति तो उसने वंशोचित, गौरवशाली, दृढ़ और व्यापक नीतिका अवलम्बन किया। सन् १००८ में महमूद गजनीने पुनः लाहौरके शासक आनन्दपालपर आक्रमण किया। सिंधु पार करनेके पश्चात् उसने निश्चय कर लिया था कि आनन्दपालको बिना पराजित किये भारतके भीतर प्रवेश दुर्घट है। इधर भारतीय शासक सुषुप्त थे—सिंधु पार करते समयतक उन्होंने कोई जागरूकता नहीं बरती परन्तु जब महमूदने भेराको अधीन कर लिया तब राष्ट्रीय विपत्तिकी आशंका दृढ़ हो गई। अपने ऊपर आक्रमण होते ही आनन्दपालने देशके प्रमुख शासकोंसे सहायताका अनुरोध किया। सूचना पाते ही कालंजर, ग्वालियर, कन्नौज, अजमेर और उज्जैनके राजाओंने अपनी सुसज्जित सेनाएँ लेकर भारतीय पश्चिमोत्तर गोपुरकी ओर कूच कर दिया। मुलतानके खोखरोंने भी एक संघटित सेना भेजी। समस्त देश भारतकी रक्षाके अनुरागमें विभोर हो रहा था। मुसलमान लेखकोंने तो यहाँतक लिखा है कि भारतीय ललनाओंने अपने अंगके आभूषण उतारकर

---

१. क्वायंस औफ़ मेडिवल इण्डिया, कनिंघम, पृ० ७८

देश रक्षार्थ अर्पित कर दिए। क्या राजा, क्या प्रजा, देश और धर्मके नामपर सब उत्सर्ग होनेके लिए कटिबद्ध थे। पर खेद है कि उन्हें यह नहीं ज्ञात था कि इस कार्यमें सफल होनेके अन्य उपादान क्या हैं। उनमें संघटन और विनयका अभाव था। साथ ही उनमें यह भी दुर्बलता थी कि वे व्यक्तिगत कलह और स्वार्थको भूलकर जातीयता और राष्ट्रीयताको ही प्रधानता नहीं दे सकते थे। वंशका मिथ्या गौरव उनके पवित्र संकल्पमें बाधक सिद्ध हो रहा था। विरोध और फूटकी दावाग्निकी सांघातिक ज्वालासे कोई उबरा नहीं था। यहाँतक कि राष्ट्रीय संकटके समयमें भी भारतीय शासक किसी एकके नेतृत्वमें आकर आबद्ध-शक्ति होनेके लिए तैयार नहीं थे। इन दुर्बलताओंके कारण उनके लक्ष्यकी पवित्रता और राष्ट्रीयतामें उनके समक्ष बड़ी कठिनाई उपस्थित हो गई।

किन्तु आक्रमणकारियोंमें ये दुर्बलताएँ नहीं थी। उनमें विनय, अनुशासन और नेताके प्रति उत्कट विश्वासका उच्च भाव भरा हुआ था। उनके लक्ष्यमें एकता थी इसीलिए उनकी अल्प शक्तिमें भी अधिक जीवन था। किन्तु उधर महमूदकी कामनाओंकी यह अंतिम परीक्षा थी, इधर भारतके भाग्यका निपटारा। लगभग चालीस दिनोंतक दोनों सेनाएँ एक दूसरेके सम्मुख डटी रहीं। अंतमें झेलमके तटपर उन्द नामक स्थानपर युद्ध छिड़ा। हिन्दू सेनाएँ जानकी बाजी लगा चुकी थीं। उनकी युद्ध-लपटोंमें इस्लामकी सेना पतंगोंकी भाँति झुलसने लगी। वहाँ एकत्र भारतीय शक्तियाँ मुसलमानोंको भारतसे बाहर निकालना परम पवित्र कर्त्तव्य मानती थीं।[१] उनकी उस समयकी एकताको देखते हुए यह कहनेमें संकोच नहीं होता कि इतिहासकारोंका यह आरोप गलत मालूम होता है कि भारतीय राजाओंमें एकताकी कमी थी। फ़रिश्ताने स्पष्ट रूपसे भारतीय सैनिकोंकी एकताको स्वीकार किया है, यद्यपि वे विभिन्न राज्योंके थे। देखते-देखते तीन-चार हजार मुसलमान तलवारके घाट उतार दिए गये। महमूदका पतन सन्निकट ही था कि देशके भाग्यने पलटा खाया। आनन्दपालका हाथी बारूदकी आँच भड़ककर भाग निकला। अन्य युद्धरत राजाओंके मनमें यह भाव आया कि आनन्दपालने धोका दिया। फिर क्या था, विजयोन्मुख सेनामें भगदड़ मच गई। महमूदकी सेना दो दिनोंतक उनका पीछा करती रही। बिना प्रयास उन्हें विजय-श्री मिली। नेतृत्वकी कमी और अविश्वासने भारतीयोंको पतनके गर्तमें गिराया। भारतीय सेनाके केवल ८००० सिपाहियोंका अंत हुआ पर इस भगदड़ने महमूदके सामने यहाँकी सेनाके विश्वासपूर्ण संघटन और दूरदर्शिताका खोखलापन प्रकट कर दिया। फलस्वरूप देशकी सब शक्ति इस समय महमूदके समक्ष पराजित थी। महमूदके साहसपर इसका चमत्कारपूर्ण प्रभाव पड़ा और उसने एक-एक करके भारतीय नरेशोंका दमन प्रारम्भकर दिया।

---

१. तारीख-ए-फ़रिश्ता, ब्रिग्स, भाग १, पृ० ४६

अनेक प्रमाणोंसे ज्ञात होता है कि गंडदेवके शासनकालके प्रारम्भिक दिनोंमें कलचुरी शासक कोक्कलके आक्रमणसे प्रतिहत था। इस घटनाका आभास कोक्कलके सम्वत् १०५८ के एक मंदिरमें प्राप्त अभिलेखसे मिलता है।[1] किन्तु शीघ्र ही स्थितिने विपरीत रूप धारण किया, जैसा कि एक चन्देल अभिलेखसे प्रमाणित होता है—"कलचुरी चंद्र-सहित भोजदेवने युद्धकलामें पारंगत और दुर्जेय गंडदेवकी शिष्यके समान शुश्रूषा की।"[2] तात्पर्य यह कि कलचुरी शासक तत्काल ही पराजित हुआ। इन पंक्तियोंमें भोजदेवका तादात्म्य धंगके परमार-वंशीय शासक भोजसे किया गया है। कलचुरी चन्द्र और कोई नहीं था, वह चेदि-शासक द्वितीय कोक्कल था।[3]

गंडकी शक्ति निश्चित रूपसे पश्चिममें चम्बल नदीके पूर्वी तटतक फैल चुकी थी क्योंकि दुबकुण्ड लेखसे ज्ञात होता है कि उस अंचलके कच्छपघाटके शासक चन्देलोंके करद थे।[4] ग्वालियरका शासक भी उस समय चन्देलोंका करद था, यह निजामुद्दीनके वर्णनसे प्रमाणित होता है। तत्कालीन इतिहासकार निजामुद्दीनने महमूद ग़ज़नी-द्वारा नन्द (गण्ड) के साम्राज्यपर आक्रमणका वर्णन करते हुए लिखा है—"उसने नन्दके राज्यपर आक्रमण किया। जब वह ग्वालियरके दुर्गपर पहुँचा तो उसने इसे घेर लिया। चार दिनोंके पश्चात् किलेके गवर्नरके आदेशसे एक दूत भेजा गया।"[5] ग्वालियर चन्देलोंके अधीन था इसके अन्य प्रमाण भी हैं।

पहले लिखा जा चुका है कि कन्नौजकी सत्ता केवल नाममात्रकी थी—वहाँ भी चन्देलोंका संरक्षण स्थापित था। सन् १०१९ में जब महमूदने कन्नौजके राज्यपाल-पर आक्रमण किया तब उसने अनायास ही उसकी पूर्ण अधीनता मान ली, अन्य भारतीय नरेशोंको सूचित भी नहीं किया और न उनसे सहायता ही माँगी। इस प्रकारकी कापुरुषताको गण्डदेवने अपनी अप्रतिष्ठा समझा। अन्य राजपूत शासकोंने भी इसे बहुत बुरा माना। सुलतान महमूदके प्रस्थान करते ही कालंजरके चन्देल शासक गंडदेवने उसके इस स्वाभिमान-विरोधी आचरणको दण्डित करनेके लिए राज्यपालपर आक्रमण कर दिया। राजपूत सम्मानको हतप्रभ करनेका बदला लेनेके लिए यही मार्ग खुला था। इस तथ्यका वर्णन उत्बी[6], गर्दिजी[7],

---

१. आ० स० रि० भाग २१, पृ० ८३–८४

२. ई० आई०, भाग १, पृ० २१९–२२२, श्लोक २२

३. वही, पृ० २१९

४. डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ नौर्थ इण्डिया, भाग २, पृ० ६८९

५. तबाक़त-ए-अकबरी, अनु०, पृ० १४

६. उत्बी, पृ० ३०९

७. गर्दिजी, पृ० ७६

इब्नुल अतहर[1], निजामुद्दीन और फ़रिश्ता[2] प्रभृति समस्त विद्वानोंने किया है। आधुनिक इतिहासकारोंने भी इसका अनुगमन किया है। पड़ोसी राजाओंने संघ बनाकर इस आक्रमणमें भाग लिया जिसमें ग्वालियरका राजा अर्जुन भी सम्मिलित था। इस संघका नेतृत्व चन्देल राजकुमार विद्याधरदेव कर रहा था। राज्यपाल, जो महमूद-द्वारा ही कुचला जा चुका था, कुछ कर न सका। वह पदाक्रांत हुआ और मार डाला गया।[3] त्रिलोचनपाल गद्दीपर आसीन कर दिया गया जो अनुमानतः राज्यपालका पुत्र था। लेखोंसे ज्ञात होता है कि विद्याधरने इस अपमानको राष्ट्रीय अपमान माना और इसके प्रतिशोध रूप उसने तीरसे राज्यपालकी गर्दन उड़ा दी।[4]

इस सफलताने गंडदेवकी शक्ति और प्रभावको आशासे अधिक विस्तृत कर दिया, यहाँतक कि गंडने राज्यपालके उत्तराधिकारी त्रिलोचनपालको कहला भेजा कि महमूद-द्वारा अपहृत राज्यको लौटानेके लिए यदि वह युद्ध छेड़े तो उसकी भरपूर सहायता की जायगी। राज्यपालके पतनके पश्चात् तो वस्तुतः उसका साम्राज्य गंगा-यमुनाके दोआबपर फैल गया। इब्नुल अतहरके इस कथनकी सत्यता भी इसीसे प्रमाणित है कि विद्याधर अपने समयका देशमें सबसे बड़ा शासक था। गंडके जीवनकालमें ही इस प्रकारसे विद्याधरकी चर्चा भ्रमात्मक अवश्य है पर वह इसलिए चर्चाका विषय बना कि उसीके द्वारा यह विजय सम्पादित हुई। गंडने उसीको कन्नौजपर आक्रमणके लिये भेजा था।

गंडका यह आचरण महमूदको अत्यंत असम्मान-पूर्ण प्रतीत हुआ। उसने तुरत अपनी राजधानीसे कूच किया। अपने सहयोगियों-सहित गंडने, कन्नौजके नये राजा तथा बारीके शासकके विरुद्ध प्रतिहिंसासे उन्मत्त होकर शरद्के प्रारम्भमें सन् १०१९ ई० में अभियान किया। निजामुद्दीनका यह विवरण सर्वथा सत्य है कि राजकुमार विद्याधर एवं गंडदेवने विशाल सेना लेकर उसे पहले ही रोक देनेके लिए प्रस्थान कर दिया। इस सेनामें १४५००० पैदल, ३६००० घुड़सवार और ३९० हाथी थे।[5] जयपालने राहिबमें महमूदका बढ़ाव रोकनेके

१. इब्नुल अतहर, भाग ९, पृ० २१८

२. फ़रिश्ता, भाग १, पृ० ६३

३. गर्दिज़ी, पृ० ७६; इब्नुल अतहर, भाग ९, पृ० २१८

४. श्रीविद्याधरदेवकार्यनिरतः श्रीराज्यपालं हठात् ।
कण्ठास्थिच्छिदनेकबाणनिवहैर्हत्वामहत्याहवे॥—एपि० इं०, भाग २, पृ० २३७

५. तबाकत-ए अकबरी, पृ० १२। इब्नुल अतहरने सेनाकी संख्या इस प्रकार बतलाई है—१८४००० पैदल, ५६००० घुड़सवार एवं ७४६ हाथी—अल-तारीख-उल-कामिल पृ० २१६। गर्दिज़ीने अपने विवरणमें संख्या इस प्रकार दी है—१४५००० पैदल, ३६००० घुड़सवार और ६४० हाथी—कि० जै० अ०, पृ० ७६। फरिश्ताके अनुसार संख्या ४५००० पैदल, ३६००० घुड़सवार और ६४० हाथी—ब्रिग्सका अनु० भाग १, पृ० ६४।

लिए प्रयास तो किया किन्तु असफल होनेपर चन्देल वीर विद्याधरसे मिलनेके लिए चल पड़ा। अभी वह उसके पास पहुँच भी न सका था कि बीचमें ही दुर्भाग्य-वश किसी भारतीयने उसे मार डाला।[1] तत्पश्चात् महमूदने बारीको खूब लूटा।

अब उसे गंडके बढ़ावका मुकाबला करना था। उसने तत्काल अपनी समस्त सेनाको मैदानमें उँड़ेल दिया। इब्नुल-असीरके अनुसार गंडकी सेनाके पास महमूद एक नदीके तटपर आ धमका। उसने नदीका प्रवाह उलटाकर उसके शिविरको पानीसे आप्लावित कर दिया। उसके पश्चात्के युद्धका चित्र उपस्थित करता हुआ लेखक लिखता है—"यामिन-उद्दौलाने अपनी पैदल सेनाकी एक टुकड़ी गंडके पास भेजी। उसने भी अपनी पैदल सेनाकी एक टुकड़ी भेजी। दोनों पक्षोंकी टुकड़ियाँ अपनी संख्याकी वृद्धि करती रहीं—फलतः भयंकर युद्धारम्भ हो गया। जब रातका आगमन हुआ तब सेनाएँ अपनी-अपनी ओर लौट गईं।"[2] इतिहासकार निजामुद्दीनने इस घटनाका चित्र कुछ भिन्न रूपमें प्रस्तुत किया है। वह लिखता है—"जब सुलतानने नन्दकी सेनाके समक्ष अपना शिविर गिराया तब तत्काल उसने एक दूत उसके पास भेजा। दूत यह सन्देश लेकर गया था कि वह अविलम्ब आत्मसमर्पण कर दे और इस्लाम स्वीकार कर ले। नन्दने अधीनताके इस प्रस्तावको अस्वीकार कर दिया। तब सुल्तान एक ऊँचे स्थानपर गया ताकि वह नन्दकी सम्पूर्ण सेनाको भली प्रकार देख सके और उसकी शक्तिका अनुमान लगा सके। जब उसने उस सैन्य-समुद्रको देखा तो अपने सहसा आनेपर उसको बड़ा पश्चात्ताप हुआ। फिर उसने समर्पण और आत्मग्लानिके भावसे पूर्ण अपने मस्तकको भूमिपर टेककर दयानिधिसे विजयके लिए प्रार्थना की।"[3]

उपर्युक्त विवरणोंसे उन चन्देलोंकी शक्तिका विश्वसनीय प्रमाण मिलता है, जिनके बलिष्ठ कंधोंपर भारतके भीतर इस्लाम-प्रवेश रोकनेका भार आ पड़ा था। राजपूत गौरवके अनुरूप ही महमूदके लज्जाजनक प्रस्तावको ठुकराकर गंडदेव युद्धके लिए तैयार हो गया। सुलतानके जहाँतक नेत्र पहुँच सकते थे वहाँतक उसने सैन्य-शिविर, पटमंडप और नौकारोहियोंका व्यापक दृश्य देखा। वह विस्मय और भयसे आक्रांत हो गया। वह अपने इस अविचारित प्रयासके लिए अपनेको ही भरपेट कोसने लगा। अपने विकट दुर्दिनमें उसने आध्यात्मिक सहायताके लिए ईश्वरके समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। उसके हतचेत आत्माको बल मिला।[4] इतिहासकार

---

१. ता० का० आ०, पृ० २१६।

२. वही।

३. त० आ०, अनु० पृ० १२। इसी प्रकारका विवरण कि० जै० अ०, पृ० ७६ में भी पाया जाता है।

४. गर्दिजी पृ० ७७।

निजामुद्दीनके अनुसार दोनों सेनाओंमें कोई युद्ध नहीं हुआ। कहा जाता है कि गंडदेव जो वहाँ जमा हुआ था, भयोद्रेकके कारण त्रस्त हो उठा और रात्रिके अंधकारमें मैदान छोड़कर भाग चला। उसके साथ विशेष साथी थे। सारी सेना और शस्त्रास्त्रको उसने वहीं छोड़ दिया। इस अतिशयोक्ति और विरोधी तथ्योंसे पूर्ण वर्णनमें सत्यान्वेषणके लिए हमें इसके पूर्ववर्ती इतिहासकार कामिलका आश्रय लेना पड़ेगा। इस प्रकारके कथनमें कोई तर्क नहीं मालूम होता कि गंडदेव जैसा पराक्रमी बिना शस्त्रग्रहणके ही भाग चला हो, जब उसके पास अथाह सेना पड़ी थी। कामिलका यह विवरण कि गहन युद्ध हुआ, यद्यपि निर्णयात्मक नहीं था और अंतमें अमाके अंधकारमें चंदेल सेनाने गौरवपूर्ण प्रत्यावर्तन किया, अधिक सत्य मालूम होता है। यही वर्णन बहुत कुछ गंडकी उस प्रतिष्ठा-शक्तिके अनुरूप ज्ञात होता है जिसका चित्रण मुसलमान इतिहासकारोंने किया है।

गंडके इस अप्रत्याशित लौटनेका कारण यह अनुमानित होता है कि वह महमूदका सामना वहीं उत्तर पश्चिम द्वारपर करना चाहता था। पर जयपालकी असफलता और उसका एक भारतीय-द्वारा मारा जाना यह संकेत करता है कि पंजाबमें देशद्रोहियोंका व्यापक अड्डा बन गया था और वे खुलकर देशके शत्रुओंका साथ दे रहे थे। इस आकस्मिक बलका उपयोग महमूदने किया। यह ऐसी भयावह स्थिति थी जिसके समक्ष गंडदेवने धैर्यपूर्वक प्रत्यावर्त्तन ही उचित समझा।

महमूदका साहस तो पहले ही डोल चुका था। उसे बटोरकर उसने शस्त्र उठाया तो उसकी रही-सही दृढ़ता भी जाती रही और रात्रिके अंधकारमें उसने अपनी राजधानी गजनीका रास्ता नापा। इस प्रकार दोनों शक्तियाँ एक दूसरेको अंतिम पराजय देनेकी कामना लिए ही अपने देशको लौट गईं। कामिल और तबकाते-अकबरी-द्वारा भारतीय सेनाओंकी लूटकी जो चर्चा की गई है वह असंगत और महमूदके युद्धोंका परंपरा-निर्वाह माना गया है।

इस अभियानसे गंडदेवकी शक्तिका कोई ह्रास नहीं हुआ और न वह छिन्न-भिन्न ही हुई। वह खुले तौरपर भारतके नरेशोंमें व्याप्त सुलतानके दर्पकी अवहेलना करता था और इस संयोगका रास्ता देख रहा था कि उसे भारतसे निकालकर अपनी चिर अभिलाषा पूर्ण करे। महमूद भी भारतीय राजनीतिमें उसके महत्त्वको समझता था और उसके समस्त किये करायेपर पानी फेरनेकी विरक्तिका उसने दूरदर्शिता-पूर्ण अनुमान लगाया। अतः गंडदेवके साथ संघर्ष मिटानेकी लालसा उसमें तीव्र हो गई। उसने विपुल शक्ति संघटित की। जैसा कि फ़रिश्ता और निजामुद्दीनके वर्णनसे प्रकट होता है, उसने कालंजरपर आक्रमणके लिए प्रस्थान किया। मार्गमें उसने ग्वालियरपर घेरा डाला। ग्वालियरका शासक अर्जुन उस समय चन्देल शासक गंडदेवका सामंत था। ग्वालियरके शासक अर्जुन ने चार बिनौंतक सफलताके साथ सामना किया परन्तु अंतमें वह

भयभीत हो गया और उसने पराजय मान ली। ज्ञात होता है कि उसने ३५ हाथी भेंट किए।[2]

सुलतानने अब कालंजरपर आक्रमण किया। कालंजर कठोर पत्थरोंसे निर्मित अतट चट्टानके उत्तुंग महाशिलापर स्थित था। वह अनाक्रम्य और अजेय माना जाता था। बतलाया जाता है कि "इस दुर्गमें ५०००० आदमियों, २०००० पशुओं और ५०० हाथियोंके लिए स्थान था। इसमें पर्याप्त सामग्री, शस्त्रास्त्र और अन्य आवश्यकीय वस्तुएँ विद्यमान रहती थीं। भारतमें अपनी दुर्धर्ष स्थिति तथा अजेय स्वरूपके लिए वह अद्वितीय था।" महमूदने इसपर घेरा डाल दिया और बाहरके वे समस्त मार्ग बन्द कर दिए जिनसे दुर्गमें सामग्री पहुँचाई जाती थी ताकि भूखों मार-मार कर आत्म समर्पण करा ले। यह घेरा बहुत दिनोंतक चलता रहा। महमूदके लिए दुर्गमें प्रवेश ही दुर्गम था। उधर चन्देल सेना आयात मार्गके अवरोधके कारण विचलित हो रही थी। तब गंडने सम्मानजनक संधिका प्रस्ताव महमूदके पास भेजा। गंडने ३०० हाथी दिए और वार्षिक कर देनेका वचन दिया। किन्तु उसने हाथियोंको किलेके बाहर खुले छोड़ दिया और महमूदको उन्हें पकड़वा लेनेका संकेत किया। महमूदने इस विनोदका समाधान अपने तुर्क सैनिकोंको यह आदेश देकर किया कि वे उन्हें पकड़कर सवारी कर लें। यह तुर्क-शौर्यको चुनौती थी। सैनिकोंने सारथी-विहीन हाथियोंपर सवारी कर ली। गंड इससे बहुत प्रभावित हुआ। उसने स्वनिर्मित एक कविता सुलतानकी प्रशंसामें भेंट की। यह हिन्दीमें लिखी गई थी।[2] महमूदके साथ जितने भी कवि और विद्वान् आये थे उन्होंने कालंजर और गजनीके शासकोंका सम्मिलित गुणानुवाद किया। महमूद स्वयं उस वीरोचित आचरणसे, जो सम्भवतः भारतमें प्रथम बार मिला था, अत्यधिक प्रभावित हुआ और उसने गंडदेवके पास बधाई भेजी। साथ ही उसने उसको १५ अन्य दुर्गोंका शासन-भार समर्पित किया। उसने गंडको उसके सम्मानमें एक परिधान और बहुमूल्य उपहार भी भेंट किये।[3] इस प्रकारके उपसंहारसे सुलतानको बड़ा संतोष हुआ और वह सन् १०२३ के अंततक गजनी लौटा।

---

१. मुसलमान इतिहासकारोंने ग्वालियरके राजाको जो हाकिमकी पदवी दी है उसका तात्पर्य होता है उप-शासक। वह प्रकट करता है कि अर्जुन चन्देलोंका करद था। कि० जै० अ०, पृ० ७९ में सालार (उप-शासक—का) प्रयोग किया गया है। कुछ बादके लेखक फ़रिश्ताने जो राजा लिखा है वह कुछ अस्पष्ट है।

२. कि० जै० चा०, पृ० ८ ने इसे लुगत-ए-हिन्दवी बतलाया है।

३. गर्दिजी, पृ० ८०। इब्न जाफ़र, पृ० १४९।

चन्देलोंकी दुर्बलताएँ और असफलताके कारण

हिन्दुओंकी असफलता एक रहस्य नहीं तो एक गहन एवं दुर्बोध समस्या अवश्य है। समस्या कुछ टेढ़ी इसलिए है कि शौर्य, देश-प्रेम, युद्ध-कला, सैन्य-शक्ति और गम्भीर परम्परामें उस समयके हिन्दू पर्याप्त बढ़े-चढ़े थे। पुरुषोंमें आत्मोत्सर्गकी जो भावना थी उससे कम प्रबल भावना वीरांगनाओंमें नहीं थी— यह विश्वके तत्कालीन इतिहासमें एकाकी उदाहरण है। हिन्दुओंमें आत्मसम्मानकी उच्च भावना प्राचीन थी ही, पूर्व-मध्यकालमें उसमें अधिक मार्मिकता आ गई थी। जाति गौरव और देश-प्रेमकी उदात्त भावना पर आघात होते ही वे एक स्वरसे जूझ पड़नेके लिए उद्यत हो जाते थे और स्वधर्मके प्रति संचित श्रद्धा और प्रेम म्यानसे निकले करवालकी भाँति छलक पड़ते थे। इनके समक्ष जीवनका कोई मूल्य नहीं था, कोई चिंता नहीं थी। उनका युद्ध-कौशल, एशियामें श्रेष्ठतम और शस्त्रास्त्र मुसलमानोंसे तो पर्याप्त उत्तम थे। जहाँतक जनशक्तिका प्रश्न है, भारतके राजपूतोंके लिए जैसे इसकी अक्षय निधि ही प्राप्त थी। फिर यह असफलता क्यों?

ऐतिहासिक प्रक्रिया बतलाती है कि उनमें एकमात्र कमी जो थी वह थी राजनीतिक दूरदर्शिताकी, जिसके प्रभावसे संकुचित राजनीतिक सीमाएँ चूर-चूर हो जाती थीं और विरल शासक लघु इकाइयोंसे ऊपर उठकर जाति-गौरवके लिए प्रतिश्रुत हो पाते थे। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत कम शासक थे जो पृथक्-पृथक् देश-रक्षा करनेके लिए उच्च कोटिका त्याग नहीं करना चाहते थे; परन्तु व्यापक विदेशी विपत्तिके विरुद्ध संयुक्त रक्षा पंक्तिमें समस्त भेदभाव भूलकर खड़े जानेकी सूझ कितनोंमें थी? चन्देलोंने दो बार संघ-संघटन भी किया पर उनमें बहुतोंने तो न हाथ ही बटाया, न हार्दिक समर्थन ही किया। जब एक राजा आक्रमणकारीका सामना कर रहा है तब दूसरा पड़ोसी अपने ऊपर आक्रमणकी प्रतीक्षा कर रहा है। एकताका जातीय मंत्र उन्हें जैसे भूल गया था। हाँ, राजपूतोंने परस्पर सम्मानकी श्रेष्ठता स्थापित करनेके लिए आपसमें ही लड़कर अपने शौर्यका प्रदर्शन किया। परन्तु यह क्षात्रधर्मका भारी उपहास था।

प्रथमतः तो देशमें युग-प्रवर्तक नेतृत्वका अभाव था, पर जो था उसमें भी किसको कौन नेता स्वीकार करे, जहाँ सभी नेता हों। दूसरी ओर मुसलमानोंकी सब सफलताकी कुञ्जी नेतृत्वमें ही थी। सैन्य-नेतृत्वकी योग्यता, युद्ध-कौशल और सैनिकमें अपेक्षित समस्त गुणोंकी दृष्टिसे महमूद अपने समयमें एशियाका सर्वोत्तम व्यक्ति था। वह जितना संकल्पका पक्का था उतना ही साध्यको येनकेन प्रकारेण प्राप्त कर लेनेमें सिद्धहस्त भी था। विभिन्न जातियोंवाली अपनी सेनाको नियंत्रणमें रखकर उन्हीं सैनिकोंकी मातृभूमिपर आक्रमण करने और उन्हें

अनुशासित रखकर काम लेनेमें जो सफलता महमूदको मिली[1] उसका शतांश भी तत्कालीन किसी भारतीय राजाको अपने ही देशवासी भिन्न-भिन्न राज्योंके सैनिकोंसे काम लेनेमें नहीं मिली—इसीलिए उनके विशाल संघटन असफल हुए। उपर्युक्त नेताके अभाव और दूरदर्शितापूर्ण सम्मिलित प्रयासकी कमीने भारतीय राजाओंको बारी-बारीसे नीचा दिखाया।

भारतीय राजाओंके आंतरिक मतभेदने भी उनको दुर्बल बना दिया था। उस मतभेदका एक पक्ष तो उज्ज्वल था। उनमेंसे विशिष्ट शासकोंकी महत्त्वाकांक्षा यह थी कि समस्त भारतको एक छत्रके नीचे लाकर चक्रवर्त्ती सम्राट बन जायँ। किन्तु उसका दूसरा पक्ष यह भी था कि बाह्य आक्रमणके समय एक दूसरेका सच्चा सहयोग करके सर्वनिष्ठ शत्रुका सामना न करना। यही अत्यन्त घातक सिद्ध हुआ। वंश-वैशिष्टयके प्रति मिथ्या आस्था और कभी-कभी एक दूसरेको नीचा दिखानेकी क्षुद्र गौरव-भावनाने, देशके प्रहरी राजपूतोंकी शक्तिको परस्परके कलह एवं संघर्षोंमें तत्त्वहीन कर दिया था।

हिन्दुओंके जिस सामाजिक गठनने उनकी राजनीति और आर्थिक जीवनको सर्वदासे बल दिया था, उसका रूप-निदर्शन किया था और किसी भी बाह्य झंझावातके विरुद्ध रक्षा करनेमें दृढ़ कवचका काम किया था, वही इस समय शिथिल हो गया था। वर्ण-व्यवस्था, जाति-प्रथाके रूपमें परिणत होकर रूढ़ बन गई थी। इससे एकव्रती हिन्दू-समाज अनेक अवैज्ञानिक इकाइयोंमें बँटकर अपने जातीय लक्ष्यसे च्युत हो गया था। उसके कार्यों, मान्यताओं और सामाजिक संकल्पोंमें पर्याप्त लक्ष्य-विपर्यय हो गया था। कर्त्तव्योंके प्रति उदासीनता तो व्यापक रूपमें आ गई थी। फलस्वरूप विशृंखलित हिन्दू-समाज जर्जर हो गया था। यही नहीं, हिन्दुओंका एक बहुत बड़ा भाग राजनीतिक चेतनासे दूर था। राज्य-रक्षा, देशके लिए बलिदान और सैनिक-भावना कुछ ही लोगोंमें आकर टिक गई थी—वे भी, जैसा कि ऊपर कहा गया है, परस्पर दुर्नीतिके कारण संघर्षके शिकार बन चुके थे। इस समय सारा राज्य ही व्यक्तियों या कुछ परिवारोंमें बँट गया था। संघटित राष्ट्रीयताकी उन्मेषशालिनी भावना तिरोहित हो गई थी। फलतः जब कभी राजपूत हथियार डालते थे तब सारा देश ही आक्रमणकारियोंके हाथ लग जाता था।

कुछ धार्मिक आधार लेकर काल्पनिक मान्यताएँ रूढ़ हो गईं थीं, जैसे देशकी सीमाके बाहर यात्रा करनेपर धर्मच्युत होनेका विश्वास लोगोंमें घर कर गया था।

१. महमूदकी सेनामें हिन्दू और बौद्ध भी थे। उन्हें वह बड़े चावसे भरती करता था और उन्हें हिन्दू शासकोंके विरुद्ध युद्धमें सन्निविष्ट करता था। इस तथ्यमें शंका नहीं है। हाँ, कुछ विद्वानोंको इस विषयमें मतभेद है कि वे सिपाही हिन्दू ही रह गये थे अथवा मुसलमान बन गये थे। प्रो० हबीबने अपनी पुस्तक महमूद ग़जनवीमें यह प्रमाणित किया है कि उसकी सेनामें हिन्दू भी थे।

देशके भीतर भी यदि कोई तीर्थयात्राके प्रयोजनके अतिरिक्त अन्य प्रयोजनोंसे दूसरे प्रान्तमें जाता तो उसे अधार्मिक मान लिया जाता था। इसका फल और जो कुछ हुआ सो तो हुआ ही, देशवासियोंमें शत्रुदेशोंपर चढ़ाई करनेकी आक्रामक भावनाका लोप हो गया। बौद्ध धर्मकी मानसिक प्रतिक्रिया इस समय देशपर बड़ी प्रतिकूल हुई थी। अहिंसा, राजनीतिमें भी दुर्बलताको आश्रय देने लग गई थी। कर्मशील हिन्दू-समाज इसके विनाशकारी प्रभावसे दब गया था। इसके अतिरिक्त पारस्परिक मनमुटावके कारण बौद्धोंमें देशद्रोहकी भावना कहीं-कहीं आ गई थी और उन्होंने बहुत मार्मिक स्थलोंपर शत्रुओंका साथ दे दिया। सिंधमें अरबोंको जो बौद्धोंने सहायता दी उसके अतिरिक्त पंजाबमें भी महमूदको बौद्धोंसे सहायता प्राप्त हुई।

उत्तरी भारतमें, विशेषतया मध्यभारतमें, मिथ्या-मायावादका प्रचार बढ़ गया था। इसका कुफल राजनीतिपर भी पड़ा। ऐहिक विभूतियों और संसारकी ओरसे लोगोंमें व्यापक अनिच्छा हो चली थी। अपनी कई असफलताओंके पश्चात् सामान्य हिन्दुओंका आत्मविश्वास नष्ट हो चुका था। आत्म-पुरुषार्थ छोड़कर वे एकमात्र देवी-देवताओंके भरोसे बैठना सीख गये थे। सोमनाथके पुजारियोंका उदाहरण कितना कातर है। मुहूर्त्त, पौराणिक कथन और दशाओंको वे राजनीतिक माहात्म्यसे भी अधिक प्राथमिकता देते थे। लखनौतीकी पराजय इसका ज्वलंत उदाहरण है। समझ नहीं पड़ता कि अंधविश्वासों और अस्वस्थ धर्मकी कुमान्यताओंने देशवासियोंको कौन-सा मद पिलाया था कि सत्रह बार महमूद-द्वारा इस देशकी छाती निर्भीकतासे चीरे जाने और पदाक्रांत होनेपर भी उनकी निद्रित आँखें न खुल सकीं।

कुछ इतिहासकारोंने शासन-व्यवस्था-संबंधी कई दुर्बलताओंको भी कारण बतलाया है। यह उपेक्षणीय नहीं है। राजपूत शासकोंमें नित्य एक हाथसे दूसरे हाथ परिवर्तित होनवाली सत्तामें—जिसकी व्यवस्थामें प्रजाका कोई हाथ नहीं था—उनकी भक्ति रह नहीं गई थी। राजपूतोंके पास स्थायी सेना नहीं थी। युद्धके समय उपजातियाँ और सामंत, सेना भरती करके मैदानमें भेजते थे—वह अकुशल तो थी ही, अविश्वसनीय भी थी। शासक इससे व्यय बचाकर असंतुलित रूपसे देवालयों आदिपर धनका व्यय करते थे। विशेष अदूरदर्शिता तो भारतीय शासकोंने सीमान्त नीतिमें दिखलाई। पश्चिमोत्तर सीमा उस समय सब आक्रमणोंका मार्ग थी, उसकी भी कोई रक्षा-व्यवस्था नहीं की गई थी। प्रबलसे प्रबल शत्रुको सीमापर संघटित योजना द्वारा रोक देना जितना सरल था, उतना उसके भीतर आ जानेपर नहीं। अरक्षित सीमा होनेके कारण महमूद सीधे हृदय-देशतक घुस आता था। यों तो उत्सर्गकी भावना और व्यक्तिगत शौर्य हिन्दू सैनिकोंमें एशिया भरमें अद्वितीय था, पर कुछ सामरिक त्रुटियाँ भी थीं जिनका परिणाम कुछ स्थलोंपर नाशकारी हुआ, जैसे युद्धमें हाथियोंका प्रयोग और फिर उन्हें प्राचीन शैलीके अनुसार प्रथम पंक्तिमें रखना।

मुसलमानोंकी जीतका एक दूसरा पहलू भी है। मुसलमान लोग जातिप्रथा-विहीन, एकेश्वरवादी, धर्मके नूतनतम अनुष्ठानसे चैतन्य तथा अधिकांश भाव-प्रेरित थे। जिस सैनिकमें गाजी होनेकी प्रेरणा नहीं थी उसमें भारतीय समृद्धिका लोभ था। महमूद स्वयं धनके पीछे इतना प्रलुब्ध था कि उसके नेत्रोंमें बराबर अतृप्त ललाई छाई रहती थी। गजनीके कूचे भारतके देवताओंके स्वर्णसे चकमका रहे थे, फिर भी उसने फ़िरदौसीका पारिश्रमिक हड़पनेका लोभ संवरण न किया। देवालयोंके तहखानोंसे जितना ही उनके हाथ लगता गया उतना ही वे उसके लिए उन्मत्त होते गये। मुसलमानोंमें कोई सामरिक नैतिकता अथवा आदर्श नहीं था। युद्धमें सामान्य नागरिक, किसान, वृद्ध, वनिता और बालकोंके साथ ही नहीं, पशुओंतकके साथ, कल्पनातीत आततायी आचरण करना उन्होंने अपनी सफलताकी कुंजी बना ली थी। इस नीतिके समक्ष हिन्दुओंने बराबर हथियार डाल दिये। जैसा कि इतिहासकार स्मिथने अंकित किया है—'उसकी नीति एक कुशल लुटेरेकी थी, जो अत्यंत व्यापक आधारपर अपनी अनियंत्रित और उद्दाम लालसाको चरितार्थ कर रहा था'।[1] उसके आक्रमणका प्रभाव यद्यपि अस्थायी था तथापि दुर्निवार था।

भारतवर्षकी यह तो सामान्य दुर्बलता थी, जिसके प्रभावसे चन्देल शासक मुक्त नहीं थे। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि चन्देलोंको महमूदके समक्ष संधिके लिए बाध्य होना पड़ा—इसमें उपर्युक्त कारणोंका पर्याप्त हाथ था। परन्तु चन्देलोंकी अपनी निजी दुर्बलताएँ भी थीं। उनके पैर खींचनेमें वे भी कम दायी नहीं थीं। कालंजरपर आक्रमण करनेसे पूर्व महमूदने ग्वालियरपर आक्रमण किया था। ग्वालियर चन्देलोंका सामन्त था। गण्डदेवको चाहिए था कि अपने साम्राज्यकी पश्चिमी सीमापर वहीं ग्वालियरमें दृढ़ताके साथ महमूदका सामना करता। यह महान् भूल थी और महाराज गण्डदेव-द्वारा ऐसी राजनीतिक अदूरदर्शिता-पूर्ण भूल बड़ी खटकती है। इतना तो अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि चन्देलों-द्वारा ग्वालियरमें सीमापर उतनी सफलताके साथ महमूदका सामना नहीं हो सकता था जितना कि उसके साम्राज्यके भीतर घुस आनेपर। इस सामरिक विशेषताके कारण ही ग्वालियरके चूके चन्देलोंने कालंजरमें महमूदके उत्साह और साहसको ठंडा कर दिया। दूसरी बात यह थी कि गण्डदेव अपने बल और स्थितिपर आवश्यकतासे अधिक विश्वास किये बैठा था। राजपूत शासकोंका संघ बनाकर जिस प्रकार उसने पहले महमूदका सामना किया था, उस प्रकारके संघकी महत्ता इस समय सर्वाधिक थी। किन्तु इस समय उसने इस प्रकारका कोई प्रयास नहीं किया, नहीं तो, जैसा कि बतलाया जा चुका है, उस जैसे प्रभावकारी वीरके

१. औक्सफोर्ड हिस्ट्री औफ़ इण्डिया, पृ० १९४।

नेतृत्वमें उत्तरापथके सभी नरेशोंने अंतिम युद्ध कालंजरमें किया होता और फिर महमूदसे युद्ध करनेकी आवश्यकता ही न पड़ी होती।

कालंजर दुर्ग अपने समस्त विभव और सुदृढ़ताके साथ एक मार्मिक दुर्बलताका शिकार था। शासकोंको इसका ही भय रहता था। उसी दुर्बलताका लाभ उठाकर महमूदने कालंजरकी अजेयताका खण्डन किया। यह दुर्बलता थी पानी पहुँचनेकी। लम्बे घेरे पड़नेपर जब दुर्गवासी सेनाका संबंध नीचेसे छूट जाता था तब शत्रु पानीका ऊपर जाना रोक देते थे। महमूदने ऐसा ही किया और चन्देलोंको बड़ी विवशतासे झुकना पड़ा। चन्देल शासकने इस सम्भावित संकटसे अवगत होते हुए भी रक्षाका कोई विशेष उल्लेखनीय उपाय नहीं सोचा था। ऐसी दशामें दुर्गके ऊपरी भागको केवल अंतिम आश्रय ही बनाया जाना चाहिए था। चन्देल शासकने इस समय एक और भूल की। पड़ोसी कलचुरियोंसे उनका संघर्ष इस समय अधिक तीव्र था। अन्यथा कलचुरियोंकी सहायता सरलतासे उपलब्ध हो सकती थी।

किन्तु तत्कालीन मुसलमान इतिहासकारोंके साक्ष्यपर यह निष्कर्ष निकलता है कि जो राजा उस समय देशमें राज्य कर रहे थे और जिन्हें महमूदका सामना करना पड़ा, उन सबमें, राजनीतिक सूत्र, सैन्य-संघटन और महमूदके आक्रमणका अवरोध करनेमें चन्देल शासक ही सर्वश्रेष्ठ निकले। उसने एक ही दिनमें सात दुर्गोंको जीतकर गुर्जर प्रतिहार शासकपर जो सफलता प्राप्त की थी, उसे वह चन्देलोंपर न दुहरा सका—पर्याप्त समयके उपरान्त भी कालंजर उसके हाथ नहीं आया। उसका कालंजरपर आक्रमण दोनों शासकोंके बीच परस्पर भेंटके आदान-प्रदानके उपरान्त समानताकी गौरवपूर्ण संधिमें समाप्त हुआ जिसे उसके इतिहासकारोंने 'कर' के रूपमें वर्णित किया है।[१] महमूद और चन्देल-शासकोंमें मैत्रीपूर्ण संबंध कबतक चला इसका ठीक अनुमान लगाया जा सकता है। सन् १०२६ में महमूदने सेलजुकके पुत्रको पकड़वाकर भारतमें कालंजरके दुर्गमें बन्द रखनेके लिए भेजा था।[२] इससे यह सिद्ध हो रहा है कि। इस समयतक मैत्री घनिष्ठ थी किन्तु महमूद जब राजधानीकी विषम समस्याओंमें उलझा तब भारतकी राजनीतिसे उसका लगाव कम हो गया।

---

१. डा० हेमचन्द्र रायने उचित ही कहा है कि 'यह वर्णन निश्चित ही अत्युक्ति-पूर्ण है कि वह (गण्ड) 'कायर' था और उसने बिना युद्ध ही हथियार डाल दिए।' बादके इन इतिहासकारोंके विवरणका ऐतिहासिक प्रयोग करनेके पूर्व हमें महमूदकी विजयोंके ऐसे अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णनसे सावधान रहना चाहिये।' हि० नौ० इण्डिया, भाग २, पृ० ६६३

२. लिटरेरी हिस्ट्री ऑफ़ परशिया, १९१८, पृ० १७०, ब्राउनी।

गण्डका शासनकाल इस देशके इतिहासमें हिन्दू-मुसलमानोंके प्रलम्ब संघर्षका काल है, जब दो जातियोंका केवल शौर्य ही नहीं बल्कि उनके आचार और चरित्र कसौटीपर कसे जा रहे थे। इसमें थोड़ा भी सन्देह नहीं है कि चन्देलोंने ऐतिहासिक वीरताका परिचय दिया।

गण्डदेवकी सफलतामें उसके सुयोग्य और चिर अनुभवी प्रधान मंत्री प्रभासका महत्त्वपूर्ण योग था। उसने गण्डदेवके पिताके समयमें भी इसी पदपर काम किया था। इस सफलतामें उसका श्रेय उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

१३. विद्याधर

गण्डदेवके पश्चात् उसका पुत्र विद्याधर गद्दीपर आया। विद्याधरका किसी भी प्रकार मुसलमान इतिहासकारोंके नन्दसे साम्य नहीं किया जा सकता। अतः कुछ इतिहासकारोंने जो विद्याधरको बड़ा श्रेय दे डाला है वह उचित नहीं। विद्याधरकी समता इब्न-उल-अतहरके 'बिदा'से अवश्य की जा सकती है, किन्तु इब्न-उल-अतहरने जितनी घटनाओंका संबंध 'बिदा'से जोड़ा है, सबका संबंध वास्तवमें विद्याधरसे नहीं था। यह बात पहले स्पष्ट की जा चुकी है।

विद्याधर अपने पिताके समयमें ही योग्य उत्तराधिकारीके रूपमें वर्त्तमान था और कितने ही युद्धोंमें चन्देलोंके सैन्य-संचालनके लिए भेजा गया था। जब कन्नौजके शासकने महमूदको आत्मसमर्पण किया था, तब गण्डने बृहत् सेनाके साथ विद्याधरको ही उसे दण्डित करनेके लिए भेजा था। इस आधारपर यह निष्कर्ष निकला कि विद्याधर सन् १०१९ में राजगद्दीपर नहीं बैठा—जैसा कि डा० राय कहते हैं। उसके सिंहासनारूढ़ होनेका समय १०२५ ई० है।

गण्डदेवके समयमें चन्देल-साम्राज्यका जो विस्तार, शक्ति और प्रतिष्ठा पराकाष्ठापर पहुँची, उसमें उत्तराधिकारी राजकुमारके रूपमें विद्याधरकी विजयोंका अधिक योग था। दोआब सीधे चन्देल-शासनमें आ गया। इसी समय बहुतसे शासक करद और सामंत बनाये गये, विदेशी आक्रमणकारियोंका सामना किया गया और उन्हें भगाया गया। सौभाग्यसे विद्याधरको अपने पिता और पितामहसे अधिक शांतिमय समय मिला था। यही कारण है कि अभिलेखोंमें उसके और उसके उत्तराधिकारियोंके राजनीतिक कार्योंकी बहुत कम चर्चा है।

कीर्तिवर्माके देवगढ़ शिलालेखसे ज्ञात होता है कि 'विद्याधर सौभाग्यशाली था, जिसकी चतुर्दिक् व्याप्त प्रसिद्धि चन्देल-वंशके लिए वैसी ही प्रफुल्लकारी थी जैसे कुमुदवनके लिए राकेश।' वह इतना लोकप्रिय शासक था कि उसकी लोक-प्रियता उसके जीवनके प्रारम्भमें ही प्रतिष्ठित हो गई। उसी अभिलेखसे ज्ञात होता है—'उसके चरण-कमलोंमें अनेक राजे अभिनत थे।' इससे स्पष्ट हो रहा है कि विद्याधरदेवके शासनकालने अपने वंशके गौरवमें श्रीवृद्धि ही की।

वह दाहल अथवा चेदिके शासक गांगेयदेवका समकालीन था। जैसा कि इब्न रिहानके वर्णनसे ज्ञात होता है, सन् १०३०–३१ में उसकी राजधानी त्रिपुरामें थी।[1] चन्देल अभिलेखोंसे ज्ञात होता है, कि धारका परमार शासक भोजदेव एवं कलचुरी-शासक कल्याणप्रद शिष्यकी भाँति भयाकुल होकर इस (विद्याधर) की पूजा करते थे। यह गौरव उसने अपने पिता गण्डदेवके शासनकालमें ही प्राप्त कर लिया था। गांगेयदेव निःसन्देह विद्याधरके अधीन सामन्त था—यह बात कच्छपघाटके शासकके संबंधमें ज्ञात होती है।[2]

गण्डदेवके पश्चात् चन्देल और कलचुरी-शासक दोनोंमें संघर्ष आरंभ हो गया क्योंकि दोनों ही भारतवर्षकी प्रभु-सत्ता अपने हाथमें लेना चाहते थे। इस कलहका सूत्रपात गांगेयदेव कलचुरी (सन् १०१५–४० ई०) ने किया। उसने पूर्वमें तिरहुत-तक अभियान किया;[3] परन्तु अपनी सारी शक्ति लगा देनेके बाद भी वह अपने पड़ोसी चन्देल शासककी अधीनतासे उन्मुक्त न हो सका।

मदनवर्मन्के समयके मऊ शिलालेखसे विद्याधरके एक कर्मचारीका नाम प्राप्त होता है। वह धंग और गण्डदेवके प्रधान सचिव प्रभासका पुत्र शिवनाग था। यह ज्ञात होता है कि शिवनागने, 'ज्योंही सचिवपद ग्रहण किया, त्योंही उसने अपने आचरणके कौशलसे पृथ्वीके शासकोंको करद बना लिया और उन्हें रौंद डाला।'[4] ऐसे योग्य और सामर्थ्यवान् सचिवकी सहज सहायता चन्देलोंके लिए वरदान सिद्ध हुई।

इससे यह अनुमान दृढ़ होता है कि अपनी उन्नतिकी पराकाष्ठाके दिनोंमें चन्देलोंके हाथमें अति विशाल साम्राज्य था, जो उत्तर भारतमें सबसे बड़ा था। तत्कालीन गण्यमान्य समस्त विदेशी शासकोंसे उनका संबंध था और उनपर इनका समुचित प्रभाव विद्यमान था। उनकी सैन्यशक्ति अनुमानके परे थी। उत्बीके शब्दोंमें—'उसकी सेना विस्तीर्ण महासागरकी भाँति और सैनिक भी गणनामें चोंटियों या शलभोंके महासमूहकी भाँति थे। मुसलमानोंकी सेना युद्धकलासे परिचित नहीं थी परन्तु भारतीय सेना युद्ध-कलामें पूर्णतया दक्ष और सुसंघटित थी। इन यशस्वी महान् शासकोंकी कामना और आदर्श केवल भारतवर्षकी सत्ता हथियानेकी नहीं थी बल्कि देशको एकच्छत्र, संघटित केन्द्रीय शासनमें लाना था जो विदेशी आक्रमणकारियोंके व्यवधानोंसे निश्चित रहे। अतः चन्देल-इतिहासमें यशोवर्मन्देवसे विद्याधरतकका समय असाधारण रूपसे गौरवपूर्ण कहा जायगा। राजपूत इतिहासमें देशको एक बार और संघटित बनानेमें संभवतः इनका ही प्रयास अंतिम था।

---

१. आ० स० रि०, भाग ६, पृ० १०६

२. ई० आई०, भाग २, पृ० २१६, २२२, श्लो० २२

३. हिस्ट्री औफ़ नेपाल, बेन्डल। ज० ए० सो० बं०, १६०३, भाग १, पृ० १८

४. ई० आई० भाग, १, पृ० १६६, श्लोक २३–२४

अध्याय ७

अन्य शक्तियोंसे प्रतियोगिता

विभिन्न शासकोंमें होड़

चन्द्रात्रेय या चन्देल क्षत्रिय-वंशकी श्रीवृद्धि वास्तवमें परवर्त्ती युग (सन् १०००–१२०० ई०) में भी होती रही—यद्यपि इसके पूर्वकी शताब्दिके गौरवसे बढ़कर तो नहीं, फिर भी उनके प्रयत्नोंमें वही बल और वही महत्त्वाकांक्षा थी। इस शताब्दीके चन्देल-शासकोंके साम्राज्यकी खूब प्रशंसा और सराहना अलबरूनीने की है। उसने खजुराहो राजधानीके साथ-साथ चन्देलोंके कालंजर और ग्वालियरके दो दुर्गोंकी चर्चा भी की है। परन्तु इस तथ्यमें कोई शंका नहीं कि अपनी पवित्र और धार्मिक स्थितिके कारण आकर्षणका विषय होते हुए भी, दसवीं शताब्दिके मध्यसे खजुराहो चन्देलोंकी शासकीय राजधानी नहीं था। वस्तुतः यह वह युग प्रारम्भ हुआ जिसमें चन्देल शासक समकालीन राजपूत राजाओंसे कुछ समयके लिए परस्पर संघर्षमें उलझे। इनमेंसे कुछ को विदेशी आक्रमणकी कोई चिन्ता नहीं थी क्योंकि गण्डने पूर्वसे ही महमूद ग़जनीके साथ दौत्य-संबंध स्थापित कर लिया था और गजनी ही एक ऐसा साम्राज्य था जिसका देशको भय हो सकता था। निःसन्देह इस वंशके महान् शासक धंगदेव और उसके उत्तराधिकारी गण्डदेवने उत्तर भारतमें प्रभावकारी दबदबा स्थापित कर रक्खा था और उत्तर भारतकी ओर उनका बढ़ाव रोककर राष्ट्रकूटोंका उत्साह खण्डित कर दिया था। एक शासकने, जो हम्मीर (अमीर) सुबुक्तगीनके समान घोषित हुआ, सार्थकता आक्रमणकारीके बढ़ावको आकस्मिक रूपसे रोककर अपने इस विरुदकी प्रमाणित की। भारतवर्षने भी उसके शस्त्रका मूल्य आँका और तत्कालीन अनेक प्रतिभाशाली शासकोंके बीच उसे ही सम्राट्के रूपमें अंगीकृत किया। उसके उत्तराधिकारी गण्डने तत्कालीन सर्वशक्तिशाली शासक, भारतके पड़ोसीसे अंताराष्ट्रिय संबंध स्थापित किया और अपने पिताके समान ही अपनेको वीर प्रमाणित किया। विद्याधरने यद्यपि थोड़े ही कालतक शासन किया तथापि उसने भोज और गांगेय जैसे शासकोंका संघ बनाकर तुर्क आक्रमणकारीको भारतवर्षके हृदय-देशसे खदेड़नेमें बड़े साहसका कार्य किया।

विद्याधरके पितामहने अपने प्रभावकारी व्यक्तित्वसे आक्रमणकारीको भारतके गोपुरपर ही रोका। पिताने विभिन्न स्थलोंपर शत्रुका मुकाबला किया और देशद्रोहियोंको दण्डित करते हुए व्यावहारिक रूपसे शत्रुको विजित भी कर लिया।

वह स्वयं अपने पूरे शासन-कालमें योजनाएँ और संघ बनाता रहा और उसने आक्रमणकारीका बढ़ाव भी भारतके मार्मिक स्थलकी ओरसे रोका। पर अत्यंत खेदका विषय है कि उसके पश्चात् चन्देल शासकोंमें वह महान् भावना नहीं रही और वे समकालीन शासकोंके साथ आंतरिक झगड़ोंमें उलझ गये तथा उनका ध्यान राष्ट्रीय गौरवसे हटकर व्यक्तिगत कलहकी ओर अभिमुख हो गया। उनके पड़ोसियोंपर मुसलमान आक्रमणकारियोंके धावे होते थे और इस समयके चन्देल शासक भी अन्य भारतीय शासकोंकी भाँति दूरसे विनोद पानेवाले दर्शक बने रहे। यह स्पष्ट हो गया कि राजनीतिक दूरदर्शिताकी जो भावना धंग और उसके उत्तराधिकारियोंमें प्रबल थी--वह अबके शासकोंमें नहीं रह गई थी। कलचुरी-शासक चन्देलोंके सबसे सन्निकट प्रतिद्वंद्वी थे।

१४. विजयपालदेव

विद्याधरके पश्चात् उसके पुत्र विजयपालने राज्यका सूत्र अपने हाथोंमें लिया। राज्यारोहण हि० ४१३ (सन् १०२२) के बाद और वि० सं० ११०७ के पूर्व हुआ। चि० वि० वैद्यका कथन है कि 'विजयपालने सन् १०३० से सन् १०४० तक शासन किया।'[1] किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि विद्याधरने स्वयं सन् १०२५ ई० में गद्दी प्राप्त की और उसका शासन कमसे कम सन् १०३९ तक चलता रहा। अतः विजयपालके राज्यारोहणकी सम्भावित तिथि सन् १०४० थी और वह सन् १०५० तक शासन करता रहा। उसका नाम और उसकी स्थितिका परिचय चन्देलोंके अनेक अभिलेखोंसे मिलता है।[2] किन्तु ये अभिलेख उसके समयके कार्य कलापके संबंधमें वस्तुतः बहुत कम सामग्री प्रस्तुत करते हैं। कीर्तिवर्मनके देवगढ़ शिलालेखसे ज्ञात होता है कि वह शासकोंमें प्रमुख था।'[3] यह कथन इतना प्रमाणित करता है कि चन्देलोंकी सार्वभौम सत्ता अक्षुण्ण थी और उसमें कोई कमी नहीं आई थी। मदनवर्माका एक अभिलेख विजयपालदेवके व्यक्तित्व और आचारका उत्तम चित्र उपस्थित करता है, यद्यपि राजनीतिक इतिहासमें उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है।[4] विजयपाल 'अपनी कीर्तिके प्रसारसे अधिक प्रसिद्ध और अपने धार्मिक

---

१. हिस्ट्री औफ़ मेडिवल हिन्दू इण्डिया, भाग ३, पृ० १८१

२. अ ई० ए०, भाग १६, पृ० २०५, श्लोक १-३। वही, भाग १८, पृ० २३८, पंक्ति २-३। वही, भाग १, पृ० १९८-२००, श्लो० ६-२६। ज० ए० सो० बं०, १८४८, भाग १७, पृ० ३१७, श्लो० ७। ई० आई०, भाग १, पृ० २००, श्लो० २६। देखिये--डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ नौर्थ इण्डिया, भाग २, पृ० ६८५, नं० (३)

३. आई० ए०, भाग १८, पृ० २३९

४. ई० आई० ,भाग १, पृ० २०३

आचरणसे देशको पावन करनेवाला हो गया। वह दुष्टोंका उन्मूलन और साधुओंका समादर करनेवाला था और उसने कलियुगमें पापोंसे मुक्त होनेके लिए कलियुग-कलापको विनष्ट कर दिया।' विजयपाल अत्यन्त शांतिमय और धर्मरत शासक था। यद्यपि यह सत्य है कि साम्राज्य-प्रसारका कार्य प्रायः समाप्त हो गया था और विजयपाल एवं उसके अनुवर्तियोंको केवल शासन सुसंघटित करनेका ही कार्य करना था किन्तु सामन्तों, करद राजाओं और अधीन मित्रोंके ऊपर अनुशासन कायम रखना भी उस समयकी आवश्यकता थी। इसे भी उसने पूरा किया। उपर्युक्त अभिलेखसे स्पष्ट होता है कि 'उसने शत्रु-समूहका उन्मूलन किया।'

जैसा कि बतलाया गया है, 'विजयपाल दृढ़ और पुनीत चरित्रका व्यक्ति था और अपने विचारोंकी निष्कपटता और आदर्श व्यवहारसे प्रजाको बराबर आकृष्ट किये रहता था। इसके साथ-ही-साथ उसने अंतःकरणके छः शत्रुओं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या और अहम्‌को भी नष्ट कर दिया था।'

जनहितके कार्योंमें उसने भरपूर सहायता की। अभिलेखोंसे ज्ञात होता है कि विजयपालने साम्राज्यके सातों अंगोंका दिन-प्रति-दिन उन्नयन किया। मनुके अनुसार साम्राज्यके सातों अंग—राजा, अमात्यवर्ग, राजधानी, कोष, बल, मित्र और साम्राज्य हैं।[1] सचमुच उसके शासनकालमें अपेक्षाकृत शांति थी और शासनके समस्त अंगोंको प्रौढ़ होनेका अच्छा अवसर हाथ लगा था। जहाँ कहीं भी उसकी शांति-व्यवस्थामें कोई रोड़ा बनता था, वह निर्दयतासे 'कंटक-समूहोंको अर्थात् राजद्रोही जनोंको ध्वस्त कर देता था—साथ ही कलि-प्रभावसे बढ़ते हुए विग्रहको भी रोकता था।'[2] इसमें सन्देह नहीं कि बाह्य आक्रमणसे निश्चित चन्देल इस समय सुशासन प्रतिष्ठित करनेमें अपनी शक्ति लगा रहे थे।

उपर्युक्त अभिलेख एक अति महत्त्वपूर्ण राजनीतिक तथ्य उद्घाटित करता है, जिसका उचित मूल्यांकन अभीतक नहीं किया जा सका है। विजयपालने 'अपना शासन समुद्र-तटोंतक पहुँचाया था।' इस कथनका वास्तविक समाधान एक दूसरे अभिलेखसे हो रहा है, जिससे यह ज्ञात होता है कि भोजदेव और कलचुरी शासकोंने विद्याधरदेव और उसके पिता धारके परमार शासक की पूजा की थी। परमारोंका साम्राज्य उस समय गुजरात, मालवा और राजपूतानेतक फैला था। यदि दूसरे अभिलेखके सम्पर्कमें रखकर पहले अभिलेखका निष्कर्ष निकाला जाय तो प्रमाणित होता है कि परमार उस समय चन्देलोंकी मैत्रीमें थे—ऐसी मैत्री, जिसमें चन्देलोंका अपर पक्ष तो अवश्य ही था, चाहे परमार पूर्णतः अधीन न भी रहे हों। इस प्रकार विजयपालका समुद्रपर्यन्त आदेश विराजना युक्तिसंगत ही है।

---

१. मनु : बुलरका अनुवाद अ० ६, श्लोक २९४

२. ई० आई० भाग १, पृ. २०३

मदनवर्मन्‌देवके मऊ अभिलेखसे ज्ञात होता है कि विजयपालके 'सचिव' का नाम महिपाल था।[1] महिपालने 'विजयपालके महत्त्वपूर्ण शासन-कार्यके दुरूह भारको पूर्णरूपेण वहन किया।' उस सुयोग्य मंत्रीमें 'शौर्यके साथ निष्कलंक नीतिका समन्वय था' और 'वह उत्तम मंत्रियोंकी तुलनाके लिए मानदण्ड बन गया था।' विजयपालके शासनमें सातों अंगोंकी प्रौढ़ता, जिनकी चर्चा ऊपर की गई है, निश्चित ही महिपालके निजी प्रभाव और सत्प्रयत्नोंका परिणाम थी।

अभिलेखोंसे ज्ञात होता है कि विजयपालदेवकी एक रानी भुक्तादेवी थी। इसी रानीसे देववर्मन्‌का जन्म हुआ था जो विजयपालका ज्येष्ठ पुत्र था। विजयपालका दूसरा पुत्र यशस्वी कीर्त्तिवर्मन्‌देव था।

१५. देववर्मन्‌देव

देववर्मन्‌ने अपने पिताके पश्चात् सन् १०५० में अपने हाथोंमें राज्यसूत्र लिया। उसका राज्यकाल केवल दस वर्षोंका हुआ। उसका ऐतिहासिक वर्णन उत्तरप्रदेशके हमीरपुर जिलेके पानकरी, जैतपुर तहसीलके नन्यौरा ग्राममें प्राप्त उसीके दानपत्रमें मिलता है। इसी पत्रके साथ धंगदेवका भी एक दानपत्र मिला है।[2] चन्देल अभिलेख उसके राज्यकालकी किसी भी राजनीतिक घटनाकी चर्चा नहीं करते हैं। यह तो और भी आश्चर्यका विषय है कि कुछ लेखोंमें देववर्मन्‌का नाम बिलकुल आया ही नहीं है। उदाहरणके लिए मदनवर्मन्‌के मऊ अभिलेखने विजयपालके पश्चात् सीधे कीर्तिवर्मन्‌को रक्खा है।[3] महोबामें प्राप्त चन्देलोंके एक खण्डित शिलालेख तथा कीर्तिवर्मन्‌के देवगढ़ शिलालेखसे भी उपर्युक्त बातकी ही पुष्टि होती है। किन्तु सन्तोष यह है कि ये सभी लेख कीर्तिवर्मन्‌को विजयपालका पुत्र बतलाते हैं। इससे सन्देह नहीं रह जाता कि कीर्तिवर्मन्‌ने अपने पिताका नहीं बल्कि गद्दीपर अपने ज्येष्ठ भाईका अनुगमन किया।

इस राजाने अपनी माता राज्ञी भुवनादेवीको संवत्सरी (सांवत्सरिके) के अवसरपर अपने निवास सुहवाससे राजसपुर अवस्थाके रांसमनमें स्थित कठहो ग्रामको धकारीके एक आगन्तुक ब्राह्मण अभिमन्युको भट्टग्राम दान दिया।[4] इस लेखमें देववर्मन्‌देवने सत्ताधारी शासकके विरुद धारण किये हैं—परम भट्टारक इत्यादि। इसमें देववर्मन्‌के व्यक्तित्व और कार्योंका सामान्य किन्तु विशद चित्र उपस्थित किया गया है। देववर्माने "अपने शौर्यकी ज्वालामें समस्त धर्मोंको अंतर्निहित कर लिया था। युद्धक्षेत्रमें हत शत्रुओंकी स्त्रियोंके लिए वह वैधव्यका

१. वही, पृ० २००, श्लो० २६
२. डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ़ नॉर्थ इण्डिया, भाग २, पृ० ६८५
३. ई० आई०, भाग १, पृ० १९८, श्लो० ७
४. आई० ए०, भाग १६, पृ० २०१–२०२ और २०४–२०७

आध्यात्मिक नेता था।" इस कथनसे यह आभास मिलता है कि वह अपने साम्राज्य और यशकी रक्षा करनेमें समर्थ था। निश्चित नामकी अनुपस्थिति यह भी प्रकट करती है कि उसके समयमें जिस संघर्षने भयंकर रूप धारण किया वह उसके अंतिम दिनोंमें भी वर्तमान रहा।

देववर्मा 'अपनी सच्चाईसे युधिष्ठिर, उदारतासे चम्पाके शासक कर्ण, गंभीरतासे महासागर, शक्तिसे इन्द्र, सौन्दर्यसे कामदेव और सूक्ष्म बुद्धिसे शुक्र और वाचस्पतिको लज्जित करता था। अपने पिताकी भाँति वह धार्मिक वृत्तिका था। वह बुद्धिमान्, न्यायप्रिय, पराक्रमी, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ, साधु-रंजक और शुभ-मूर्ति था।' इस कथनका औचित्य यह है कि देववर्मामें अनेक गुणोंका सहज निवास था और उसका व्यक्तित्व भरा-पूरा था।

चन्देल-इतिहासका अंधकार युग

इस शांतिमय कालने जहाँ चन्देलोंको जनहितके लिए व्यक्तिगत सुकृत बढ़ानेका अवसर दिया वहाँ इसने चन्देलोंके आयुध-प्रेम और उनकी युद्ध-भावना भी कुण्ठित कर दी। देववर्माके शासनकालके अंतमें वे अचानक विपत्तियोंके मुखमें पड़ गये। चेदीके कलचुरियोंने शक्तिका संगठन करके उत्तरके विभिन्न शासकोंके विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया। चेदी शासकोंमें सर्वशक्तिशाली और सुयोग्य लक्ष्मीकर्णने (सन् १०३८–१०८० ई०), उत्तर भारतके राजाओंसे—अरब सागरसे बंगालकी खाड़ीतक संबंध स्थापित किया।[1] यही नहीं, उसने कश्मीरसे दक्षिणी पठारतकके भागको प्रकम्पित करके अभिभूत कर लिया।[2] अतः उसने कुछ कालके लिए चन्देलोंका भी राज्यभाग अधीन कर लिया हो, यह असंभव नहीं है। कृष्णमित्र-विरचित जिस प्रबोध-चन्द्रोदय नाटकमें, रूपकके रूपमें नित्यविवेक और महामायाके बीच शाश्वत चलनेवाला संघर्ष प्रस्तुत किया गया है, उसमें सूत्रधार कहता है—'चन्द्रवंशका शासक' (चन्द्रेल) चेदि-सम्राट्से अपदस्थ किया गया। उसी समय गोपालने चन्द्रवंशकी सत्ता पुनःस्थापित की।[3] एक अभिलेखसे भी ज्ञात होता है कि कीर्तिवर्मन्ने ब्रह्माकी भाँति चन्देल-साम्राज्यका पुनर्निर्माण किया।

कर्ण-द्वारा चन्देलोंकी पराजयकी चर्चा बिल्हणने भी की है। उसने डाहलके शासक कर्णको कालंजरके राजाका काल (कालः कालञ्जरगिरिपतेर्यः) बतलाया है।[4] अस्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि चन्देलोंको शौर्यशाली कर्ण-द्वारा हार खानी पड़ी।

---

१. डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ इण्डिया, भाग २

२. ई० आई० भाग, २, पृ० ३०२

३. मूल पुस्तक बंबई के निर्णयसागर प्रेसमें छपी है। उसका अनुवाद जे० टेलर, लंदन-द्वारा १८१२, १, ६ में किया गया है।

४. विक्रमाङ्क-देव-चरित, बूलर-द्वारा सम्पादित, भाग ३, पृ० १८१

परन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि डाहलके कर्ण-द्वारा किसकी पराजय हुई। श्री चि० वि० वैद्यकी धारणा है कि त्रिपुरके कर्णने कीर्तिवर्मन्को हराकर, उसके साम्राज्यसे खदेड़ दिया।[1] किन्तु इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। बिल्हणके कथनसे प्रकट हो रहा है कि कीर्तिवर्मन्का कोई पूर्ववर्ती शासक था जो सम्भवतः कलचुरियोंके युद्धमें मारा भी गया। वस्तुतः यह देववर्मन्देव था, जिसे यह दुर्गति प्राप्त हुई—दूसरा कोई नहीं। इस संबंधमें डा० हे० च० रायका कथन युक्तियुक्त प्रतीत हो रहा है कि—'देववर्मन्के संबंधमें प्रशस्ति-कारोंका मौन धारण करना तथा चन्देल वंश-वृक्षमें उसके नामके अभावका तात्पर्य यह है कि उसका राज्यकाल चन्देल इतिहासमें अंधकार-युगका, तथा गौरव-विहीन अवस्थाका द्योतन करता है।'[2]

कीर्तिवर्मन्देव

देववर्मन्देव संतानहीन था, इसलिए उसके पश्चात् राजगद्दीपर उसका भाई कीर्तिवर्मन् आया जिसका राजत्वकाल अपेक्षाकृत बड़ा और अधिक प्रसिद्ध था। उसने सन् १०६० से ११०० ई० तक लगभग ४० वर्षतक राज्य किया। उसके समयके कई अभिलेख मिले हैं—एक तो सन् १०९८ का है और दूसरे-पर तिथि वर्तमान नहीं है। इस अभिलेखमें स्पष्ट बतलाया गया है कि गंडदेव और विद्याधरदेव दोनों भोजके समकालीन थे, विजयपाल थे गांगेयके और देववर्मन्देव थे कर्णके। कीर्तिवर्मन् स्वयं चेदिशासक लक्ष्मीकर्णका समकालीन था। उसने कर्णके साथ संघर्ष किया और जैसा कि अभिलेखोंसे ज्ञात होता है, उसने अंतमें निर्णयात्मक विजय प्राप्त की। अभिलेख इस बातकी उच्च स्वरसे घोषणा करते हैं कि कीर्तिवर्मन्ने लक्ष्मीकर्णको अभिभूत करके भारी कीर्ति स्थापित की।

चन्देल-शक्तिका पुनरुत्थान

अभिलेखों और साहित्यिक प्रमाणोंमें कुछ अंतर है। प्रथम अभिलेख तो विजयका समस्त श्रेय कीर्तिवर्मन्को प्रदान करता है, दूसरा उसके प्रमुख सामंत गोपालको।[3] इस बातमें तो मौलिक मतैक्य है कि कुछ समयके लिए चन्देल-साम्राज्य लक्ष्मीकर्णकी विजयोंसे पूर्णतया ग्रस्त हो गया था। एक उत्कीर्ण लेखमें साम्राज्यकी पुनः स्थापनाका गौरव कीर्तिवर्मन्देवको दिया गया है; किन्तु जैसा कि प्रबोधचन्द्रोदय नामक नाटक सूचित करता है—इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि विजय उसी सामन्तका ही कार्य था, क्योंकि जिस नाटकमें स्पष्टता और गम्भीरताके साथ यह प्रकट किया गया है, वह कभी भी कीर्तिवर्मन्के समक्ष अभिनीत न हो पाता।

---

१. हिस्ट्री औफ़ मेडिवल हिन्दू इण्डिया, भाग ३, पृ० १८९
२. डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ नौर्थ इण्डिया, भाग २, पृ० ६८९
३. प्रबोधचन्द्रोदय—प्रथम—पृ० २

इस नाटककी भूमिकासे ही ज्ञात होता है कि 'कीर्तिकारी गोपालने, जो सकल-सामन्त-चक्र-चूड़ामणि कहा जाता था, परशुरामकी भाँति क्रूर राजाओंके वंशोंका समूल उन्मूलन कर दिया। जिसका चरण-कमल करद राजाओंकी मौलिसे सुशोभित हो रहा था, उसने नृसिंह रूपमें अपने शत्रुओंके बीचसे प्रवेश किया और वराह रूपमें पृथ्वीको तब उठाया जब वह विनाशके जलप्लावनमें डूबी जा रही थी।[1] उसके युद्धके कठोर कुठारने, अबला, बाल और वृद्ध किसीको नहीं छोड़ा। उसने शत्रुओंके विशाल स्कंधोंको विदीर्ण कर दिया।'[2] इन पंक्तियोंसे ज्ञात होता है कि गोपालने उस समय भारी उद्धारकके रूपमें कार्य किया जब कि चन्देल-साम्राज्यपर आपत्तिकी घनघोर घटा छाई हुई थी। कुछ वर्णनोंसे ज्ञात होता है कि उसने अपना सम्पूर्ण समय अपने स्वामी कीर्तिवर्मन्की सेवामें बिताया। एक प्रसंगमें कहा गया है—'गोपालके शौर्यकी देदीप्यमान लपटें उसके अगणित अरियोंके वनमें चमक रही थीं और वे तीनों लोकोंमें फैल गई।' इससे प्रकट हो रहा है कि गोपालने न केवल हारे हुए साम्राज्यको लौटानेमें कीर्तिवर्मन्की सहायता की बल्कि दुर्दिन-में साम्राज्यकी भक्तिसे अलग हो जानेवाले अनेक करद राज्योंको भी पुनः अधीन किया। एक दूसरे स्थानपर कहा गया है कि 'गोपालने, जिसकी कीर्ति भुवनको भर रही है, अपने कृपाणसे. . . .नरपति-तिलक कीर्तिवर्मन्के लिए साम्राज्यका संयोजन किया।'[3]

इससे यही व्यक्त हो रहा है कि गोपालने उस समय परित्राताके रूपमें चन्देलोंको बचाया जब वे विपत्तियोंसे चतुर्दिक् आक्रांत थे। एक स्थलपर कहा गया है कि जब कीर्तिवर्मन्के दिग्विजय-व्यापारमें गोपाल संलग्न था, वह विषय-रसास्वाद-दूषित हो गया था। ध्यान देनेकी बात है कि नटीने भी शत्रुओंके संगठित संघ, कर्ण तथा सकल राजमण्डल पर गोपालके विजयकी चर्चा की है और उसकी तुलना उसने उन मधुमथनसे की है जिन्होंने समुद्र-मंथन-द्वारा लक्ष्मीको प्राप्त किया था। एक और भी मूल्यवान् प्रसंग आया है जहाँ गोपालको पराक्रमी कर्णके परास्त करनेका गौरव दिया गया है और इस प्रकार उसे कीर्तिवर्मन्के उत्थानका मार्ग प्रशस्त करनेवाला ठहराया है। जिस प्रकार भ्रांतिपर विवेककी विजय होनेपर ज्ञानोदय होता है, उसी प्रकार कर्णके ऊपर गोपालकी विजयसे कीर्तिवर्मन्-का उदय हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि इस कथनकी परिपुष्टि अभिलेखोंसे भली प्रकार होती है। महोबाके चन्देल उत्कीर्ण लेखसे ज्ञात होता है कि कीर्तिवर्मन्ने लक्ष्मीकर्णको विजित किया—'ठीक उसी प्रकार, जैसे पुरुषोत्तम भगवान विष्णुने

---

१. प्रबोधचन्द्रोदय,—प्रथम—३
२. वही —प्रथम—६–७
३. वही —प्रथम, ४

मन्दराचलसे समुद्रका मंथन करके अमृत निकाला था।[1] इन विवरणोंसे यही निष्कर्ष निकलता है कि चन्देल-साम्राज्यकी पुनः प्रतिष्ठा एवं इस समयकी अन्य कतिपय विजयोंका अधिष्ठाता बलशाली सामंत गोपाल था।

किन्तु कीर्तिवर्मन्‌का प्रयत्न कम प्रशंसनीय नहीं था। कीर्तिवर्मन्-द्वारा कर्णकी पराजयका प्रसंग प्रस्तुत करते हुए चन्देल राजा वीरवर्माका एक शिलालेख अंकित करता है: 'उस वंशमें पृथ्वीका एक शासक था जिसका गुणगान विद्याधर करते थे। वह नवीन साम्राज्यके जन्मदाताके रूप अगस्त्यके समान था।'[2] कीर्तिवर्मन्‌के इस महान् विजयका समय-निर्धारण करना सम्भव नहीं है। उसकी तो एक ही तिथि ज्ञात है वह है वि० सं० ११५४ (सन् १०९७)। भारतके कुछ और शासकोंका भी दावा है कि उन्होंने लक्ष्मीकर्णको पराजित किया था। उनकी तिथियोंका क्रम निम्न प्रकार है।[3]

(१) चालुक्य भीम, अनहिलपट्टन—सन् १०२१—६४ ई०।
(२) चालुक्य सोमेश्वर, कल्यानी—सन् १०४०—६९ ई०।
(३) विग्रहपाल, बंगाल-बिहार—सन् १०५५–८१ ई०।
(४) उदयादित्य, मालवा—सन् १०५९ ई०।

किन्तु ये तिथियाँ हमें अपेक्षित लक्ष्यपर पहुँचनेमें सहायता नहीं करतीं। यदि गहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्रके बसही-पत्रपर विश्वास किया जाय तो यह परिणाम निकलता है कि लक्ष्मीकर्णकी पराजयकी तिथि सामान्य रूपसे सन् १०९० ई० के कुछ पूर्व थी। यह विवरण इस प्रकारका मिलता है—जब राजा भोज और कर्णकी मृत्युके पश्चात् जगत् दुखी होने लगा तब उसके उद्धारके लिए चन्द्रदेव प्रस्तुत हुआ। वह अपने सत्प्रयत्नसे राजा बना और उसने कान्यकुब्जमें अपनी राजधानी स्थापित की।[4] इससे पूर्वकी भी एक तिथि मिलती है। यशःकर्णके कहिढ़ दानपत्रसे ज्ञात होता है कि यह घटना सन् १०७३ के पूर्व घटी थी।

इतना सुनिश्चित है कि अपना अस्तित्व स्थापित करनेके पश्चात् कीर्तिवर्मन्‌ने अपनी परंपरागत दिग्विजय प्रारम्भ की। प्रबोधचन्द्रोदयका सूत्रधार सामंत गोपालके

१. प्रबोधचन्द्रोदय–१, ९। आ० स० इण्डिया भाग २, पृ० ४५३। ई० आई० भाग १, पृ० २२०

२. ई० आई० भाग १, पृ० ३२७–३८९। इसकी तुलना कालंजरके चन्देल अभिलेखकी ८–९ पंक्तियोंसे की जा सकती है। ज० ए० सो० बं०, भाग १७, पृ० ३१७

३. ई० आई०, भाग १, पृ० २३५–३६, श्लो० १९-२२; भाग २, पृ० १८५–८६, श्लो० ३२–३४। वही पृ० ३०३। विक्रमाङ्कदेवचरित, १, १०२–०३। रामचरित मे० ए० सो० बं०, भाग ३, पृ० २२

४. आई० ए०, भाग १४, पृ० १०२–०३, पंक्तियाँ ३–६

आदेशकी घोषणा करता है :—'राज-शत्रुओंको नष्ट करनेके पश्चात् जब महाराजा श्रीकीर्तिवर्मन् विश्वविजयकी ओर अभिमुख हुए तब मेरा अध्यात्मचिंतन खण्डित हो गया।'[2] उस दिग्विजयके क्रममें कीर्तिवर्मन्को अनेक रक्तपातपूर्ण विषम युद्ध करने पड़े। नटी कहती है : 'अपने शस्त्रबलसे उसने राजाओंके संघका विच्छेद किया। अपनी धनु:-प्रत्यंचाको सीमापर्यंत खींचकर जब वह भयानक रूपसे अश्वोंपर बाण-वर्षा करने लगता था तो वे लहरोंकी भाँति आकुल हो उठते थे। मतवाले हाथी सहस्रों तीव्र अस्त्रोंसे क्षत-विक्षत होकर प्रत्येक दिशामें गिरते थे। पैदल सेनाएँ उसके अस्त्रोंसे विद्ध होकर कराह रही थीं। मुनियों-द्वारा भी समादर प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति जो ऐसे भयानक युद्धमें निरत रहता था वह किस प्रकार शांति प्राप्त करता था।'[2] उसकी तुलना देवगढ़ प्रस्तरलेखमें विष्णुसे की गई है। श्लोक इस प्रकारका विवरण प्रस्तुत करता है : 'जिस प्रकार समुद्रको छोड़कर लक्ष्मी विष्णुके पास आ गई उसी प्रकार राजाओंके यहाँसे लक्ष्मीने कीर्तिवर्मन्के पास आगमन किया। वह नवीन विष्णुकी भाँति प्रतिभासित होने लगा। उसके पास पहुँचकर उसने अस्थिरताका परित्याग कर दिया।'[3] उसीके आगे उसके व्यापक विजयका विवरण प्रारम्भ हो जाता है जहाँ उसके व्यक्तित्वकी तुलना अनेक महापुरुषोंसे की गई है—'वह राजाओंके बीच वैसे ही शोभित है जैसे नक्षत्र-मण्डलके बीचमें राकेश; नि:सन्देह युधिष्ठिर, सदाशिव और रामचन्द्र सब उसके शरीरमें अंतर्भूत हुए थे जो अनेक वरेण्य सद्‌गुणोंके पुञ्जीभूत होनेके कारण अधिकाधिक शोभायमान हो रहा था।'[4]

शासन-व्यवस्था

कीर्तिवर्मन्ने कर्णदेवको पराजित और अन्य सामन्तोंको अधीनस्थ करके जब अपने वंशकी लुप्त ख्यातिमें पुनः प्राण-प्रतिष्ठा कर दी तब उसका ध्यान शासन-व्यवस्थाकी ओर आकृष्ट हुआ। इस व्यवस्थामें उसे सुयोग्य मंत्रिमण्डलका योग प्राप्त हुआ। अमात्यवर्गकी कार्य-सीमा केवल शासन-तक ही नहीं थी, वे सफल सेनानायक और प्रख्यात योद्धा भी थे। प्रबोधचन्द्रोदयमें सूत्रधार इस बातकी घोषणा करता है कि कीर्तिवर्मन्ने अपने साम्राज्यकी व्यवस्था यशस्वी अमात्योंके हाथमें सौंप दी थी। अमात्य-वर्गका चुनाव स्वयं राजा करता था और वे उसीके प्रति उत्तरदायी थे। इन्हींके ऊपर राज्य-कार्यका अधिकाधिक भार था। बेतवाके

१. नीताः क्षयं क्षितिभुजो नृपतेर्विपक्षा रक्षावती क्षितिरभूत्प्रथितैरमात्यैः।
साम्राज्यमस्य विहितं क्षितिपाल-मौलिमालार्चितं भुवि पयोनिधिमेखलायाम् ॥३॥

२. प्रबोधचन्द्रोदय, १, पृ० १७

३. आइ० ए०, भाग १८, पृ० २३६, श्लो० ४

४. वही, श्लो. ४–५

तटपर ललितपुर श्रेणीके पठारपर स्थित देवगढ़ दुर्गके नदीवाले गोपुरके समीप प्राप्त एक प्रस्तर-अभिलेखमें कीर्तिवर्मन्के मन्त्रियोंमें प्रधान अमात्य (अमात्य-मंत्र-इन्द्र) वत्सराजका परिचय दिया गया है जो रमणीपुरसे गया था (विनिर्गत)। ज्ञात होता है कि वत्सराजने अपने शत्रुसे इस सम्पूर्ण मण्डलको अधीनस्थ कर लिया था और इस दुर्गका नामकरण कीर्तिगिरि किया था।

कीर्तिवर्मन्का एक प्रख्यात दरबारी सामंत गोपाल था जिसका सांगोपांग वर्णन हमें प्रबोधचन्द्रोदयमें प्राप्त होता है। वह अत्यन्त वीर और नीतिज्ञ था। 'सात-सात बार उसने निरंकुश शासकोंको समाप्त किया और रक्तकी सरितामें स्नान किया।' उसके नृशंस युद्ध-कुठारने स्त्री, बाल और वृद्ध किसीको नहीं छोड़ा। जिस वत्सने अपने स्वामीके लिए बेतवा घाटीको जीता था, वह मंत्रियोंके उस विशिष्ट मण्डलमें ऐतिहासिक वाचस्पति बन गया था। इन दोके अतिरिक्त अन्य साधनोंसे दो और राजकीय कर्मचारियोंके नाम प्राप्त होते हैं। मदनवर्मन्के मऊ अभिलेखसे ज्ञात होता है कि उसके प्रमुख अमात्यवर्गमेंसे अनन्त एक था। वह 'निष्कलंक पवित्र ज्ञान' का भंडार था और साथ ही 'शौर्य और कौशलका भी अनोखा समन्वय' था। दूसरे कर्मचारीका नाम वास्तव्य कायस्थ माहेश्वर था जिसकी चर्चा भोज-वर्मन्के अजयगढ़वाले प्रस्तर अभिलेखमें मिलती है। कीर्तिवर्मन्ने जो 'पीतशैल विषयके राजाओंमें चूड़ाके समान था'[1], उसे कालंजरके 'वशिस' की उपाधि दी थी। इस पीतशैलका तादात्म्य अभी ठीकसे नहीं हुआ है। डा० रायका मत ठीक ज्ञात होता है कि वशिस एक शासकीय पदवी थी।[2]

इस नरपतिके जो सिक्के अबतक प्राप्त हुए हैं केवल सुवर्णके हैं। इसके सिक्के उनपर अंकित आख्यानको छोड़कर सब तरहसे कलचुरी राजा लक्ष्मीकर्णके पिता गांगेयदेवके सिक्कोंसे मिलते हैं।[3] इसका स्पष्टीकरण करते हुए डा० रायने जोर दिया है कि जब कर्णने चन्देल साम्राज्यपर अधिकार किया था तब उसके सिक्के समस्त जेजाभुक्तिमें प्रचलित हो गये थे। फिर चन्देलोंने उसी शैलीको अपनाया।[4] लेकिन यह स्पष्ट समझना चाहिए कि चन्देलोंने विशेषतया कीर्तिवर्मन्ने चेदि-सिक्केको अपनी पराजयकी स्मृति रूपमें नहीं जारी रक्खा था क्योंकि कलचरियों-का आधिपत्य अत्यंत अल्पकालीन था और किसी भी प्रकार बलपूर्वक सिक्का चलवानेकी कोई सम्भावना नहीं थी। सम्भव यह प्रतीत होता है कि कीर्तिवर्मन्

१. ई० आई० भाग १, पृ० ३३३–३३६, श्लो० ९

२. डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ नौर्थ इण्डिया, भाग २, पृ० ७०१—पृष्ठ-तलस्थ टिप्पणी।

३. कना० मे० ई०, पृ० ७७–७९ और सं० १२ तेरहवें प्लेट में। आ० स० रि०, भाग २, पृ० ४५८–५९

४. डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ नौर्थ इण्डिया, भाग २, पृ० ७००

द्वारा कर्णकी पराजयके पश्चात् (सन् १०६० व १०७० ई० के बीच), कीर्ति-वर्मन्ने कर्णदेवके पिताकी शैली अपने लिए अपना ली। यह शैली सादगी और व्यवहार्यता आदि गुणोंके कारण स्वेच्छासे अपनाई गई।

सामान्य रूपसे वर्णन किया गया है कि चन्देलोंकी शक्ति किस प्रकार क्रमिक रूपसे विकसित होती गई कि विद्याधरदेवका राज्यकाल मुसलमान इतिहासकारों-द्वारा तत्कालीन भारतका सबसे महत्त्वपूर्ण एवं शक्तिशाली माना गया। भारतकी अन्य शक्तियोंने श्रद्धा और भयसे चन्देल राजाओंकी अधीनता मान ली, प्रतिद्वंद्वी शक्तियाँ पराजित करके अधीन कर ली गईं और करद बना ली गईं। किन्तु यशोवर्मन्के समयसे ही जो कलचुरियोंको हार खानी पड़ रही थी, उसकी प्रतिक्रिया बड़ी भयानक हुई और परिणाम भी भयानक हुआ। देववर्मन्देव अपने वंशके महान् गौरवको न सँभाल सका और वह चेदिराज कर्णदेव-द्वारा राज्य-च्युत कर दिया गया। फिर यह कीर्तिवर्मन्की बलिष्ठ भुजाओंका कार्य था कि इस लोकविश्रुत वंशकी अपहृत श्रीका उद्धार हुआ। इस महायोजनामें उसकी राज्य-सभाके आमात्योंका पर्याप्त हाथ था। लगभग एक शतीतक चन्देल-शासक प्रतिस्पर्धी पड़ोसियोंके साथ युद्ध-रत रहे और निबिड़ तमसे अभिभूत भी हुए। किन्तु कीर्तिवर्मन् और गोपालके अबाध दुर्धर्ष प्रयत्नकी बलिहारी है जिसके कारण गहन घनघटाको तितर-बितर कर एकबार इस वंशका देदीप्यमान चंद्र फिर मध्य भारतके आकाशको निरभ्र करके उदित हो आया।

अध्याय ८

साम्राज्यका ह्रास

जब कीर्तिवर्मन्‌ने भारत-सम्राट्के गौरवपर प्रतिष्ठित कर्णदेवको पराभूत करके एक बार पुनः चन्देल-सामर्थ्यका प्रदर्शन किया, तब लगभग एक शताब्दीतक अविच्छिन्न रूपसे इस वंशका गौरवपूर्ण राज्यकाल चला। लेकिन इस ऐतिहासिक तथ्यकी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि यद्यपि कीर्तिवर्मन्‌ने चन्देल-साम्राज्यके उद्धारकी घोषणा की तथापि कर्णदेवके मर्मांतक आघातसे वस्तुतः उद्धार नहीं किया जा सका, क्योंकि अत्यंत सन्निकटके चेदियोंने शत्रु चन्देलोंके हृदय-देशपर आक्रमण किया था। कीर्तिवर्मन्के पश्चात् यह वंश चलता तो रहा बहुत समयतक किन्तु उत्तर भारतके कर्बुरित इतिहासमें उसे फिर वह अविकल सत्ता नहीं प्राप्त हो सकी।

इतना निर्विवाद है कि सार्वभौम शासकके पदसे चन्देलोंके पतनका प्रारम्भ कीर्तिवर्मन्के पूर्व नहीं रखा जा सकता। कनिंघमका यह कथन भ्रामक है कि "खजुराहोकी अवनतिका आरम्भ महमूद गजनीके संरक्षणमें मुसलमानोंके प्रथम आक्रमणसे होता है जब नन्दराय (वस्तुतः गंड) अपनी राजधानी खजुराहो छोड़नेके लिए बाध्य होता है और प्रसिद्ध किलेमें जाकर आश्रय लेता है।"[1] यह ऐसी विशुद्ध कल्पना है जिसका समर्थन इतिहासमें नहीं होता। जैसा कि पिछले अध्यायोंमें निराकरण करते हुए स्पष्ट किया गया है, यह गंड ही था जिसने उत्तर भारतको एक छत्रके भीतर लानेकी सफल चेष्टा की और महात्त्वाकांक्षी सुल्तानको प्रत्यावर्तनके लिए बाध्य किया।

कीर्तिवर्मन्के उत्तराधिकारियोंमें कई प्रसिद्ध योद्धा, विजेता और नीतिमान् भी हुए जिन्होंने साम्राज्यके द्रुत-पतनको रोका। फलतः एक शतीतक उनका राज्य और चल सका।

१७. सल्लक्षणवर्मन्

सल्लक्षणवर्मन् या हल्लक्षणवर्मन्‌ने, अपने पिता कीर्तिवर्मन्के उपरान्त राज्यकी बागडोर अपने हाथमें ले ली। उसका राज्यकाल सन् ११०० से १११० ई० तक अल्पकालीन ही रहा। इसका नाम मऊ, छतरपुर तथा मेजेके सं० २ उत्कीर्ण लेखमें नहीं पाया जाता। यह अज्ञात नाम हल्लक्षणवर्मन् होगा, जैसा कि जनरल कनिंघम और वी० ए० स्मिथने निर्धारित किया है। हल्लक्षणवर्मन् नाम

---

१. आ० स० रि०, भाग २, पृ० ४३८, कनिंघम।

उसके सिक्कोंपर पाया जाता है।[1] दुर्भाग्यवश इस नामका कोई भी अभिलेख अबतक नहीं प्राप्त हुआ है। झाँसी-दुर्गकी दीवारपर ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दीका एक खण्डित अभिलेख नागरी लिपिमें पाया जाता है। यह किसी सल्लक्षणसिंह-का है। ऐसा कोई प्रभावकारी कारण नहीं मिलता कि इस सल्लक्षणसिंहका तादात्म्य सल्लक्षणवर्मन्से किया जाय। इसे चन्देल-उत्कीर्ण मानना भी सम्भाव्य प्रतीत नहीं होता।[2] लेकिन उसके उत्तराधिकारियोंके साधनोंसे उसके राज्यकालका कुछ प्रासंगिक वर्णन प्राप्त हो जाता है। मदनवर्माका मऊ प्रस्तर-उत्कीर्ण उसकी विजयों और अधीनस्थ राज्योंका विवरण देता है—"सल्लक्षणवर्मा बराबर अपने शौर्यके भारसे शत्रुओंको विनिद्रित रखता था और अपने शत्रुओंकी सम्पत्ति अपहृत करके तथा उसे सुसंस्कृत परिवारोंमें वितरित करके उनका दैन्य दूर करता था।"[3] यह तो एक अस्पष्ट संस्तुति है। उसी लेखमें उसकी कुछ सुनिश्चित विजयोंका प्रकरण भी मिलता है। उसने गंगा-यमुनाके दोआब—अन्तर्वेदी विषय—में कुछ ऐसे राजाओंपर विजय की है—जो अभी अज्ञात ही हैं। सल्लक्षणवर्मन्के एक कर्मचारीके संबंधमें कहा गया है कि उसने अपनी अतुलित वीरतासे शत्रुओंको हराया और देशको निष्कंटक करके प्रजाको भयमुक्त किया। सल्लक्षणवर्मन् कन्नौजके राठौर शासक मदनपालका समकालीन था जिसने सन् १०८० से १११५ ई० तक शासन किया, किन्तु राठौर अभिलेखोंमें उसके आक्रमणकी कोई चर्चा नहीं है। ज्ञात होता है कि उपर्युक्त आक्रमण एक विजय-प्रयाणकी लहर मात्र थी।

भोजवर्मन्देवका अजयगढ़ अभिलेख प्रकट करता है कि सल्लक्षणके कृपाणने मालवों और चेदियोंका गौरव अपहृत कर लिया।[4] मालवाका समकालीन राजा सम्भवतः मारवर्मन् (सं० ११०४ ई०) था जो उदयादित्यका पौत्र था। उसका समकालीन चेदि-राजा लक्ष्मीकर्णका पुत्र यशकर्ण (सन् १०७३–११२८ई०) था। पुनःस्थापित चन्देलोंकी धाक बेतवाकी ओर बढ़ रही थी। अतः यह सम्भव है कि उसने कीर्तिगिरि-दुर्गसे परमारोंके राज्यपर सफलताके साथ आक्रमण किया हो। लेकिन इतना निर्विवाद है कि दोआबपर आक्रमणमें राष्ट्रकूट राजा गोपाल अथवा उसके किसी उत्तराधिकारीसे उसकी मुठभेड़ नहीं हुई थी। डा० रायका कथन इस संबंधमें भ्रामक है।[5] कारण यह है कि कान्यकुब्जके जिन चन्द्रवंशी शासकोंका वर्णन सल्लक्षणसिंहके झाँसीवाले खण्डित लेखमें किया गया है वे

---

१. क्वा० मे० ई०, पृ० ७९, सं० १४–१६, प्लेट ८। आ० स० रि०, भाग २, पृ० ४५८–५९

२. ई० आई०, भाग १, पृ० २१४–१७

३. ई० आई०, भाग १, पृ० १९८ और २०१, श्लो० ९–१० और ३८–३९

४. वही, पृ० ३१७, श्लो० ४।

५. डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ नौर्थ इण्डिया, भाग २, पृ० ७०२

राष्ट्रकूटोंके उत्तराधिकारी नहीं थे, ऐसा निष्कर्ष निकालनेका कोई आधार नहीं। ध्यान देनेकी बात तो यह है कि कान्यकुब्जका यह वंश और राष्ट्रकूट परस्पर परंपरागत शत्रु थे।[१]

सल्लक्षणवर्मा अपनी वीरता और विजयोंसे अधिक अपने राजोचित चरित्रके लिए विख्यात था। आलेख उसकी उदारताके संबंधमें बहुत कुछ बतलाते हैं—"वह ऐसे लोगोंमें प्रमुख था जो पवित्र विद्याओंसे आपूर्ण थे। वह उदात्त गुणवालोंका साथी था और नाना गुणोंका कोष था। उसमें सतत सदाचार निवास करता था।"[२] अपने कर्मचारियों और दरबारियोंके प्रति व्यवहारमें वह बड़ा संतुलित और सुखद था। उसी लेखमें कहा गया है कि जब कभी उसके सभासद् राजाके प्रति अपनी भक्ति प्रकट करने आते थे तब सुवर्ण और जवाहरातोंसे सुसज्जित राजा और सभासदोंके वस्त्राभरणमें रंच-मात्र भी भिन्नता नहीं दीखती थी।

उसके स्वर्णके सिक्के उसके पिता कर्णकी शैलीके ही हैं लेकिन ताम्र-सिक्कोंके पृष्ठभागपर आच्छादनके भीतर हनुमानका चित्र बना है, जहाँ अन्य चन्देल राजाओंके सिक्कोंपर चतुर्भुजी देवीका रूप बना मिलता है।

मदनवर्माके मऊ अभिलेखसे ज्ञात होता है कि ब्राह्मण अनंत, जो कीर्तिवर्मन्के समयमें अनेक दायित्वपूर्ण पदोंपर कार्य कर रहा था, इस समय भी कार्य करता रहा।[३] दूसरे कर्मचारियोंके नाम भी उसी लेखमें मिलते हैं। वत्स, गदाधर, वामन और प्रद्युम्न, जो चारों अनन्तके पुत्र थे, कड़ी परीक्षा और जाँचके पश्चात् दायित्ववाले पदोंपर नियुक्त किये गये थे। अंतर्वेदीकी सफलता सुयोग्य अमात्य गदाधरके द्वारा ही प्राप्त की गई। इसके अतिरिक्त कोई अन्य विवरण इन कर्मचारियोंके संबंधमें नहीं प्राप्त होता।

१८. जयवर्मन्देव

जयवर्मन्देवने, जो अपने पिता सल्लक्षणवर्मन्के पश्चात् राजगद्दीपर आरूढ़ हुआ, सन् १११० से ११२० ई० तक शासन किया। ब्रिटिश संग्रहालयमें इसका एक चाँदीका सिक्का है और जनरल कनिंघमने इसके सात ताम्रके सिक्के प्राप्त किये थे। यद्यपि इसके पिताकी भाँति कुछ सिक्कोंमें इसका नाम नहीं पाया जाता,[४] फिर भी उसके अस्तित्वका प्रमाण उपर्युक्त सिक्कों तथा कतिपय अभिलेखोंसे मिलता है। अजयगढ़में प्राप्त वीरवर्मन्का उत्कीर्ण लेख स्पष्ट बतलाता है कि

१. ई० आई०, भाग, १, पृ० २१६–१७
२. वही, पृ० २०३
३. वही, भाग १, पृ० २००–०१, श्लो० ३३–३७
४. आई० ए०, भाग १६, पृ० २०८

सल्लक्षणवर्माके पश्चात् वीर जयवर्मन्देवने साम्राज्यपर शासन किया।[1] मदनवर्मन्देवके कालके मऊ अभिलेखके आधारपर इन दो शासकोंका राज्यकाल निश्चित करना बड़ा सरल है। इससे यह ज्ञात होता है कि जब अनंतने, जिसने कि क्रमसे कीर्तिवर्मन् और सल्लक्षणवर्मन्के समयमें सेवा की थी, गंगा-यमुनाके संगमपर अपने नश्वर शरीरका विसर्जन किया, तब जयवर्मन्देव-द्वारा प्रतिहार-पदपर उसके पुत्र गदाधरकी नियुक्ति हुई।[2]

इस राजाका अबतक जो अभिलेख प्राप्त हुआ है, वह सं० ११७३ (सन् १११७ ई०) का खजुराहो प्रस्तरलेख है। जयवर्मन्ने शिव-मंदिरवाले धंगदेव-के बड़े उत्कीर्ण लेखको ठीक कराया था। यह देखकर आश्चर्य होता है कि इसमें धंग और जयवर्मन्के बीच शासन करनेवाले किसी भी राजाका नाम नहीं है। दो श्लोकों (सं० ६३–६४) में केवल यह मिलता है कि उक्त उत्कीर्ण जयवर्मन्देव-द्वारा स्पष्ट अक्षरोंमें पुनः लिखवाया गया। विद्वान् गौड़ जयमाल तथा जयवर्मन्के कायस्थने इसे पुनः लिखा।

वास्तवमें यह खेदका विषय है कि किन्हीं भी साधनोंसे जयवर्मन्देवके राजनीतिक कार्योंका कोई प्रमाण नहीं मिलता। लेकिन इतना तो व्यक्त ही है कि अपने उन पड़ोसियोंसे अपने साम्राज्यकी रक्षा करनेमे वह पूर्ण समर्थ था जो चन्देल-साम्राज्यपर चढ़ाई करनेके लिए सतत प्रयत्नशील थे।

१९. पृथ्वीवर्मन्

जयवर्मन्का उत्तराधिकारी उसका पितृव्य पृथ्वीवर्मन् हुआ। अजयगढ़के प्रस्तर अभिलेखसे इस बातकी पुष्टि होती है। मदनवर्मन्के औगसी पत्रसे प्रकट होता है कि पृथ्वीवर्मन् सदाकीर्तिवर्मन्के चरणकी पूजा (पादानुध्यात) करता था। यह बतलाता है कि पृथ्वीवर्मन् निश्चय कीर्तिवर्मन्का पुत्र था। मदनवर्माके मऊ लेखके एक श्लोकसे भी इस शंकाका निवारण होता है। इसमें वर्णन है कि पृथ्वीवर्मन् प्रख्यात राजा सल्लक्षणवर्माका सहोदर भाई था।[3] जनरल कनिंघमकी यह उक्ति अविश्वसनीय नहीं है कि जयवर्मन्ने कोई सामर्थ्यशाली उत्तराधिकारी नहीं छोड़ा[4]। वस्तुतः यह निर्विवाद है कि चचाने भतीजेके पश्चात् राजगद्दी प्राप्त की। इसकी पुष्टि कालंजरके उत्कीर्ण लेखसे भी होती है जो पूर्णतया सम्पादित नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि "जयवर्मन्ने राज्यके क्रिया-कलापसे क्षीण हो जानेपर शासन-सूत्र

१. ई० आई०, भाग १, पृ० ३२७, श्लो० ४

२. वही, पृ० २०६. श्लो० ४०

३. ई० आई०, भाग १, पृ० १९८ और २०३, श्लो० १२

४. आई० ए०, १९०८, पृ० १२०

......वर्माको सौंप दिया और अपने पापोंके परिष्कारके लिए देवसरिताका आश्रय लिया।"[1] यों उसने अपने साम्राज्यको अस्वाभाविक उत्तराधिकारी पृथ्वीवर्मन्के हाथोंमें सौंप दिया।

राजकीय प्रशस्तिकारका पूर्णतया मौन यह सूचित करता है कि अपने पूर्ववर्ती शासककी भाँति पृथ्वीवर्मन्के राज्यकालमें भी कोई महत्त्वकी राजनीतिक घटना नहीं हुई और न तो वह अपने राज्यमें कोई महत्त्वका परिवर्तन ही लाया। जो कुछ भी हो, इन दो शासकोंका राज्यकाल चन्देल इतिहासमें प्रतिभाशाली नहीं था। मदनवर्माके मऊ-अभिलेखसे हम लोग उसके प्रमुख अमात्यका नाम प्राप्त करते हैं। जिस गदाधरने, प्रतिहारोंके अंतिम राजाके आश्रयमें कार्य किया था, वह पृथ्वीवर्मन्-द्वारा 'मंत्रि-मुख्य' नियुक्त हुआ। वह विज्ञानमें दक्ष, सैन्यशिक्षामें प्रवीण तथा गुप्त मंत्रणामें अत्यंत विश्वसनीय था।

जनरल कनिंघमको पृथ्वीवर्माके कई ताम्रके सिक्के प्राप्त हुए हैं—ये ही इस राजाके इतिहासके एकमात्र साधन हैं। ये सिक्के उसी सामान्य शैलीके हैं, जिनके पृष्ठभागपर हनुमानका चित्र बना है। इस कालका एक भी रजत या स्वर्णका सिक्का नहीं मिला है।

२०. मदनवर्मन्देव

पृथ्वीवर्मन्का उत्तराधिकारी उसका यशस्वी पुत्र मदनवर्मन्देव था जो अपने वंशके गौरवशाली शासकोंमें ऊँचा स्थान रखता था। उसने अत्यंत प्रभावकारी ढंगसे सन् ११२९ से ११६५ ई० तक शासन किया। उसका राजत्वकाल चन्देल-वंशके इतिहासमें युगान्तरकारी सिद्ध हुआ। उसके दो पूर्ववर्ती शासकोंने इस साम्राज्यकी जीवन-ज्योतिको अपनी निष्क्रिय नीतिसे अधिक धूमिल कर दिया था। उसे इस कर्मशील राजाने अपने उत्तराधिकारी परमर्दिदेवके साथ एक बार फिर ऐसा ज्योतिष्मान् किया उसकी दीप्तिने समकालीन शासकोंकी आँखोंमें चकाचौंध भर दी। चन्देलोंकी विगत राज्यश्रीका एक बार फिर उद्धार हुआ।

उत्थानका तीसरा प्रयत्न

महाकवि चन्दके महाकाव्यमें जो प्रारम्भिक जनश्रुतियाँ दी गई हैं उनका कथन उत्कीर्ण लेखोंके आख्यानसे मिलता-जुलता है। उनसे यह बात पुष्ट होती है कि मदनवर्मा अत्यन्त सफल योद्धा था जिसने चन्देल साम्राज्यको काफी बढ़ाया। अभिलेखोंके अनुसार ज्ञात होता है कि वह चार प्रसिद्ध मध्यकालीन केन्द्रों—कालंजर, खजुराहो, अजयगढ़ और महोबाका स्वामी था जो परंपरागत रूपसे चन्देलोंके अंतर्गत थे। औगसी और मऊ अभिलेखोंसे यह प्रकट होता है कि उसका अधिकार बाँदा और झाँसी जिलों तथा पड़ोसी भूभागपर भी था। इसमें सन्देह नहीं

१. ज० ए० सो० बं०, १८४८, भाग १, पृ० ३१८–१९

कि चन्देल-साम्राज्यकी सीमा समय-समयपर घटती-बढ़ती रही है। मदनवर्माके समयमें उसका एक उप-शासक जबलपुर जिलांतर्गत बेलारीमें शासन करता था जिसके अधीन सागर व दमोह जिलोंके साथ पड़ोसके वे सब भाग थे जहाँ 'चन्देली राज' आज भी बहुत ही मधुर भावसे स्मरण किया जाता है।[1] लगभग ६३० ई०से सन् १२०३ ई० में परमालकी मृत्युतक अर्थात् लगभग दो सौ वर्षों-तक, चन्देल साम्राज्यमें तीन सुप्रसिद्ध राजधानियाँ—खजुराहो, कालंजर और महोबा बराबर सम्मिलित रहीं। इतिहासकार स्मिथकी राय है कि हमीरपुर जिलेके उत्तरी भागमें स्थित परगना सुमेरपुर कभी चन्देल राज्यमें था—इसका कोई चिह्न प्राप्त नहीं होता।[2] किन्तु ऐसा विश्वास करनेके लिए तब भी कोई प्रभावकारी कारण नहीं मिलता—जब यह प्रमाणित हो चुका है कि हमीरपुरका जिला सम्मिलित था तथा ग्वालियर भी करद रूपमें अधीन था। घने जंगल और एकमात्र आदि वनवासी पराक्रमी चन्देलों-द्वारा इस भागपर अधिकार करनेमें किसी भी प्रकार बाधक हुए होंगे, सम्भव नहीं प्रतीत होता।

मदनवर्माकी इस महती सफलताका कारण उसके प्रबल आक्रमण और प्रभावकारी विजय थी। संवत् ११९० के मदनवर्माके एक दान-पत्रमें उसकी विजयका अस्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है। किन्तु इससे चन्देलोंकी तत्कालीन बढ़ी हुई महत्ताका परिचय अवश्य मिलता है—"उस विजयमूर्तिने, अपने विक्रमसे समस्त शत्रु-समूह-का उच्छेदन कर दिया—सचमुच उसके शौर्यका भार दुर्वह था।" उसके मऊ अभिलेखने उसके विजयोंका यथावत् अंकन किया है। इस उत्कीर्णके श्लोक १५ से ज्ञात होता है कि मालवाका शासक, जो बहुतही उद्दण्ड था, तुरंत ही मदन-वर्मा द्वारा विनष्ट कर दिया गया।[3] औगसी लेख भेलसासे प्रकाशित हुआ था। इससे सिद्ध हो रहा है कि उस समयकी राज्य-सीमा बेतवा पार करके मालवाके परमार-साम्राज्यमें चली गई थी। इस उत्कीर्णमें आए हुये 'मालवेश' शब्दका तादात्म्य डा० रायने मालवाके तीन राजाओं—यशोवर्मन् (सन् ११३४ ई०), जयवर्मा और लक्ष्मीवर्मा (सन् ११४३ ई०)[4] मेंसे किसी एकसे किया है। इन तीनोंने मदनवर्मन्के समयमें राज्य किया था। गुजरातके पुरावृत्तकारोंने मदनवर्मन्देव और सिद्धराज जयसिंहके बीच एक युद्धकी चर्चा की है।

मालवासे मदनवर्मा अपने विजयपथपर गुजरातकी ओर बढ़ा। मदनवर्मादेवके कालंजर अभिलेखसे प्रकट होता है: 'क्षण मात्रमें उसने गुजरातके शासकको

१. ज० ए० सो० बं०, भाग १, १८८१, पृ० १८–२०

२. ई० ए०, १९०८, पृ० १३२

१. ई० आई०, भाग १, पृ० १९८

२. वही, भाग ३, परिशिष्ट १, बी , पृ० १५; डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ नौर्थ इण्डिया, भाग २, परमारके इतिहासका अध्याय।

ठीक उसी प्रकार पराजित किया—जिस प्रकार कृष्णने कंसको।"[१] इस बातकी पुष्टि कीर्ति-कौमुदीसे भी होती है, जिसमें यह वर्णित है कि धारसे सिद्धराज कालंजर गया था। कुमारपालचरितसे यह विवरण प्राप्त होता है कि झुकने और संधि करनेके लिए सिद्धराज बाध्य किया गया।[२] मदनवर्मा-द्वारा गुजरातके राजाके हराये जानेकी अनुश्रुति महाकवि चन्दबरदाईने भी अंकित की है।[३] गुजरातके शासक सिद्धराजसे गुर्जरेशका तादात्म्य करनेमें इतिहासकार प्रायः एकमत हैं।[४] इससे यह प्रकट होता है कि चन्देलोंकी सफलता इस दिशामें इतने भूभाग-तक हो गई थी कि उनका संबंध अनहिलपाटनके चालुक्योंसे हो गया था।

लेकिन जैसा कि पहले कहा गया है, गुजरातके पुरावृत्तकारोंने मदनवर्मा और सिद्धराज जयसिंहके बीच एक युद्धकी चर्चा की है। वे यह भी कहते हैं कि मदनवर्माने सिद्धराजको भेंट दी। इस संबंधमें वे एक मनोरंजक कहानी कहते हैं—"जब मदनवर्माकी राजधानीपर सिद्धराज चढ़ आया तब भी वह इतना अन्यमनस्क था कि उसने अपने क्रीड़ा-उद्यानको न छोड़ा। जब उसे सिद्धराजके आगमन-की सूचना मिली तब उसने सूचना लानेवालोंसे कहा कि 'वह सम्पत्ति झींटनेवाला आदमी अर्थ चाहता होगा; उसे कुछ दे दो।' राजाके इस स्वभावपर सिद्धराज चकित हो गया और उसने स्वयं क्रीड़ा-उद्यानमें जाकर मदनवर्मासे भेंट की। मदनवर्माने उसका वहाँ पुष्प-सौरभसे विनोद किया।[५] जो कुछ भी हो, यह कथा उत्कीर्ण लेखोंके द्वारा प्रस्तुत तथ्यको अन्यथा सिद्ध करनेमें असफल है।

मऊके पत्थर अभिलेखमें तो यहाँतक कहा गया है कि मदनवर्माका नाम सुनते ही "[illegible] युद्धमें पराजित चेदी-राजा अविलम्ब ही भाग जाता है।"[६] इससे स्पष्ट है कि चन्देलोंके इधर राज्य-विस्तारने तत्कालीन कलचुरी-राजाओंसे संघर्ष अनिवार्य कर दिया था। कैमूर श्रेणीके उत्तर, बुन्देलखण्डके सुदूरवर्ती भागमें, पनवार नामक स्थानपर मदनवर्माके भारी संख्यामें प्राप्त सिक्के भी इस तथ्यकी पुष्टि ही करते हैं। मदनवर्माका समकालीन कौन कलचुरी शासक था, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। जनरल कनिंघमका मत है कि कलचुरियोंमें समकालीन शासक परमालीदेव और विजल था, जिसने 'कालंजरपुर-महाधिपति' का विरुद विरुद धारण किया था। किन्तु यह मत ठहर नहीं पाता। कलचुरी-शासक, जो मदनवर्मा-द्वारा पराजित किया

---

१. ज० ए० सो० बं०, १८४८, भाग १८, १, पृ. ३१८, पंक्ति १४
२. बं० ग०, भाग १, १, पृ० १७८–७९
३. ई० ऐ०, १९०८, पृ० १४४
४. बं० ग०, भाग १, १, पृ० १७८
५. हिस्ट्री औफ़ मेडिवल हिन्दू इण्डिया; भाग ३, पृ० १८२
६. आ० स० ई०, भाग २, पृ० ४५४

गया था, वह वस्तुतः यशकर्ण (सन् १०७३ से ११२५ ई०) का पुत्र गयाकर्ण (११५१ ई०) था।

मदनवर्माकी गहड़वाल राजासे मैत्री चल रही थी। यह मऊ अभिलेखसे स्पष्ट है कि 'काशीका राजा सर्वदा उससे मैत्री-व्यवहार बरतता था'।[1] अभिलेखकी पंक्तियोंमें जिस काशिराजकी ओर संकेत किया गया है वह निश्चित रूपसे शक्तिशाली गोविन्दचन्द्र (सन् १११४ से ११६८ ई०) था। उस अभिलेखसे ज्ञात होता है कि कुछ और राजे भी वर्तमान थे जो या तो उसके मित्र थे या उसकी अधीनतामें थे। 'जो राजे उसके प्रति अपनी भक्तिमें दृढ़ थे, वे पूरी तौरसे आनन्दमें विहर रहे थे।'

अनुश्रुतियोंके अतिरिक्त और कोई ऐसा साधन उपलब्ध नहीं है जिससे मदनवर्माके साम्राज्यकी दक्षिणी सीमा निर्धारित की जा सके। अनुश्रुतियोंसे उसके साम्राज्यकी दक्षिणी सीमाका विस्तार विंध्य मेखलाकी भनरार श्रेणीतक पहुँचती है।[2] इससे सामान्य रूपसे यही प्रकट हो रहा है कि इस शक्तिशाली राजाके राज्यका स्वरूप बहुत कुछ एक त्रिभुज-सा था जिसका आधार विंध्यपर्वत-श्रेणीकी भनरार और कैमूर श्रेणियाँ बनाती थीं और दोनों भुजाएँ क्रमशः बेतवा और यमुना नदियाँ थीं।

उसके अनेक विजयोंसे ज्ञात होता है कि वह अदम्य योद्धा और वीर था। मऊके अभिलेखसे उसके युद्धोंका ऐसा चित्रमय वर्णन प्राप्त होता है जो उसकी लड़ाइयोंका विकट रूप भली भाँति प्रकट करता है—"उसके शत्रुओंके हाथियोंके मस्तकसे जो चन्द्र-किरणके समान ज्योतिष्मान् मोती निकलते थे—वे ही मानो बीजके रूपमें उस युद्धक्षेत्र-रूपी खेतमें बार-बार बोए जाते थे, जो घोड़ोंकी वेगपूर्ण टापोंके निःक्षेपसे जोत दिया गया था। शत्रुओंके मुखसे अविराम बहती हुई रुधिर-धारासे मानो उसकी सिंचाई की गई थी। इसीमेंसे उसकी ख्यातिका वृक्ष उत्पन्न हुआ।"[3]

मदनवर्मा युद्धस्थलमें अपने शत्रुओंके विरुद्ध जितना ही नृशंस था, अपनी प्रजाके प्रति उतना ही आर्द्र और दयालु था। उसके द्वारा दिये गये अगणित दानपत्र ही उसकी उदारताके पर्याप्त प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त 'पूर्ण विवेकके कारण उसकी बुद्धि अतिशय विमल थी।' उसके कर्मचारियों एवं समकालीन शासकों-द्वारा भी उसके शौर्य और युद्ध-कौशलकी प्रशंसा की गई है।

अभिलेखोंसे उसके शासनकालके बहुत कम कर्मचारियोंका परिचय प्राप्त होता है। उपर्युक्त मऊके उत्कीर्ण लेखसे ज्ञात होता है कि उसके मंत्रियोंमें एकका नाम गदाधर था (श्लो० ४६–४८), जिसने देद्दू गाँवके सन्निकट एक विष्णु-मंदिर और

१. ए० ई०, १, पृ० १९८, श्लो० १५
२. ई० ए०, १९०८, पृ० १४४
३. ए० ई०, भाग १, पृ० २०३

एक तालाब बनवाया था। कालंजरके स्तम्भ-लेखसे प्रकट होता है कि उसके उच्च कर्मचारियोंमेंसे एक संग्रामसिंह था। दरबारके एक दूसरे महत्त्वपूर्ण पदपर पद्मावती थी।[१] परमर्दिके बघारी पत्थर अभिलेखके अनुसार वशिष्ठ गोत्रोत्पन्न एक व्यक्ति लाहव था जो मदनवर्मा-द्वारा पूरे मंत्रिमंडलके ऊपर प्रतिष्ठित किया गया था।[२] मदनवर्माके मऊ-लेखमें कहा गया है कि "गदाधरने छः साधनोंके प्रयोगसे क्रमशः राजाओंको आश्रित बनाकर अपने सम्राट्की पृथ्वीपर सार्वभौम सत्ता प्रतिष्ठित की—जो एकच्छत्र थी।"[३]

जनरल कनिंघम और स्मिथ-द्वारा उसके युगके अनेक स्वर्ण-सिक्के प्राप्त हुए हैं। दो ताम्र-सिक्के भी इसी कालके प्राप्त हुए हैं और ४५ चाँदीके सिक्के भी मिले हैं जिनमेंसे ४० मदनवर्माके हैं। ये सब सिक्के उन बड़े और छोटे स्वर्ण सिक्कोंकी ठीक अनुकृति हैं जिनके पृष्ठपर देवीकी बैठी आकृति है।[४]

मदनवर्मा अत्यन्त सुयोग्य और कलानुरागी निर्माता भी था। उसने महोबामें एक सरोवर और उसके तटपर अनेक मंदिर भी बनवाये थे। यह सरोवर इस समय मदनसागर नामसे विख्यात है। वास्तवमें बहुतसे चन्देल शासकोंने प्रचुर मात्रामें विशाल जलाशय बनवाये जिनके संबंधमें आगेके अध्यायमें वर्णन किया जायगा।

२१. परमर्दिदेव

परमर्दि या परमाल अथवा परिमालदेवके राज्यारोहणके संबंधमें विद्वानोंमें बड़ा विवाद प्रचलित है। चन्देलोंके दानपत्रोंसे मदनवर्माके पश्चात् सामान्यतया परमर्दिका गद्दीपर आना सूचित है। अभिलेखोंमें मदनवर्माके बाद परमर्दिका नाम इस कथन "अथाभवत्" (तब हुआ) के साथ रक्खा गया है। इन सब प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि परमर्दि ही मदनवर्माका उत्तराधिकारी था; किन्तु बघारी अभिलेखकी भूमिकामें मदनवर्मा और परमर्दिके बीच यशोवर्मनका नाम रक्खा हुआ मिलता है। इससे अधिक भी उस उत्कीर्ण लेखसे ज्ञात होता है कि यशोवर्मन् वास्तवमें मदनवर्माका पुत्र और परमर्दिदेवका पिता था। इस विवरणसे कुछ इतिहासकारोंने यह निष्कर्ष निकाला कि इन दोनों महत्त्वपूर्ण शासकोंके बीच यशोवर्मन्ने कुछ समयतक अवश्य ही शासन किया। किन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि उस शिलालेखमें उसके राज्यशासनके संबंधमें कोई संकेत नहीं मिलता। उसमें कहा गया है कि "जैसे चन्द्रमा, महेश्वरका चूड़ामणि, समुद्रसे निकला

१. आ० स० रि०, भाग २१, पृ० ३४, पत्र १०, अ
२. ए० ई०, भाग १, पृ० २१०, श्लो० २०
३. वही, पृ० २०६, श्लो० ४२
४. ब० ए० सो० ज०, १९१४, भाग १०, पृ० १९९-२००

वैसे ही उससे यशोवर्मन्का उदय हुआ, जो प्रजाका रंजन करनेवाला महेश्वर-शिरोमणि था।" "जहाँ मल्लिका और राकेशकी मनहरण ज्योत्स्नाकी भाँति प्रकीर्ण होनेवाले उसके यशसे लोगोंके केश धवलित हो चले हैं और यह अभूतपूर्व भावना व्याप्त होने लगी है कि वृद्धावस्था आनेके पूर्व ही लोगोंके बाल पकने लगे।"[1]

यदि उपर्युक्त कथनकी परीक्षा की जाय तो ज्ञात होगा कि उसमें कोई ऐसी असाधारण बात नहीं है जो इस यशोवर्मन्को चन्देल वंशके शासकोंमें सम्मिलित कर सके, जैसा कि डा० रायने निष्कर्ष निकाला है।[2] यह एक महत्त्वकी बात है कि मंत्रियोंके विवरणमें, उसी लेखमें, यशोवर्मन्का नाम नहीं आया है। अतः इन प्रमाणोंके औचित्यकी बिना उपेक्षा किये, यह सरलतासे कहा जा सकता है कि उस बीच यशोवर्मन् नामक कोई शासक नहीं था। जितने दानपत्र हैं सभी यशोवर्मन्की ओर बिना कोई भी संकेत किये परमर्दिको ही मदनवर्माका उत्तराधिकारी कहते हैं—'तत्पादानुध्यात'के कथनके साथ।

इन परस्पर-विरोधी प्रमाणोंके बीच यही सम्भव प्रतीत हो रहा है कि मदनवर्माके ज्येष्ठ पुत्र प्रतापवर्मन्की मृत्युके पश्चात् उसका दूसरा लड़का यशोवर्मन् ही उत्तराधिकारी राजकुमार घोषित हुआ। राजकुमारके ही रूपमें वह लोक-प्रिय और विख्यात हो गया। यह भी सम्भव है कि वह अपने पिता-द्वारा बहुतसे नये जीते गये राज्योंमेंसे किसी प्रांतका उप-शासक बनाया गया हो। भावी उत्तराधिकारी होनेके कारण वह अवश्य ही अपने पिताकी विजय-योजनाओंमें मदद देता रहा होगा। यह उसकी ख्याति, प्रतिष्ठाके लिए पर्याप्त था। किन्तु सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यसे मदनवर्मा दीर्घकालतक जीवित रहा और शासन करता रहा और इसी बीच भावी उत्तराधिकारी यशोवर्मन्की भी मृत्यु हो गई—वास्तविक उत्तराधिकार भोगनेके पूर्व ही—जिसके इतिहासमें अनेक उदाहरण प्राप्त हुए हैं। ऐसी अवस्थामें यशोवर्मन्का पुत्र और मदनवर्माका पौत्र परमार्दिदेव ही मदनवर्माके पश्चात् गद्दीपर आया। यशोवर्मन्की अल्पायु और असमयमें मृत्युका आभास ऊपरके उद्धृत दो श्लोकोंमेंसे दूसरेसे प्राप्त होता है। यही कारण है कि यशोवर्मन्का नाम राजकीय दानपत्रोंमें नहीं रक्खा गया है। डा० हे० च० रायके इस कथनमें विश्वास करनका कोई आधार नहीं दीखता कि परमर्दिदेवका राज्यारोहण शान्तिमय नहीं था और उसने अपने पिता यशोवर्मन्को धक्का देकर गद्दी हाथमें कर ली।[3]

परमर्दिदेवने अपने पितामह मदनवर्माका राज्य सन् ११६५ में ग्रहण किया। उसका शासनकाल जितना ही लम्बा हुआ उतना ही उत्तार-चढ़ावसे भरा हुआ।

१. ए० ई०, भाग १, पृ० २१२, श्लो० ८–९
२. डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ नौर्थ इण्डिया, भाग २, पृ० ७१२–७१३
३. डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ नौर्थ इण्डिया, भाग २, पृ० ७१३

उसका और बनाफर-वंशके उसके दो सरदार आल्हा और ऊदलके नाम बुन्देलखंडमें घर-घरमें घरेलू नामके रूपमें लिये जाते हैं। प्राप्त प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि परमर्दिका राज्य उस पूरे भूभागपर कायम रहा जिसपर उसके पितामहने राज्य किया था। यह वास्तवमें खेदका विषय है कि चन्देल अभिलेख उसके राज्य-कालकी किसी भी राजनीतिक घटनाका उल्लेख नहीं करते। परन्तु दूसरी ओर राजा परमर्दिदेव ही ऐसा चन्देल शासक है जिसकी स्मृतिकी लोकप्रियता अक्षुण्ण रूपसे आज भी विराजमान है। यदि मुसलमान इतिहासकारोंने उसके इतिहासकी चर्चा न की होती तो आज उसका न तो ऐतिहासिक वृत्त ही प्राप्त होता और न उसके संबंधमें ऐतिहासिक न्याय ही हो पाता।

चौहानोंसे संघर्ष

प्रसिद्ध कवि चन्द-बरदाईके पृथ्वीराजरासोमें जिस प्रकारका वर्णन मिलता है उससे ज्ञात होता है कि परमर्दिदेव और विख्यात चौहान शासक पृथ्वीराज बराबर एक दूसरेके शत्रु बने रहे।[1] चन्देलोंका अपने पड़ोसी कलचुरियोंके साथ दीर्घ कालतक संघर्ष चलता रहा और अंतमें चन्देल उन्हें पराभूत करनेमें सफल हुए। इसी संघर्ष-कालमें चौहानोंने अवसर प्राप्त करके उत्तरमें अपना सुदृढ़ राज्य स्थापित कर लिया। जब उनका बढ़ाव क्रमशः दक्षिण भारतकी ओर आरम्भ हुआ तब चन्देलोंसे संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया। महोबा-खण्डमें इस इतिवृत्तका विस्तृत वर्णन है।[2] चाहमानोंके साथ पहला युद्ध लगभग सन् ११८२–८२ के अक्तूबरमें आरम्भ हुआ। फौज नदीके तटपर सिरसागढ़में युद्धस्थल बना।[3] परमर्दिकी सहायताके लिये प्रसिद्ध वीर आल्हा और ऊदल तथा गहड़वाल शासक जयचन्द (जयचन्द्र) जुटे थे परन्तु अनेक स्थलोंपर पृथ्वीराजके द्वारा उसे पराजित होना पड़ा। कवि चन्दने युद्धका जो वर्णन किया है, वह जितना ही रौद्र है उतना ही बीभत्स। कुछ विद्वानोंकी धारणा है कि इस युद्धका क्षेत्र उरईसे १४ मीलकी दूरीपर बैरागढ़में था। यह स्थान बेतवाके तटपर सिरसागढ़ और राठके बीच है।

चौहानोंने वर्तमान हमीरपुर जिलेके दक्षिण महोबा-तक पराजित चन्देलोंकी सेनाका पीछा किया। वहीं चन्देलोंने एक बार अंतिम मोर्चा बनाया। किन्तु उसमें कोई तत्त्व नहीं था। पृथ्वीराजका कुछ समयके लिए महोबापर आधिपत्य स्थापित हो गया। उसने कालंजरको भी लूटा और दिल्लीके लिए प्रस्थान करनेसे पूर्व महोबाको पज्जुनराजके सुपुर्द कर दिया। रासोका वर्तमान रूप जैसा है उसमें बहुत ही अनैतिहासिक बातें सम्मिलित हो गई हैं किन्तु जेजाकभुक्तिपर

१. सम्पादित—मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या और श्यामसुन्दरदास, बनारस, १९१३

२. वही, पृ० २५०७–२६१५

३. आ० स० रि०, भाग २, पृ० ४५८। ई० ए०, १९०८, पृ० १४५ (४०)

चौहानोंकी इस विजयकी तिथि, जो मार्च सन् ११८२से मार्च सन् ११८३ के भीतर थी, मदनपुरमें पृथ्वीराजके आदेशसे स्थापित एक छोटेसे उत्कीर्ण लेखसे भी पुष्ट होती है। लेखमें साफ-साफ चन्देल साम्राज्यकी बरबादीकी विस्तृत चर्चा है। जयचन्दने चन्देलोंकी सहायता की होगी—यह भी संदिग्ध नहीं है। क्योंकि मऊके अभिलेखसे ज्ञात होता है कि गहड़वालों और परमर्दिके पितामहमें बड़ी मित्रता थी। इसके अतिरिक्त पृथ्वीराज और जयचन्दमें निरंतर वैमनस्य रहा इसके भी प्रमाण कम नहीं मिले है।

चन्देल साम्राज्यके पश्चिमी भागपर चौहानोंका कबतक अधिकार रहा यह प्रकट करनेके लिए कोई निश्चित साधन नहीं प्राप्त होते। पृथ्वीराज-रासोके अनुसार पृथ्वीराजने अपने एक सेनापति पज्जुनको महोबामें शासक नियुक्त कर दिया था। कन्नौजके जयचन्दके एक कर्मचारी नृसिंहकी सहायतासे परमालके पुत्र समरजीतने उसे महोबासे खदेड़ दिया। यह अनुश्रुति परमर्दिके उस विरुदसे और पुष्ट होती है जिसमें उसे दशार्णाधिपति कहा गया है। यह केवल गर्वोक्ति नहीं है। उसने अपने साम्राज्यके कुछ ठोस भागपर सन् १२०१ के कुछ पूर्व ही अधिकार कर लिया होगा।[1] महाकवि चन्दने परमर्दिकी पराजयको इतना भयंकर दिखलाया है कि उसके अनुसार केवल दो सौ योद्धा ही युद्धसे उबर सके थे। इस प्रकारका वर्णन निःसन्देह अतिशयोक्तिपूर्ण है क्योंकि चन्देल शासकोंके पास कुतुबुद्दीन ऐबककी सेनाका सामना करनेके लिए तब भी पर्याप्त सेना थी।

लोकविश्रुत जनश्रुतियोंके अनुसार परमाल अत्यंत कायरके रूपमें चित्रित है और पृथ्वीराजके विरुद्ध वीरोचित युद्धका समस्त श्रेय दो सेनापतियों—आल्हा और ऊदल—को दिया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह संतुलित कथन नहीं है। यह स्पष्ट है कि शक्तिशाली सेना और अद्वितीय सेनापति—सबका श्रेय इतिहासमें राजाओंको ही प्राप्त होता है। लेकिन यदि हम उनके व्यक्तिगत विक्रमके लिए छूट भी दे दें तो अभिलेखोंसे इतना सिद्ध हो ही जाता है कि परमर्दि बहादुर, लड़ाका और योग्य विजेता था जिसने थोड़े ही वर्षोंके भीतर न केवल अपनी विनष्ट शक्तिको पुनः संघटित कर लिया बल्कि कितनी नई विजय और चढ़ाइयाँ भी कीं। परमर्दिदेवके अभिलेखोंके कुछ महत्त्वपूर्ण अंश इन जनश्रुतियोंके कथनको गलत सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त हैं—

"जो सम्राटोंमें सबसे बड़ा था; उसने राजाओंकी देदीप्यमान ख्यातिको मधु और दधिकी भाँति पी लिया। उसके शत्रुओंने अपने यहाँ, बिना किसी भी प्रकारके विरोधके, ऐसी राज्य-व्यवस्था कर ली कि वे उसके लिए भूमिकर संग्रह करने लगे।"

"कुछ तो बहुत सरलतासे अपने ही राजमहलोंमें बन्दी बना दिये गए और बादमें मुक्त कर दिये गए। क्षणमात्रमें उसने कितनोंको निराश्रित करके द्वार-द्वार

---

१. आ० स० रि०, भाग २१, पृ० ३७

घूमनेके लिए बाध्य कर दिया। कितनोंके लिए तो वह पिता-तुल्य था। उस विशाल भुजाओंवाले राजाको सब अपना घातक शत्रु समझकर भयभीत रहते थे।"

उसने जिस क्रमसे अपना साम्राज्य संघटित किया वह चलतू संघटन नहीं वरन् ठोस और शक्तिशाली संघटन था। बारहवीं सदीके अंततक जब वह अपने वंशकी व्यापक कीर्तिको फिर प्रतिष्ठित करनेमें सफल हुआ तब उसने इसका उत्सव मनाया। उपर्युक्त अभिलेख अंकित करता है—"परमर्दिदेवने अपने शत्रुओंको जीत लेनेके बाद, स्वयं नैसर्गिक आस्थाके साथ पुरारिकी प्रतिकृतिकी रचना की।"

चन्देलोंका पराजय : एक राष्ट्रीय संकट

भारतवर्षके इतिहासमें चन्देलों एवं चौहानोंके युद्धने एक राष्ट्रीय संकट सामने ला दिया क्योंकि देशकी तत्कालीन अवस्थामें वे ही दोनों सर्वशक्तिशाली राज्य थे। वह अत्यंत दुर्दिनका समय था जब भारतवर्षकी सत्ताएँ तुर्कोंके दुर्दान्त आक्रमणोंके समक्ष धराशायी होती जा रही थीं। उस समय आवश्यकता तो इस बात-की थी कि चौहान शासक, चन्देलोंपर आक्रमण करनेके बदले चन्देलोंके साथ, जो तब भी देशकी सबसे दृढ़ शक्ति थे—मिलकर तुर्कोंको रोकनेके लिए संघ बनाता। इसमें थोड़ा भी सन्देह नहीं कि यदि यह संघ बन गया होता और उसने परस्पर पूरकके रूपमें सहयोगसे काम किया होता तो भारतवर्षके इतिहासका रूप आज दूसरा ही हुआ होता। वास्तवमें युद्धमें एक दूसरेकी शक्तिको कुचलकर उन दोनोंने विदेशी आक्रमणको खुला आमंत्रण दिया। चि० वि० वैद्यका यह कथन सर्वथा उपयुक्त है कि "हम लोगोंका विश्वास है कि परमर्दिकी शक्ति पृथ्वीराजके आक्रमणसे बहुत क्षतविक्षत हो गई। इसे एक ऐसी भूल समझनी चाहिए जो राष्ट्रीय विनाशका कारण बनी क्योंकि चन्देल तत्कालीन भारतके अग्रणी क्षत्रिय शासकोंमें एक थे।"[१]

भारतवर्षमें जब कभी भी सुसंघटित केन्द्रीय सत्ताका विलोप होता था, स्थानीय अनेक राजे परस्पर आंतरिक युद्धमें बुरी तरह संलग्न हो जाते थे और मनमानी करने लगते थे—प्रायः यह अवस्था ऐसे हर मौकेपर पाई जाती है। इन परिणाम-स्वरूप आई हुई आपत्तियोंको वे आवश्यक समझकर झेल लेते थे। किन्तु इस बार तो देश अभूतपूर्व नृशंस और क्रूर यातनाओंके पल्ले पड़ा। अब मुसलमानोंके उत्तर-पश्चिमी बढ़ावकी ओर दृष्टि डालनी चाहिए ताकि चन्देलों और मध्यकालीन अन्य राजपूत राजाओंकी अंतिम पराजय और उनके अपदस्थ होनेके मूल कारण समझे जा सकें।

पतनकी ओर

गोरीके हाथों चौहानोंकी पराजयने मानो भारतीय सुरक्षाकी रीढ़ ही तोड़ दी। अब देशकी रक्षाका भार केवल चन्देलोंपर आ टिका था। मुहम्मद गोरीने उत्तर-

१. हिस्ट्री औफ़ मेडिवल हिन्दू इण्डिया, भाग ३, पृ० १८३।

पश्चिममें जीते हुए साम्राज्यको संघटित करने और शेष विजयको पूर्ण करनेके लिए अपने योग्य और कुशल सेनापति, गुलाम कुतुबुद्दीनको यहाँ रख छोड़ा। सन् ११९३ में कन्नौज, दिल्ली और हाँसीने व्यक्तिगत मुक़ाबलोंके बाद अंतिम रूपसे तुर्कोंके सामने अपने हथियार डाल दिये। तुर्कोंने बनारसतक एक हलका-सा धावा किया जो वास्तवमें लूटपाट और बरबादी-तक ही सीमित रहा। किन्तु मध्यभारतपर आक्रमणके लिए कुतुबुद्दीन अनवरत तैयारीमें लगा रहा। पूर्ण शक्ति-संचय करके आक्रमण-योग्य होनेमें उसे लगभग दस वर्ष लग गये। हसन निजामीके ताजुल-मा-असहर (१८०५-१७ ई०)से कुतुबुद्दीन ऐबक और कालंजरके रायके संघर्षका निम्नलिखित विवरण प्राप्त होता है—

"हि० ५९९ (सन् १२०२ ई०) में कुतुबुद्दीनने कालंजरपर आक्रमण किया। उस अभियानमें उसके साथ साहिब-किरान शम्सुद्दीन अल्तमश भी था। कालंजरका राजा, अभिशप्त परमार, लड़ाईके मैदानमें सामना करनेके पश्चात् भग्नाश किलेमें भाग गया। बादमें आत्मसमर्पण करके उसने गलेमें पराधीनताका कंठभूषण पहन लिया किन्तु राजभक्तिका वचन देनेके पश्चात् उसे उसी रूपमें ग्रहण कर लिया गया जिस रूपमें महमूद सुबुक्तगीन-द्वारा उसके पूर्वज ग्रहण किए गए थे। उसने कर और हाथी देनेकी शर्तें स्वीकार की किन्तु इन शर्तोंमेंसे किसी एकका भी पालन करनेके पूर्व ही उसकी स्वाभाविक मृत्यु हो गई। उसका दीवान, जिसका नाम अजदेव था, उतनी सरलतासे आत्मसमर्पण करनेके लिए तैयार नहीं था जितनी सरलतासे उसके मालिकने कर दिया था। अपने शत्रुओंको वह परेशान करता रहा। जब किलेके भीतर सब जलाशय (साधनोंके काट देनेसे) सुखा दिये गये तब अंतमें वह आत्मसमर्पणके लिए बाध्य किया जा सका। बीसवीं राजब, सोमवारको दुर्ग-रक्षक सेना अत्यंत छिन्न-भिन्न और दुर्बल रूपमें बाहर आई। उसे अपने स्थानको खाली करके छोड़ देना पड़ा। 'कालंजर दुर्ग, जो विश्वभरमें सिकंदरकी दीवारकी भाँति मजबूतीके लिये प्रसिद्ध था, ले लिया गया। मंदिर मसजिद बना दिये गये। सौजन्यके स्थान, अक्षमालके जाप करनेवालोंके स्वर और प्रार्थनाके लिए आमंत्रित करनेवालोंकी वाणी सबका अंत हो गया। मूर्तिपूजाका नाम ही मिटा दिया गया। पचास हजार आदमी गुलाम बनाये गये। वह भाग हिन्दू-विहीन होगया। हाथी, पशु और अगणित शास्त्रास्त्र भी विजेताके हाथ लगे। 'विजयकी बागडोर इसके बाद महोबाकी ओर फेरी गई और कालंजरका शासन हाज़ाब्बारुद्दीन हसनके जिम्मे किया गया।"[1]

फ़रिश्ताके अनुसार परमर्दिकी स्वाभाविक मृत्यु नहीं हुई—"जब राजा (शत्रु के) झोंके न सह सका तो उसने दिल्लीके सुलतानके सामने आत्मसमर्पण कर दिया। उसके मंत्रीने, जो शर्तोंको ठुकराकर प्रतिरोध ही करना चाहता था, भेंटोंकी तैयारीके समय राजाकी हत्या करा दी।" हसन निजामीने भी कुछ इसी प्रकारका

१. इलियट, भाग २, पृ० २३१-३२१।

विवरण उपस्थित किया है। केवल मृत्युके ढंगमें अंतर है।[1] किन्तु ये दोनों इतिहासकार बादके हैं और उन्होंने मिथ्या कल्पना कर ली है। परमर्दिका समकालीन इतिहासकार ताजुल-मा-असिर था। उसने स्पष्ट कहा है कि वह सहज मृत्युसे मरा। पृथ्वीराज रासोके अनुसार जब परमाल पृथ्वीराजसे पराजित हो गया तब गया चला गया और वहीं मर गया।[2] किन्तु यह कथा भी गढ़ी हुई और अत्यंत अतिशयोक्तिपूर्ण ज्ञात होती है।

ऊपरके मुसलमान इतिहासकारोंके अनुसार, कालंजरके पतनके पश्चात् कुतबुद्दीन ऐबक महोबा पहुँचा और उसे दबाकर उसने अपने राज्यमें मिला लिया। उस प्रांतके लिए एक शासक नियुक्त करके वह दिल्ली वापस चला गया। इस प्रकार जिस चन्देल साम्राज्यका महत्त्वपूर्ण अंतिम परमर्दि शासक था, उसके सुनहले दिन समाप्त हो गये। उसके बाद चन्देलोंका राजनीतिक महत्त्व उत्तर भारतके प्रांगणमें एक प्रकारसे समाप्त हो जाता है यद्यपि अपने मूल साम्राज्यके कुछ भागपर उनका अधिकार सोलहवीं सदीतक बना रहा।

अंतमें यह अत्यंत आवश्यक है कि ऐसे शासकके व्यक्तित्व और चरित्रका मूल्यांकन किया जाय जिसकी पराजय पूरे देशके लिए घातक सिद्ध हुई और मध्य-भारत तथा पूर्वी-दक्षिणी भारतमें मुसलमानोंके लिए आक्रमणका मार्ग मिल गया। अभिलेखों, दानपत्रों और अन्य साधनोंसे ज्ञात होता है कि अगणित ब्राह्मणोंको अनेक गाँव दान देनेवाला वह केवल बड़ा दानी ही नहीं था,[3] बल्कि वह विद्या और विद्वानोंका संरक्षक और आश्रयदाता भी था। वह स्वयं भी बड़ा अच्छा कवि था और संस्कृतमें कविता करता था। उसने शिवकी स्तुति बनाई थी। अभिलेखोंमें उसकी जो प्रशंसा की गई है वह ध्यान देने लायक है—"उसके साम्राज्यमें कहीं भी कलह और संघर्षका नाम नहीं था क्योंकि उसने सरस्वती और लक्ष्मीमें भी मिलन करा दिया था।"[3] लेखोंमें आगे कहा गया है, "राजा परमर्दिदेव किससे नहीं पूजित हुआ? असमान वीरोंवाली पृथ्वीपर वह देवताके समान था और वात्सल्य-के रहस्यमें वह नेता था।"[4]

वह जितना शौर्यमें उतना ही सौंदर्यमें आगे बढ़ा हुआ था। उसी अभिलेखसे

१. ब्रिग्सका अनुवाद, भाग १, पृ० १९७
२. ज० औफ़ ए० सो० बंगाल, १८८१, भाग १, पृ० २९
३. ए० ई०, भाग ४, पृ० १७०—

परस्परविरोधस्य तस्य राज्य-कथैव का।
संगमं श्रीसरस्वत्योरपि येन प्रवर्तितम्॥

४. वही, पृ० २०९

उद्बभूवुरधिकं मणिश्यामल-कोमल-तृणानि सर्वशः।

५. आ० स० रि०, भाग २१, पृ० ३७

ज्ञात होता है, "सैकड़ों कामिनियाँ जो उसकी शैयापर पहुँचती थीं और सैकड़ों शत्रु जो उसके चरणोंपर गिरते थे, उसके द्वारा अस्वीकार कर दिये जाते थे।"

इस शासककी लोकप्रियतापर किसी भी प्रकारकी आशंका करना उचित नहीं, जो आज भी इस देशके उस भागमें अगणित लोगोंकी स्मृतिमें वर्तमान है। उत्कीर्ण लेखोंमें उसकी जो प्रशस्तियाँ पाई जाती हैं, उनमें बड़ी सावधानीसे उसका यशोगान किया गया है। उपर्युक्त लेखसे और प्रकट होता है, "जिन्होंने पूर्ववर्ती शासकोंकी चतुर्दिक् फैली हुई कीर्तिको स्वयं देखा है वे सम्राट् परमर्दिके यशरूपी भास्करके उदय होते हुए ऐश्वर्यको देखें, जो दाड़िमकी भाँति बीजोंके विस्तारके कारण फूटकर विश्वमें फैल रहा है।" परमर्दि अत्यंत उदार, दाता और धार्मिक व्यक्ति था, ऐसा ब्राह्मणों और अन्योंको दिये हुए उसके दानपत्रोंसे ज्ञात होता है। 'इस राजाके, दानोंको देखकर जो याचककी इच्छासे भी अधिक देता है, विष्णु-चिंतामणिका भी हृदय रो पड़ा।'

सम्राट् परमर्दिके कर्मचारियोंने भी तत्कालीन इतिहासकी रचनामें सराहनीय योग दिया। उसके राज्यकालमें वशिष्ठ गोत्रका ब्राह्मण सल्लक्षण प्रधान अमात्य था। उसीके पिता लाहदने मदनवर्माके राज्यकालमें प्रधानामात्य पदसे काम किया था। बटेश्वरके पत्थर अभिलेखसे पता चलता है कि सल्लक्षणके द्वारा परमर्दिदेव पृथ्वीपति बना।"[1] सल्लक्षणकी मृत्युके पश्चात् उसका पुत्र पुरुषोत्तम जो अभी अल्पायु ही था मंत्रियोंमें मुख्य बनाया गया—सचिवेषु मुख्यभावम्। गदाधर परमर्दिका वैदेशिक मंत्री—संधान-विग्रह-महासचिव था। यह उसके दरबारका प्रसिद्ध कवि भी था।

आल्हा और ऊदल

पृथ्वीराज चौहानके विरुद्ध युद्धमें परमर्दिके जिन दो सेनापतियोंने इतिहासमें असाधारण वीरताका उदाहरण उपस्थित किया था, दुर्भाग्यवश, उनकी ऐतिहासिकता-पर आज भी सन्देह ही प्रकट किया जा रहा है। इन वीरोंका जीवन-गीत आज भी उत्तर भारतके अत्यन्त लोकप्रिय ग्राम-गानोंमें उत्तम स्थान रखता है। 'बरसात-के दिनोंमें जब चारों ओरसे घुमड़कर आनेवाली काली घटाकी दिगन्त-व्यापी अँधियारी पहाड़ोंकी तलहटीमें बसे छोटे-छोटे गाँवों और विस्तृत मैदानोंमें बसे बड़े-बड़े नगरोंपर एकाधिपत्य जमा लेती है; जब रह-रहकर वर्षाकी झड़ी ताल-मूर्छनाके साथ गर्जनेवाले बादलोंके गुरु-गंभीर मृदंग घोषकी अनुगतिपर ताल और मन्द स्वरोंकी सांकेतिक-लयके साथ चल रही होती है; जब हहराती हुई नदियोंकी उद्दाम ऊर्मिमाला घाटियों, मैदानों और गाँवोंको सजग करती हुई अपार वेगसे जा रही होती है तब बिजलीकी कड़क और बादलकी गरजके वीररस-पूर्ण साजके साथ वीरवर आल्हा और अल्हड़ ऊदलकी वह अमर कहानी, जिसे अमर कवि

---

१. ए० ई०, भाग १, पृ० २१०–१२।

जयानक अथवा जगनायककी वीरतापूर्ण वाणीने बुन्देलखण्डके घर-घरमें पहुँचा दिया था, प्रत्येक गाँव, प्रत्येक नगर और प्रत्येक चौपालमें कविके अमर शब्दोंमें आज भी बड़े प्रेमसे पढ़ी जाती हैं।' सामान्य रूपसे तो सारे उत्तर भारतके गाँव राम-कृष्णकी अमिट कहानीके समान ही आल्हा-ऊदलकी जीवन-गाथासे मुखरित मिलते हैं।

यदि बुन्देलखण्डकी उस पावन भूमिका पर्यटन किया जाय, जिसकी पर्वत-उपत्यकाओं, अमराइयों, घाटियों और वन-अंचलोंको इन योद्धाओंने अपनी ललाम कीर्तिसे अलंकृत किया था, तो प्रत्येक कण-कणसे उनकी जीवन-घटनाओंके सभी आरोह-अवरोह आज भी प्रतिध्वनित होते हैं। यहाँके सभी निवासियोंके संस्कारोंमें धारणा बनकर इन वीरोंकी जीवन-कहानी आज ऐसी रसमयता तथा अनिर्वचनीय और अटूट आस्थाके साथ कही-सुनी जाती मिलती है कि यदि उन्हें संकलित करके पूर्णतः नये सिरेसे आल्हा-ऊदलका प्रामाणिक इतिहास बनाया जाय तो उसकी भी ऐतिहासिकता प्रामाण्य होगी। इसका कारण यह है कि न जाने कितनी मूल एतिहासिक सामग्रियाँ अब भी वहाँ प्रकीर्ण पड़ी हैं। आवश्यकता केवल ऐतिहासिक अनुसंधानके वास्तविक कामकी है। यह ध्यान रखनेकी बात है कि यह लोकप्रियता काल्पनिक नहीं है। यदि ऐसा होता तो इतिहासका क्रम उसे टिकने न देता।

आल्हा-ऊदलकी ऐतिहासिकतापर जिन इतिहासकारोंने सन्देह प्रकट किया है, उनके तर्कोंको सुरक्षित रूपसे दो भागोंमें विभाजित किया जा सकता है। एक तो उनका वर्ग है जिन्हें इस इतिहासकी समस्त उपलब्ध सामग्रीका ज्ञान ही नहीं है। इस प्रकार काल्पनिक अभावके आधारपर उन्होंने एक सुसम्बद्ध इतिहासको अपनी उपेक्षाका शिकार कर दिया है। दूसरा उनका वर्ग है, जिन्होंने साहित्यमें वर्णित सामग्रीको अतिशयोक्तिपूर्ण होनेके कारण सर्वथा काल्पनिक ठहरा दिया है। लेकिन ऐतिहासिक सामग्री तो वास्तवमें प्रचुर मात्रामें है। सवाल केवल विवेक और अध्यवसायके साथ संकलन करनेका है। घटनाओंके विस्तारमें घुसनेपर ही अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनोंसे खतरा है, किन्तु उनकी ऐतिहासिकता तो निर्विवाद रूपसे सिद्ध है। और तो और, उनके जीवनसे संबध रखनेवाली घटनाओंका क्रीड़ास्थल आज भी जगह-जगह उनकी अमरताकी दुहाई दे रहा है। आल्हाका वह अखाड़ा, शारदा देवीका मंदिर, भारतके तत्कालीन इतिहास-क्रमपर गहरा प्रभाव डालनेवाला वह अकोड़ीका युद्धक्षेत्र जहाँ चन्देल और चौहान-रक्तसे भारत भूमि सिक्त हुई थी, बेतवाका गह्वर कछार, जहाँ उनके युवा जीवनका शृंगार हुआ था, महोबाको परिवेष्टित करनेवाले विशाल कीर्ति और मदनसागर, जिनकी ऊर्मियोंसे उन वीरोंने अठखेलियाँ की थी तथा आजकी बनाफर युवक-युवतियाँ जिनकी धमनियाँ उनके रक्तसे उष्ण हैं—कम विश्वासकी सामग्री नहीं है। वहाँ पहुँचते ही आज वही

ध्वनि क्वणित होती है और वही रूप चित्रित हो जाता है। ये इतनी सबल सामग्रियाँ हैं कि इस खण्डकी धूल छानकर लौटनेवालेको विश्वासके लिए न पोथी की आवश्यकता रह जाती है और न तर्ककी।

ऐतिहासिकता और सामग्रीकी प्रामाणिकताके लिए महत्त्वका साक्ष्य महाकवि चन्दबरदाईके पृथ्वीराजरासोका महोबा-खण्ड है। इस महाकाव्यका रचयिता पृथ्वीराजका आश्रित होनेके नाते चन्देलोंका सनातन सूत्र था। किन्तु बड़ी उदारता-से उसने एक विस्तृत खण्डमें चन्देल सेनापति आल्हा-ऊदलकी वीरताका वर्णन किया है। कहीं भी उसने इनके व्यक्तित्वको नीचे नहीं गिरने दिया है और जयानक-द्वारा उपस्थित वर्णनको व्यापक रूपसे पुष्ट किया है। इस महाकाव्यके सभी पात्र---पृथ्वीराज, जयचन्द, परमाल, मुहम्मद गोरी आदि ऐतिहासिक माने जायँ, तब कारण नहीं ज्ञात होता कि इन्हींको क्यों न माना जाय। महोबा-खण्ड पीछेका जोड़ भी नहीं है। जगनिकका काव्य तो आल्हा-ऊदलका समकालीन है। वह तो परमर्दि-के सेनापतिका दरबार-कवि भी था और बरदाईकी भाँति युद्धक्षेत्रमें पदार्पण करता था। उसके वर्णनको बादके अल्हैतोंने अवश्य ही विकृत कर दिया है और निराधार कल्पनाओं तथा व्यर्थकी अतिशयोक्तिसे बोझिल कर दिया है किन्तु इतिहासकारको वहाँ भी तत्कालीन इतिहासका एक विश्सवनीय अस्थिपंजर पूर्ण रूपसे देखनेको मिल सकता है। जगनिक आल्हाका समकालीन सेनापति और परमर्दिदेवका भाञ्जा था, अतः प्रत्येक घटनाका प्रत्यक्षदर्शी था। ऐतिहासिक साधनोंसे प्रमाणित होता है कि संस्कृतका प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य पृथ्वीराजचरितम् उसीके द्वारा लिखा गया था। आल्हा-ऊदलके शौर्य और लोकोत्तर वीरतासे प्रभावित होकर ही इस जन-कविने उस चरितको विशद रूपसे बुन्देलखण्डी काव्यमें प्रस्तुत किया। जगनिक हिन्दीका महाकवि किंग आर्थर है। इस जन-काव्यका जो भी प्रामाणिक रूप उपलब्ध है, वह ऐतिहासिक दृष्टिसे असाधारण महत्त्वका है।[1]

---

१. यह अत्यंत ही खेदका विषय है कि ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ आल्हा-खण्डका प्रामाणिक संग्रह अबतक नहीं किया जा सका। उस विषयकी ओर इतिहासज्ञोंसे भी पहले आचार्य पं० महावीर प्रसादजी द्विवेदीका ध्यान आकृष्ट हुआ था। उन्होंने इस ग्रंथके प्रामाणिक संपादनके लिये आह्वान किया था। किन्तु किसी संस्थाने इस गुरु कार्यका स्वागत नहीं किया। उसी समय दो यूरोपीय विद्वान सर चार्ल्स ईलियट तथा जनरल वाटरफ़ील्डने इस महान् कार्यको हाथमें लिया था। ईलियटने तो कन्नौज तथा अन्य स्थानोंके नामी अल्हैतोंको बुलाकर आल्हा-खण्डका प्रथम लिखित संस्करण सम्पादित किया। विषय-क्रमसे उसे २३ खण्डोंमें विभक्त किया। आल्हा काव्यका अंग्रेजीमें पद्यानुवाद जनरल वाटरफ़ील्डने आरम्भ किया था। किन्तु वह उनकी आकस्मिक मृत्युके कारण अधूरा ही रह गया। बादमें डा० ग्रियर्सनने गद्यमें 'ले औफ़

साहित्यिक सामग्रियोंके अतिरिक्त पुरातत्त्व-संबंधी सामग्रियाँ भी कम महत्त्वकी नहीं हैं। 'चिल्ला' नामक प्राचीन गाँवके विस्तृत खँडहरोंका संबंध आल्हा-ऊदल-से था।[१] आज भी वहाँके लोग बतलाते हैं कि दोनों भाई अपनी माता-सहित वहीं उस भग्न राजमहलमें रहते थे। पुरातत्त्व-विभागके अध्यक्ष जनरल मेसी और कनिंघमने भी अपनी यात्राके समय इस प्राचीन गाँवका दर्शन किया था। उस समय लोगोंने ऐसा ही परिचय दिया था। आल्हा-द्वारा निर्मित कई वस्तुएँ भी आज मिली हैं। उनकी रचना उनकी ऐतिहासिक सत्ताको पुष्ट करती है। तमसा नदी जहाँ विन्ध्य मेखलासे बाहर मैदानमें आती है—वह नदी-मार्ग उत्तर-दक्षिण भारतको जोड़नेवाला सुन्दर पथ है। मैदानमें प्रवेशके साथ ही गिजनागिरिके चरणमें चौखण्डी-की बस्ती है। यहाँसे कठिनाईसे डेढ़ मीलकी दूरीपर एक पहाड़ काटकर आल्हाने एक विशाल कन्दराकी रचना कराई थी। कन्दरा बड़ी विशाल और सुन्दर है। उसमें एक छोटा-सा कुण्ड है और सदा-प्रस्रवण स्रोत भी। ज्ञात होता है कि आल्हाने यह ऋतुकालीन निवास अत्यंत ही सैनिक महत्त्वको ध्यानमें रखकर यहाँ बनवाया था। यह स्थान चन्देल-साम्राज्यकी रक्षाकी दृष्टिसे केन्द्रबिन्दुपर पड़ता है। आज भी तमसाका वह घाट आल्हाघाटके नामसे प्रसिद्ध है। आल्हाकी ऐतिहासिकता इन प्रमाणोंसे अधिकाधिक पुष्ट होती है। कहनेका तात्पर्य यह कि आल्हा-ऊदलकी ऐतिहासिक सत्ता एक ठोस सत्य है। इसपर किसी भी प्रकारका सन्देह प्रकट करनेका अर्थ है इतिहासके मूलाधारोंकी बरबस उपेक्षा।

महाकवि चन्दके महोबा-खण्डसे आल्हा-ऊदलके जीवनका बड़ा ही चमत्कारपूर्ण और कल्पनापूर्ण वृत्त प्राप्त होता है और सतर्कतासे घटनाओंका शोध करके तथ्य निकाला जाय तो बड़े कामकी सामग्री मिलती है। बनाफर राजपूत-वंशसे ही चन्देल अपने कुछ मंत्री, सेनापति अथवा उच्चाधिकारी बनाते थे। परमर्दिने चिंतामणि बनाफरके कुलसे यह गौरव ले लिया। उनके स्थानपर यह कार्यभार अपने साले माहिल परिहारको सौंप दिया पर माहिल छद्म विचारका, चापलूस और षड्यंत्र-प्रिय था। उसे सर्वदा अपने नूतन पद-गौरवकी रक्षाकी चिंता बनी रहती थी।

आल्हा' नामसे औक्सफोर्ड यु० प्रेससे प्रकाशित कराया। किन्तु इस काव्यपर काफी अनुसंधान-कार्य बाकी है। सरकार या कोई संस्था ही इसे हाथमें ले सकती है। इसके अभावमें महान् राष्ट्रीय क्षति है।

१. 'चिल्ला' गाँव इलाहाबादसे १२ मील दक्षिण-पश्चिम यमुनासे दाहिनी ओर वरदोवलसे १२ मील पूर्वकी ओर स्थित है। चन्देल-युगमें यह बड़ा नगर था। यहाँके विस्तृत खण्डहर चन्देल-कालीन शिल्पसे भरे पड़े हैं। भग्न महल-की दीवारपर नागरी लिपिमें 'न' भी लिखा मिलता है। 'न' आल्हाका सांकेतिक नाम था। पृथ्वीराज-विजय काव्यके भीतर आल्हाका संस्कृत नाम 'नल्ह' था। सम्भवतः 'न' इसीका सूक्ष्म रूप था।

अतः वह बनाफरोंका सर्वदा विरोध करता और उनके राजकीय आश्रय और अभ्युदयमें बाधा पहुँचाता था। माहिलके पिताने अपनी दूसरी कन्याकी शादी दस्यराज और तीसरीकी बच्छराज बनाफरसे कर दी थी। वीरवर आल्हा-ऊदलका जन्म इसी कन्यासे हुआ था। इनके पिता दस्यराज दसपुरवामें और बच्छराज अपनी पत्नीके साथ सिरसामें रहने लगे। बच्छराजसे मलखानका जन्म हुआ था। आल्हा-ऊदलकी माताका नाम दिवलादेवी और मलखानकी माताका नाम जसखानदेवी था।

इन भाइयोंका बाल-जीवन जितना ही चमत्कारोंसे भरा था उतना ही असाधारण शक्ति और शौर्यसे। अस्त्र-शस्त्रकी पटुताके मानो इन्हें अदृश्यसे वरदान मिल चुके थे जिनमेंसे बाबा गोरखनाथके वरदानकी भी चर्चा आई है। आल्हा अभी आठ वर्षका ही था कि उसे और मलखानको पितृ-वियोगका दुसह दुःख भोगना पड़ा। आल्हा-ऊदलके असाधारण जीवनसे परर्मादि प्रभावित अवश्य हो गया किन्तु माहिलकी नीतिसे उन्हें उचित स्थान नहीं दे पाता था। किन्तु इन सपूतोंने स्वामि-भक्तिसे अपनेको कभी भी विचलित नहीं होने दिया। जब कभी चन्देल-साम्राज्य-पर आपत्ति आती, गौरव खतरेमें पड़ता अथवा जातीय सम्मानका प्रश्न उपस्थित होता तभी वे अलौकिक वीरताका परिचय देकर सफलता प्राप्त करते। सैन्य-दुर्बलताके कारण जब महोबाकी दुर्दशा आरम्भ हुई, तब बनाफर वीरोंको इस अधःपतनसे बड़ी ठेस लगी और महोबाकी राजमाताकी हृदय-द्रावक अभ्यर्थनापर तत्काल आल्हा और ऊदलने सैन्य-संचालनका सूत्र स्थायी रूपसे अपने हाथोंमें ले लिया। फिर क्या था, इसके बाद चन्देल राज्यकी रक्षाकी कहानी आल्हा-ऊदलके उत्सर्गकी कहानी बन गई।

चन्दके काव्यमें आल्हा-ऊदल-द्वारा अनेक युद्धोंमें भाग लेने और सफलता प्राप्त करनेकी चर्चा मिलती है। इनमेंसे अधिकांश युद्ध तो चौहान सम्राट् पृथ्वीराज और चन्देल सम्राट् परर्मादिके बीच हुए। इन दो वंशोंके बीच दो लोमहर्षण युद्ध हुए; पहला सन् ११८२–८३में, जब पृथ्वीराजने अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा पूरी करनेके लिए महोबापर आक्रमण किया; दूसरा जब पृथ्वीराजकी कन्या बेलाका विवाह परर्मादिके पुत्र कुँवर ब्रह्मानन्दसे होनेका प्रस्ताव हुआ। दोनोंमें इन योद्धाओंकी ऐतिहासिक वीरता और पराक्रमका वर्णन चन्दने किया है। इसके अलावा तुर्क आक्रमणके समय दिल्लीपति सोमेश्वरने जब भारतके प्रमुख राजाओंसे सहायताकी प्रार्थना की तो चन्देल-सेनाके साथ इन दोनों वीरोंने राष्ट्रीय युद्धमें भाग लिया था। आल्हाके जीवनका अभी आरम्भ ही था। उस अवसरपर भी उसने महान् वीरताका उत्कृष्ट उदाहरण रक्खा था। ये ही घटनाएँ चन्दके महाकाव्यमें आल्हा-ऊदलके जीवनसे सम्बद्ध रक्खी गई हैं।

चन्दके समस्त वर्णनोंमें विशेष खटकनेकी बात यही उपलब्ध होती है कि उसने परर्मादिका चरित्र हेय ठहरानेके लिए उसे कायर, क्लीव और अयोग्य बतलाया है।

इसके अलावा उसे प्रतिहार माहिलकी छद्मपूर्ण मंत्रणासे वशीभूत भी चित्रित किया गया है। लेकिन जैसा कि पहले बतलाया गया है, चन्दने केवल दो कारणोंसे ऐसा किया—प्रथमतः तो परमर्दिके प्रति अधिक द्वेषके कारण, दूसरे आल्हाके व्यक्तित्वकी महत्ताको और प्रभावकारी बनानेके लिए। वस्तुतः परमर्दि वैसा था नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि आल्हा-ऊदल मध्यकालीन इतिहासके अप्रतिभ जनरल थे, जिनकी सैन्यप्रतिभा, स्वामिभक्ति और व्यक्तिगत शौर्य अपना दूसरा उदाहरण नहीं रखते। उनके असाधारण कार्योंने ही कवियों और बन्दीजनोंको अनेक स्थलोंपर मिथ्या कल्पनाके लिए अवसर दिया है।

उत्तर-कालीन चन्देल इतिहास

चन्देल-साम्राज्यकी सार्वभौम सत्ता तो परमर्दिके राज्यकालके साथ ही समाप्त हो गई किन्तु उत्तर भारतमें एक शासकके रूपमें उनकी स्थिति कायम रही। सन् १२०३ के पश्चात् महोबा और कालंजरपर मुसलमानोंका आधिपत्य होनेपर भी इस वंशका शासन अविच्छिन्न रहा।

२२. त्रैलोक्यवर्मन्

पृथ्वीराजरासोके अनुसार राजा जयचन्दके एक कर्मचारी नरसिंहकी सहायतासे परमालके पुत्र समरजीतने पुज्जनरायको भगाकर महोबापर कब्जा कर लिया। पुज्जनराय पृथ्वीराजका थानापति था। उसने कालंजर और गयाके बीच पूरे भूभागपर शासन किया। एक मुसलमान बिनाय-उद्-दीनने अंतमें उसकी हत्या कर दी।[1] इतिहासकारोंकी राय है कि बिनाय-उद्दीन नाम बहौद्दीन (तुरिल) का बिगड़ा रूप है जिसे मुहम्मद गोरीने सन् ११९६ में बयानाका शासक नियुक्त किया था।[2] किन्तु रौबर्टीने कुछ और अधिक बातें लिखी हैं कि सन् १२२० ई० में कुलुद्दीनकी मृत्युके बाद बहौद्दीन कुछ समयके लिए मध्य-भारतमें स्वतंत्र शासक बन बैठा था।[3] विचारणीय प्रश्न तो यह है कि चन्देल लेखोंसे प्राप्त वंशावलीमें परमर्दिके इस पुत्रका कहीं भी नाम नहीं आता है। अतः समरजीतके संबंधम इस प्रकारके इतिहासका अस्तित्व सर्वथा संदिग्ध है। अभिलेखोंमें तो त्रैलोक्यवर्मन्को उसका उत्तराधिकारी बतलाया गया है। गौरा दानपत्रमें बतलाया गया है कि वह परमर्दिके चरणोंकी अर्चना करता था। 'इस दानपत्रका समय (सन् १२०४ से १२०५ ई०) परमर्दिकी मृत्यु (सन् १२०२ ई०) से लगभग तीन वर्ष ही बादका

---

१. ज० ए० सो० बं०, १८८१, भाग १, पृ० २९–३१ बिनाय-उद्दीन सम्भवतः بناالدين (बिना'-उद्-दीन) था।

२. ता० फ़०, ब्रिग्सका अनुवाद, भाग १, पृ० १९८। ई० ऐ०, १९०८, पृ० १४५–५०

३. नो० न०, रौबर्टी-द्वारा।

हैं। इससे यही बात प्रकट होती है कि वही परमर्दिके बाद राजगद्दीपर आया।[1] त्रैलोक्यवर्माके जितने लेख मिले हैं सब इसी निष्कर्षकी पुष्टि करते हैं।

चन्देल-सत्ताको संगठित करनेकी अन्तिम चेष्टा

जैसा कि इतिहासकार वी० ए० स्मिथने लिखा है कि त्रैलोक्यवर्मन्ने अपने पिता परमालके बाद अपने पूर्वजोंके साम्राज्यके केवल पूर्वी भागपर स्थानीय सरदारके रूपमें शासन प्राप्त किया,[1] पर यह सत्य नहीं है। गौराके दानपत्रसे ज्ञात होता है कि त्रैलोक्यवर्मन् उन समस्त गाँवों और नगरोंके ऊपर शासन कर रहा था जो मध्यभारतके वर्तमान छतरपुर, बिजावर और पन्ना रियासत तथा झाँसी जिलेकी ललितपुर तहसीलमें फैले हैं। गर्रा दानपत्र पानेवालेके पिताने तुर्कोंके विरुद्ध ककड़ादह युद्धमें जान गँवाई। इस दानपत्रके संदर्भोंसे डा० हे० चं० रायने यह निष्कर्ष निकाला कि इस युद्धमें त्रैलोक्यवर्मन् विजयी सिद्ध हुआ और उसने अपने पूर्वजोंके प्रसिद्ध सैनिक केन्द्र कालंजरको मुक्त कर लिया।[2] यह कथन और प्रमाणोंसे भी पुष्ट होता है कि इस राजा-द्वारा कालंजराधिपतिका विरुद धारण करना मिथ्या और दम्भ नहीं है।[3] तबक़ाते-नासिरीसे ज्ञात होता है कि सुलतान इयल्तिमिशने मलिक नुसरतुद्दीन तैशीको बयाना और सुलतानकोटका उपशासक नियुक्त किया था और उसीके अधीन ग्वालियरकी देख-रेख भी कर दी थी। यह सन् १२३३ में आक्रमणकी कामनासे ग्वालियरसे कालंजरकी ओर एक सेना लेकर आया। कालंजरका राजा अपनी स्थिति संदिग्ध देखकर भाग चला। आक्रमणकारीने किले और उसके पड़ोसको खूब लूटा और अल्प समयमें ही इतनी लूट हुई कि पचास दिनके भीतर ही सुलतानको पाँचवाँ भाग (लगभग २५ लाखके) मिला।"[4]

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यह वर्णन काफी बढ़ा-चढ़ाकर किया गया है। लेकिन इससे इतना तो भली भाँति प्रमाणित हो जाता है कि जब उपर्युक्त आक्रमण हुआ उस समय कालंजर और संबंधित राज्य हिन्दू राजाके हाथ आ चुका था। कालंजरका यह राजा निश्चित रूपसे त्रैलोक्यवर्मन् ही था क्योंकि उसके अभिलेख लगभग सन् १२०५ से सन् १२४१ तकके प्राप्त होते हैं। हाँ, इतना कहना अवश्य कठिन है कि दिल्लीके तुर्कोंके हाथोंसे पुनः चन्देलोंके हाथमें कालंजर किस तिथिको आ गया था। हिन्दू राजाके अधिकारमें यह सुनिश्चित रूपसे सन् १२०३ और

---

१. ई० ए०, १९०८, पृ० १४६। कैं० हि० ई०, भाग ३, पृ० ५१४ में स्मिथके मतका अनुसरण करते हुए सर डब्ल्यू० हेकने कहा है—"परमर्दिकी मृत्युके बाद महत्त्वपूर्ण राजवंशके रूपमें चन्देल समाप्त हो गये।"

२. डा० हि० ना० ई०, भाग २, पृ० २२६

३. बं० ग०, भाग १, २, पृ० ४६६

४. तबक़ाते-इ-नासिरी, रौबर्टीका अनुवाद, भाग १, पृ० ७३२–३३

सन् १२३३ के बीच किसी समय गया होगा। वीरवर्मन्के अजयगढ़वाले प्रस्तर अभिलेखमें त्रैलोक्यवर्मन्की तुलना विष्णुसे की गई है 'जिसने तुर्क-रूपी नदियोंसे बने समुद्रमें डूबी पृथ्वी-रूपी साम्राज्यको उबारा।'[१] यह अभिलेख त्रैलोक्यवर्मन्के विजयकी ओर संकेत कर रहा है जिसने जेजाकभुक्तिसे मुसलमान आक्रमणको विफल करके लौटा दिया। उपर्युक्त लेखने उसे 'दृढ़-रक्षित दुर्गोंका साक्षात् विधाता' भी कहकर संबोधित किया है।

चन्देल इस समय एक ओर तो तुर्कोंके विरुद्ध रक्षाके लिए लड़ रहे थे, दूसरी ओर कलचुरी साम्राज्यको दबाते हुए पश्चिममें अपना साम्राज्य बढ़ा रहे थे। यह देखा जा चुका है कि मदनवर्माने कैमूर श्रेणीके उत्तरमें बघेलखण्डका कुछ भाग अपने अधीन कर लिया था। यह भाग परमर्दिके डाँवाडोल समयमें फिर शासकों-द्वारा लौटा लिया गया था किन्तु त्रैलोक्यवर्मन्के समयके रीवाँ अभिलेखसे ज्ञात होता है कि त्रैलोक्यवर्मन्ने लगभग सन् १२३९ में फिर इस भागपर अधिकार कर लिया था।

त्रैलोक्यवर्मन्का राज्य इस प्रकार बेतवा नदीके पास ललितपुरके पश्चिममे लेकर पूर्वमें सोन नदीके आरम्भिक भागतक विस्तृत था। उसके ताम्र-सिक्कोंके मिलनेके स्थान, जो बाँदा जिलेमें बहुत हैं, प्रमाणित करते हैं कि उसके साम्राज्य-का उत्तरी विस्तार लगभग यहाँतक था। गर्राका भूमि-संबंधी दानपत्र निश्चय करता है कि दक्षिणमें उसका राज्य २४° उत्तरी अक्षांशतक था।

भोजवर्मन्के अजयगढ़के पत्थरपर उत्कीर्ण लेखसे कुछ ऐसे कर्मचारियोंके नाम प्राप्त होते हैं जिन्होंने त्रैलोक्यवर्मन्के यहाँ काम किया था। वाशे अथवा वाशेक, एक कायस्थ, जयदुर्गका विशिष नियुक्त हुआ था और त्रैलोक्यवर्मन्ने उसे वरभारी ग्राम दिया था। ज्ञात होता है कि 'बुद्धिमान् वाशेक, शत्रु राजाओंकी सेनाके लिए वैसा ही था जैसे वनके लिए दावाग्नि.....इस भाँति उसने त्रैलोक्य-वर्मन्को फिर राजवंशोंमें आभूषण बना दिया।' उसी प्रमाणसे पता चलता है कि वाशेकका छोटा भाई आनन्द जयदुर्ग किलेका शासक था। उसने 'आरण्यक जातियों—भिल्लों, शबरों और पुलिन्दोंको अपनी मुट्ठीमें कर लिया।' यद्यपि चन्देल वंशका यह समय संकटोंमें व्यतीत हो रहा था, फिर भी त्रैलोक्यवर्मन्ने राज्यकी आर्थिक दशाको समुन्नत रखा, जो उसके अधिक मात्रामें प्राप्त स्वर्ण द्रम्मोंसे ज्ञात होती है।

---

२. त्रैलोक्यमल्लश्च शशाम राज्यं प्रसिद्ध दुर्गप्रविधानवेधा: ॥
तुरुष्ककुल्यास्वधिमग्नधात्रीसमुद्धृतिं विष्णुरिव प्रतन्वतन् ॥

३. डा० हि० ना० ई०, भाग १; डायनैस्टिक हिस्ट्री औफ कश्मीर, पृ० १८२।
ए० ई० भाग १, पृ० ३२९ श्लो० ७

२३. वीरवर्मन्

अपने पिता त्रैलोक्यवर्मन्की राजगद्दीपर वीरवर्मन् १२४१ ई० के बाद और सन् १२६१ के पूर्व आया। १२६१ ई० ही उसके लेखोंसे प्राप्त पहली तिथि है। तबक़ाते-नासिरीमें राणाकी चर्चा मिलती है जिसे दलकी या मलकी (دلکیں و ملکیں) कहा गया है जो उस पहाड़ी भूभागपर शासन कर रहा था जो कड़ा (इलाहाबाद जिले) से कोई विशेष दूर नहीं है। 'उसके पास बहुतसे भृत्य, असंख्य योद्धा, विशाल साम्राज्य और सम्पत्ति, किले, दुर्गम पर्वत और कन्दराएँ थीं। सुलतान नासिरुद्दीनके राज्यकालमें उलुग़ख़ाँने इस पूर्ण भागपर धावा किया था और लूटमें बहुत अधिक सम्पत्ति प्राप्त की थी।'[1] फ़रिश्ताने बतलाया है कि इस राजाने कालंजरपर राज्य किया और यमुनाके दक्षिण सारे राज्यपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था और मालवासे कड़ातकके राजाओंकी सेनाओंको विनष्ट कर दिया था।[2] अपने अनुवादमें ब्रिग्सने यह मत प्रकट किया है कि दलकी और मलकी नाममें कोई अशुद्धि हो गई है। जनरल कनिंघमने बतलाया है कि 'वह नाम लम्बे नामसे बिगड़कर बना है जो यह है 'तिलकी वमादेव' (تلکی و رمادیو) यह नाम फ़ारसी लिपिमें आसानीसे तिलकी या मलकी पढ़ा जा सकता है। (تلکیں و ملکیں) यही और अशुद्ध होकर दलकी व मलकी हो सकता है'।[3] इस उपक्रमके आधारपर उसने इस नामका त्रैलोक्यवर्मन्से तादात्म्य किया है। किन्तु दलकी व मलकीकी तिथियोंका कोई भी तादात्म्य त्रैलोक्यवर्मन्से नहीं बैठता।

दान-पत्रोंके लेखोंसे ज्ञात होता है कि चन्देलोंका राज्य-विस्तार तीव्र गतिसे परिमित होता जा रहा था, यद्यपि उनके शासकोंने इसे रोकनेकी बड़ी चेष्टा की। इतना तो निश्चित है कि वीरवर्मन् अभी भी उस बहुत बड़े भागका शासक था, जहाँ उसके पूर्वजोंने शासन किया था। उसके समयके प्राप्त लेखोंसे उसका राज्यकाल कमसे कम ३७ वर्ष (सन् १२४५–१२८२ ई०) का मालूम होता है। इतनी अवधिके संबंधमें मुसलमान इतिहासकारोंने कुछ नहीं लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि वीरवर्मन्का शासनकाल शांतिसे व्यतीत हुआ। वीरवर्मन्का कुछ साधारण संघर्ष नरवार, ग्वालियर और मथुराके हिन्दू शासकोंसे हुआ होगा, जैसा संकेत गर्रा अभिलेखसे प्राप्त होता है। सिंध (बुन्देलखण्ड) और बेतवा नदियोंके बीच उसका आधिपत्य था—इसकी भी पुष्टि उससे होती है।

---

१. रौबर्टीका अनु०, भाग १, पृ० ६८०–८३ और फुटनोट ६, पृ० ६८०। ईलियट भाग २, पृ० ३४८

२. ब्रिग्सका अनु०, भाग १, पृ० ६३७

३. आ० स० रि०, भाग १, ०b ४५७

खजुराहोमें इस शासकका एक विशेष प्रकारका सोनेका द्रम्म प्राप्त हुआ है।[1] अभिलेखोंसे भी उन कर्मचारियोंके नाम मिलते हैं जिन्होंने इस राजाकी महत्त्वपूर्ण सेवा की। अजयगढ़के शिलाभिलेखसे ज्ञात होता है कि वीरवर्मन्का मंत्री गणपति था। दाहीके ताम्र दान-पत्रसे ज्ञात होता है कि उसका पानेवाला मलय (ई० सन् १२८१) अत्यन्त यशस्वी और महत्त्वपूर्ण योद्धा था जिसने नरवार, मथुरा और ग्वालियरके राजाओंको पराजित किया था।

२४. भोजवर्मन्देव

वीरवर्मन्के बाद उसका उत्तराधिकारी भोजवर्मन् सन् १२८२ ई०के लगभग ही राजगद्दीपर आया। भोजके दो अभिलेख—अजयगढ़ चट्टान-उत्कीर्ण[2] और अजयगढ़ पत्थर-उत्कीर्ण[3] इस बातकी स्पष्ट घोषणा करते हैं कि उसने अजयगढ़ दुर्गके भूभागपर अवश्य ही राज्य किया। जहाँतक कालंजरका प्रश्न है, इसके संबंधमें ऐसे प्रमाण मिले हैं, जिनसे पता चलता है कि कालंजर और उसके चारों ओरका राज्य सोलहवीं सदीतक चन्देलोंके अधीन रहा। भोजवर्मन्देवके समय मुसलमानोंके आक्रमणसे उसका राज्य विशेष रूपसे अशान्त हो गया था। इसके राजगद्दीपर आनेके समयतक बलबनकी महत्त्वाकांक्षाने अनेक बार जेजाकभुक्तिको पदाक्रांत किया था। मुसलमानोंके बराबर आक्रमण होनेसे राज्यका पश्चिमी भाग निरापद नहीं रह गया था।

साम्राज्यका विघटन

भोजवर्मन्देवका राजत्वकाल लगभग सन् १३०० ई०में समाप्त हुआ। किन्तु वीरवर्मन्के समयसे चन्देल साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े होना आरम्भ हो गया था। ध्यान रखनेकी बात है कि यह विघटन शांतिपूर्ण रीतिसे और व्यावहारिक आधारपर होना आरम्भ हुआ। राजाओंके भाइयोंको जो जीविकार्थ जागीरें मिलीं—प्रायः वे ही सशक्त होकर साम्राज्यके इन दुर्बल दिनोंमें छोटे-छोटे राज्योंकी इकाइयाँ बनने लगीं। निःसन्देह उनमें न तो सबका विकास हुआ और न सभी समयके अंतरालमें स्थायी बन सके। भोजवर्मन्देवके समय चन्देल साम्राज्य चार स्पष्ट अन्वितियोंमें विभक्त हो चला था—एक तो चन्देलोंका केन्द्रीय साम्राज्य था, जो विशालता, संघटन, सैन्यबल और सार्वभौमताकी दृष्टिसे चन्देलोंकी प्राचीन परंपराको प्रतिष्ठित रखनेके उद्योगमें तल्लीन था। इसकी राजधानी कालंजर हो गई थी। कालंजर यद्यपि विशेष रूपसे मुसलिम आक्रमणका शिकार होता रहा किन्तु उसकी सत्ता निरन्तर बनी रही।

१. कॉ० क्वा० ई० म्यू०, कलकत्ता भाग १, पृ० २५४
२. ए० ई०, भाग १, पृ० ३३०–३८
३. ज० ए० सो० बं०, १८३७, भाग ६, १, पृ० ८८१–८७

इस साम्राज्यसे काफी पूर्वकी ओर हटकर दो चन्देल जागीरें शक्तिशाली राज्योंके रूपमें विकसित हुई—एक अगोरी बड़हरका चन्देल राज्य, जो वर्तमान मिर्जापुर जिलेके भीतर स्थापित हुआ; दूसरा विजयगढ़का राज्य, जो वर्तमान बनारस राज्यके दक्षिणी भागमें विस्तृत हुआ। ये सबल और सशक्त होते हुए भी चन्देल सम्राट्की छत्रच्छायामें थे और बराबर मुसलमान आक्रमणोंके विरुद्ध संयुक्त शक्तिसे साम्राज्यकी रक्षा करते रहे। भोजवर्मन्देवके समयमें बरदी राज्यकी स्थापना हुई, जहाँ भोजदेवका छोटा भाई वीरविक्रम शासक बनाया गया था। जैसा कि पहले बतलाया गया है, मुसलिम आक्रमणसे निरंतर पीड़ित होनेके कारण भोजदेवने यह उपराजधानी बनवाई। यह राजधानी क्रमशः एक राज्यके रूपमें सुगठित हुई और विक्रम वहाँका अधीन शासक। बरदी वर्तमान रीवाँ राज्यकी पूर्वी सीमापर था। मूल साम्राज्यसे टूटकर बननेवाले इन तीनों राज्योंमें बरदी राज्यका संबंध चन्देल साम्राज्यसे सबसे घनिष्ठ और बादतक रहा। इन राज्योंकी सत्ता कभी स्वतंत्र नहीं हुई। चिर कालतक ये लड़खड़ाते चन्देल साम्राज्यके अंग बने रहे। वीरविक्रमने जब निरंतर मुसलिम आक्रमणसे चन्देल राज्यको अरक्षित-सा देखा तब उसने भारतके पूर्वी भागमें साम्राज्य जीतकर अपनी सत्ता उधर दृढ़ करनेकी बात सोची। कतिपय प्रमाणोंसे प्रकट होता है कि भोजवर्मन्से उसकी न बन सकी। अतः अपनी महत्त्वाकांक्षाको चरितार्थ करनेके लिए उसने बरदीसे कूच कर दिया।

भोजदेवके उत्तराधिकारी

जैसा कि पहले कहा गया है, भोजदेवके समयमें चन्देल-साम्राज्यकी केन्द्रीय सत्ता, हिल गई। उसकी जड़ें उखड़ गई। उधर कई उपराज्य स्थापित हो चले। किन्तु वह विलीन नहीं हुई। कालंजरमें उसका अवशिष्ट साम्राज्य कायम रहा। उसकी सीमाके भीतर अब भी विस्तृत भूभाग था। भोजदेवका उत्तराधिकारी कौन था इसे भी विवादका प्रश्न बना दिया गया है। भोजदेवका उत्तराधिकारी हम्मीरदेव था। चन्देल साम्राज्य खण्डित होता जा रहा था। फिर भी भोजके बाद चौदहवीं सदीके अर्ध भागतक चन्देल शासक अपने प्राचीन साम्राज्यके एक विशेष भागपर शासन कर रहे थे। सती लेख[1] में उल्लेख है कि सन् १३०८ में दमोह और जबलपुर जिलोंपर जो बाघदेव शासन कर रहा था वह 'श्रीमद्

१. रायबहादुर हीरालालने सती लेखका पता लगाया था। ए० ई०. भाग १६, पृ० १०

हम्मीरवर्मदेव' का सामन्त था।[१] बाघदेवके दो और सती-लेख प्राप्त हुए हैं, जिससे उसके कालकी अवस्थापर प्रकाश पड़ता है।[२]

प्रश्न यह उठता है कि यह हम्मीरवर्मदेव कौन था जो १३०८ में कालंजरमें राज्य कर रहा था? यह स्पष्ट है कि भोजदेव चन्देलका ही उत्तराधिकारी होगा, जो उसके उपरान्त अपनी कालंजर राजधानीसे राज्य कर रहा था। लेकिन इतना स्पष्ट है कि भोजदेवका उत्तराधिकार सन् १३०० ई० में ही हुआ। हम्मीरवर्मदेवके समयमें भी चन्देल अपने प्राचीन साम्राज्यके एक विशेष भागके शासक थे। दमोह जिलेके बहादुर नामक गाँवमें प्राप्त उक्त लेखसे पता चलता है कि लगभग १३०८ ई० में दमोह और जबलपुर जिलेके भूभागपर हम्मीरदेवका संरक्षण था।[३]

यद्यपि मुसलमानोंने सन् १३०० के पश्चात् और १५४० ई० के पूर्व कालंजर-पर अनेक बार आक्रमण किया[४] लेकिन कोई भी निर्णयात्मक प्रमाण नहीं मिलता कि वे इस समयके भीतर सर्वदाके लिए वहाँसे खदेड़ दिये गये थे।

हम्मीरवर्मदेवके बाद चन्देलोंकी सत्ताका दर्शन तब होता है जब कालंजरके राजा कीरतसिंहने सन् १५४४ ई० में शेरशाह सूरीका सामना किया था।[५] किन्तु कीरतसिंहका भी विशेष विवरण नहीं प्राप्त होता। चन्देल राजकुमारी दुर्गावती-का परिणय गढ़मण्डल (गोंडवाना) के राजा दलपतसिंहके साथ सन् १५४५ ई० में हुआ। दलपतसिंहकी मृत्युके पश्चात् वह अपने अल्पवयस्क पुत्रकी संरक्षिकाके रूप-में शासन कर रही थी। सन् १५६४ में जब अकबरने गोंडवानापर आक्रमण किया, तब उस वीरांगनाने अभूतपूर्व बहादुरीसे उसका सामना किया। लेकिन गढ़ और मण्डलके बीच भयानक युद्धके पश्चात् उसकी पराजय हुई। उसने अपने अंतिम श्वासतक युद्धको क्रमबद्ध रखा और क्षेत्रमें ही वीरगति प्राप्त की। यह राजकुमारी निश्चित रूपसे कालंजरके राजा राय कीरतसिंहकी कन्या थी किन्तु अनुश्रुतियोंके अनुसार वह महोबाके चन्देल राजाकी लड़की बतलाई जाती है।[६]

---

१. कालंजराधिपति श्रीमद् हम्मीरवर्मदेव विजयराज्ये सम्वत् १३६५ समये महाराजपुत्र श्रीवाघदेव-भुज्यमान। वही।

इस लेखमें जो थोड़ा व्यतिक्रम दिखलाई पड़ता है उसका कारण यह है कि इस लेखका लेखक जैसा सस्कृतका सुविज्ञ नहीं था।

२. वही।

३. ए० ई० भाग १६, पृ० १०; फु० नो० ८। डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ नौर्थ इण्डिया, भाग २, पृ० ७३४–३५।

४. ई० ग० ई०, भाग १४, १९०८, पृ० ३१२।

५. ई० ऐ०, १९००, पृ० ३१२।

६. ज० ए० सो० बं०, १८८१, भाग १, पृ० ४२।

जहाँतक ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त है, वह कालंजरके चन्देलोंकी अंतिम ज्ञात संतान थी जिसने अपने वंशके गौरवके अनुकूल वीरताका उदाहरण रक्खा।

अकबरने कालंजरपर तबतक आक्रमण नहीं किया, जबतक उसने राजपूतानेके राजवंशोंपर क्रमशः अपनी नीति और कौशलसे अधिकार नहीं कर लिया। उस समय उत्तर भारतमें राजपूतोंकी शक्तिके तीन केन्द्र वर्तमान थे जिनमें चित्तौड़ सबसे महत्त्वका स्थान था। दूसरा केन्द्र रणथम्भौर था। मध्यभारतमें सैन्य केन्द्र-शक्ति कालंजरमें आकर सीमित हो गई थी। कालंजरमें इस समय राय कीरतका उत्तराधिकारी राय रामचन्द्र चन्देलोंकी राजकीय परम्पराकी अंतिम इकाईके रूपमें शासन कर रहा था। १५६८ ई० में चित्तौड़का पतन हुआ। सन् १५६४ ई० में रणथम्भौर राजपूतोंके हाथसे जाता रहा। अब कालंजरकी बारी आई। मजनू खाँ काक्षालकी अधीनतामें एक सुविशाल सेना कालंजरपर भेजी गई। चितौड़ और रणथम्भौरके पतनकी खबरने राय रामचन्द्रका साहस तोड़ दिया और वह देरतक मुगल सेनाके समक्ष न ठहर सका। उसने अपनेको मुगलोंकी महत्त्वाकांक्षाके समक्ष समर्पित कर दिया और वह किला, जिसपर शताब्दियोंतक चन्देल राज्यश्रीकी पताका फहरती आ रही थी, मुगलोंके अधीन हो गया। चन्देलोंका गौरव-दीप मुगल प्रभंजनके समक्ष न ठहर सका।

अंतमें यह निर्दिष्ट करना आवश्यक है कि उत्तर भारतके राजपूतोंके इतिहासमें चन्देल शासकोंका राज्यकाल अत्यंत विशेष महत्त्वका था। अपने शौर्यके मध्याह्नमें विदेशी आक्रमण रोकनेमें वे सफल अग्रणी रहे। उन्होंने भारतमें केन्द्रीय सार्वभौम सत्ता स्थापित करनेकी चेष्टा की थी—कमसे कम उत्तर भारतमें। लगभग तीन सौ वर्षोंतक तुर्कोंके विरुद्ध संघर्ष-रत रहते हुए अपनी स्वतंत्र सत्ता अक्षुण्ण बनाये रखनेमें उत्तर भारतके राजपूत शासकोंमें वे अंतिम शासक थे। निःसन्देह चन्देल इतिहासकी कोई भी कड़ी कलंक और कातरतासे मलिन नहीं हुई है, जिसका खतरा मध्यकालीन इतिहासमें सर्वदा बना रहा।

———

अध्याय ६

शासनका स्वरूप

सन् ६४७ के बाद जो राजनीतिक विकेन्द्रीकरण आरम्भ हुआ उसकी समाप्ति अनेक राज्योंकी स्थापनामें हुई। उनमेंसे कुछ तो इतने बड़े और वास्तवमें साम्राज्य बन गये कि उनके अंतर्गत अनेक राज्य भी सम्मिलित थे। ऐसे साम्राज्योंमें प्रतिहार, चन्देल और मालखेड़के राष्ट्रकूटोंका स्थान है। ऐसे साम्राज्योंके विकासके साथ शासन-व्यवस्था और पद्धतिमें भी अवश्य ही परिवर्तन हुआ। जैसा कि आगे प्रकट होगा, ये परिवर्तन अधिकतर केन्द्रीय सरकारके अधिकारों और भावनाओंमें पाये जाते हैं—उसके स्वरूपमें नहीं। यद्यपि दण्डनीतिकी महत्ता सिद्धान्त रूपमें इस युगमें अधिक दर्शाई गई, किन्तु शासनके वास्तविक संचालनमें उसका बहुत प्रभाव नहीं पाया जाता।

शुक्रनीतिमें, जो राजनीति शास्त्रपर रचा हुआ सबसे बादका ग्रंथ है और जो उसी युग (सन् ८०० से १२०० ई०) में लिखा गया जिसका प्रसंग चल रहा है, कहा गया है कि विज्ञान एक ही है और वह है दण्डनीति।[1] खेद है कि तत्कालीन शासकोंको इस प्रकारके अतीव एकांगी विचार भी इस समस्त देशमें एक सुसंघटित केन्द्रीय सरकार बनानेके लिए आकृष्ट न कर सके और न बल दे सके। शासनके संघटनमें जो विकेन्द्रीकरण आरम्भ हुआ था वह इसी समय आकर पूरा हुआ। हाँ, राजपूतोंके अपने जो भी लक्ष्य थे, उसके लिए निछावर होने तथा सर्वस्व उत्सर्ग करनेमें भी उन्होंने कुछ उठा नहीं रक्खा। उनका आदर्श—शैयापर पड़े-पड़े मरना क्षत्रियके लिए घोर अधर्म है,[2] उनके जीवनकी रग-रगमें व्याप्त था। यह भावना इस युगमें जातीय गुणके रूपमें विकसित हो चुकी थी। इसका ही फल था कि उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ विशृंखलित होकर व्यक्तिवादी हो गई थीं। सम्राट्, योद्धा, दिग्विजयी और शासक बननेकी कामना सबमें आ गई थी; वस्तुतः देश एकच्छत्र न हो सका।

राजसत्ताका स्वरूप

समस्त नये राजपूत वंश, जिनकी स्थापना इस समय हुई, निरंकुश और अनियंत्रित राजवंश थे। राजसत्ता निःसीम राजतंत्रपर आधारित थी जिसके अवयव शक्तिशाली सामंत थे। वे राजसत्ताके साथ उसीके निर्देशपर मिलकर काम करते थे। राज्यका संघटन जैसा विकेन्द्रित और बिखरा हुआ था वह राजपूत

---

१. शुक्रनीतिसार, १,६

२. अधर्मः क्षत्रियस्यैव यच्छय्यामरणं भवेत्। शुक्र०, ४७ पृ० ३०५

राजाओंके लिए न केवल सनातन दुर्बलताका कारण बना, बल्कि सांघातिक सिद्ध हुआ क्योंकि शक्तिशाली सामंत केन्द्रसे केवल राजभक्तिके सामान्य सूत्रसे बँधे थे। उनकी अपनी व्यवस्थित सेना थी और सेनाका संघटन भी स्वतंत्र था। जब-तक वे राजभक्तिसे भरे रहते थे, तबतक तो बड़े कामके और सहायक होते थे किन्तु जब उनमें महत्त्वाकांक्षाकी दावाग्नि उभड़ जाती थी तब वे अत्यंत भयानक और विनाशकारी बन जाते थे। उस समय भी शुक्रनीतिमें परंपरागत स्वरमें कहा गया कि ब्रह्माने राजाको प्रजाका सेवक बनाया है और वह अपना भूमिकर पारिश्रमिकके रूपमें प्राप्त करता है।[1]

किन्तु राजाको अपनी सत्ता बनाये रखनेके लिए अपनी ही शक्ति अथवा अपने सगे-संबंधियोंकी सहायता पर्याप्त नहीं थी, उसे अपने कर्मचारियोंके बल और सम्मतिकी भी आवश्यकता पड़ती थी।

इस समयतक राजाके अधिकार और उसके पदके गौरवमें बहुत वृद्धि हो गई थी लेकिन लोकप्रिय और उदार शासन-संबंधी परंपरागत भावनाकी प्रतिष्ठा उसी प्रकार रक्खी गई थी। शासक पश्चिमी राष्ट्रोंके मानेमें निरंकुश नहीं थे। उनकी निरंकुशताका यदि कोई परिणाम होता भी था तो अच्छा ही होता था। अब भी शासकके ऊपर बहुतसे प्रभावकारी नियंत्रण वर्तमान थे। ये उसे उन विधानोंकी आस्थामें आबद्ध रखते थे जो उसकी अथवा उसके कर्मचारियोंकी इच्छानुरूप नहीं बने थे। राजाका परमाधिकार "दैवी-सत्ता" के आधारपर आश्रित था। किन्तु यह भाव रूढ़ नहीं था। शुक्रनीतिमें निर्दिष्ट है कि, 'यदि राजा गुण, आचार और पौरुषके विरुद्ध आचरण करने लगे तो प्रजाको उसे राज्यका घाती समझकर त्यक्त कर देना चाहिए'।[2]

राजाके देवत्वकी मान्यता जो उपनिषद्-युगके बाद क्रमसे विकसित हुई थी उसमें इस समयतक पर्याप्त परिवर्तन हो चुका था। जहाँ नारदने यह कहा था कि दुष्ट राजापर भी प्रहार करना पाप है क्योंकि उसमें देवता निवास करता है,[3] वहाँ शुक्रने राजा और देवताके केवल कार्योंकी तुलना की। केवल श्रेष्ठ आचरणके धार्मिक राजा ही देवताकी समानतामें आते थे। दुष्ट और अनाचारी राजे तो इस युगमें राक्षस वृत्तिके माने जाते थे।[4] ऐसे समयमें राजा राज्य-च्युत

१. सर्वतः फलभुग्भूत्वा दासवत्स्यात्तु रक्षणे। शुक्र ८,२,१३०।

२. अधर्मशीलो नृपतिर्यदा तं भीषयेज्जनः।
धर्मशीलानिबलवद्रिपोराश्रयतः सदा॥ वही, ४,१; ३।

३. राजनि प्रहरेद्यस्तु कृतागस्यपि दुर्मतिः।
शूले तमग्नौ विपचेद् ब्रह्महत्याशताधिकम्॥ नारद १८, ३१।

४. विपरीतस्तु रक्षोंऽशः सर्वे नरकभाजनः। शुक्र, १, ८७।

हो सकता था। उसके विरुद्ध विद्रोह करना वैध था। उन्हीं शताब्दियोंमें जब रोम-में मरनेके बाद भी सम्राट्की स्थापना करके देवता-रूपसे देवालयोंमें पूजा होती थी वहाँ भारतमें ऊँचा राजनीतिक विकास हो चला था। वस्तुतः इस समय राजपदको दैवी बतलाया गया न कि किसी राज-व्यक्तिको।[1]

प्रजा भी कभी-कभी राजा चुनकर अथवा नये वंशके संस्थापकके रूपमें राजा स्वीकार करके अपने अधिकारका प्रयोग करती थी। क्षीण और विरत-व्यापार मोरी-वंशके स्थानपर बप्पा रावल चुना गया। बंगालमें गोपाल चुना गया। राजसत्ता-पर यह भी एक बड़ा नियंत्रण था। इसके अतिरिक्त शासनके जो विधान थे वे राजाके बनाये नहीं होते थे। वे धर्मशास्त्रोंसे लिए जाते थे। इस दशामें भी राजा-को निःसीम अधिकार प्रयोग करनेका अवसर नहीं रह गया था। चन्देल शासकोंने सर्वदा विधानकी मर्यादा-सहित राज्य किया और उनकी निरंकुशता प्रजाहितके लिए प्रयुक्त हुई। धंगदेवका सन् १०२८ ई० का चन्देल-दानपत्र प्रकट करता है कि विधानके प्रति राजा हर्षवर्मन्देवकी दृढ़ भक्ति थी।[2] उसी दानपत्रमें उल्लेख है कि धंगदेवने अपने शत्रु-समूहका जिस पौरुषसे विघटन किया उसे उसने धर्म (विधान) के प्रति अपनी दृढ़ भक्ति और सुशासनके द्वारा अर्जित किया था।[3] चन्देल शासक कानूनसे डरते थे।[4] राजाओंकी इस धारणाने देशमें वैधानिक शासन-के विकासके लिए अवसर दिया। उपर्युक्त नियंत्रणोंके साथ-साथ बहुतसे परंपरागत नियंत्रण थे जो शासकोंको निःसीम अधिकारोंके दुरुपयोगसे उस युगमें विरत करते थे। इस युगमें स्मृतियोंके नियमोंके आधारपर शासन संचालित होता था। अतः राजाओंको स्वेच्छाचारी विधान बना लेनेका भी अवसर नहीं था, जिससे कि शासनमें स्वेच्छाचारिता बढ़े।

राजाकी स्वेच्छाचारिता यदि असाधारण होने लगे तो शास्त्रकारोंका आदेश था कि प्रजा सम्मिलित प्रयाससे उसे पदच्युत कर दे और उसके स्थानपर उसीके वंशसे गुणवान् एवं शील-संपन्न व्यक्तिको राजपदपर सुशोभित करे।[5]

---

१. डा० अल्तेकर, प्रा० भा० शा० प०, ५, ५६
२. ई० ए०, भाग १६, पृ० २०४
३. वही
४. ए० ई०, भाग १, पृ० १३१
५. गुणनीतिबलद्वेषी कुलभूतोऽप्यधार्मिकः।
नृपो यदि भवेत्तं तु त्यजेद्राष्ट्रविनाशकम्॥
तत्पदे तस्य कुलजं गुणयुक्तं पुरोहितः।
प्रकृत्यनुमतं कृत्वा स्थापयेद्राज्यगुप्तये॥
शुक्रनीति, २,२७४–५।

शासनके विभिन्न सूत्र

शासन-व्यवस्थामें अनेक सूत्रोंका पूर्ण विकास हुआ था। ऐसे सात सूत्रोंसे मिलकर राज्यकी रचना हुई थी। इन सूत्रों और सूत्रोंके महत्त्वकी पूरी मान्यता हुई थी। मदनवर्माके मऊ अभिलेखसे ज्ञात होता है कि विजयपाल 'दिन-प्रति-दिन राज्यके सातों अंगोंकी उन्नति करता गया।'[1] मनुके अनुसार ये अंग निम्नलिखित हैं :—

(१) स्वामी (शासक),
(२) अमात्य (मंत्री या मंत्रिमंडल),
(३) दुर्ग (किले),
(४) जनपद (राज्य और प्रजा),
(५) कोष,
(६) दण्ड (सेना तथा न्याय-विधान) और
(७) मित्र।[2]

किसी राज्यकी वास्तविक शक्तिकी जानकारीके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक अंगकी विशेषता प्रकट की जाय। प्रथम अंग, 'स्वामी' से तात्पर्य उस व्यक्ति-से है जो राज्यमें सर्वाधिक और सर्वशक्तिसम्पन्न होता है। वह राजतंत्रमें राजा होता है। अर्थशास्त्रमें इन अंगोंका विश्लेषण करते हुए बतलाया गया है[3] कि 'स्वामी' का तात्पर्य एक राज्यमें सर्वसत्ताधारी राजासे है।

चन्देल-इतिहासके अवलोकनसे ज्ञात होता है कि बहुतसे चन्देल शासकोंने राज्यके इन सातों अंगोंको भली प्रकार समृद्ध किया था, यहाँतक कि विजयपाल जैसे शासकने भी इन अंगोंको पूर्ण विकसित और समुन्नत किया था।

राज्यके इन अवयवोंकी मर्यादा इस युगमें कैसी थी इसका आभास शुक्रने बड़े प्रभावकारी रूपमें दिया है। राज्य-रूपी वृक्षका मूल राजा है, मंत्रिगण स्कंध है, सेनापति शाखा है, सेनाएँ पत्तियाँ हैं, प्रजा फूल है, देशका ऐश्वर्य ही वृक्षका फल है और सम्पूर्ण देश ही बीज है।[4] इन समस्त अंगोंका समवेत विकास ही राज्यकी वास्तविक उन्नति समझी जाती थी। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि चन्देल शासकोंने इसका मर्म खूब समझा था।

---

१. वही, पृ० २०३
२. मनु, ९, २९४
३. कौटिल्य, पृ० ६, अ० १, पृ० २५५
४. राज्यवृक्षस्य नृपतिर्मूलं स्कन्धाश्च मन्त्रिणः ।
शाखाः सेनाधिपाः सेनाः पल्लवाः कुसुमानि च ।
प्रजाः फलानि भूभागा बीजं भूमिः प्रकल्पिता ॥
शुक्र०, श्लो० १२।

राजा और उसकी स्थिति

व्यावहारिक रूपमें राजा सब अंगोंका अध्यक्ष था। समस्त अधिकारोंका वही उद्गम-स्थल था। वही शासनका सबसे बड़ा अधिकारी और न्यायका सर्वोच्च अधिष्ठाता था। सेनाका वह सर्वाधिकार नायक था और स्वयं क्षेत्रमें उनका नियमन करता था। किन्तु जैसा कि शुक्रनीतिसे व्यक्त होता है, सिद्धान्ततः वह प्रजाका सेवक था। मौलिक रूपसे राजाकी समस्त सत्ताका स्रोत प्रजा थी। खेद है कि जनताको यह अधिकार विधानने तो प्रदान किया था परन्तु इसका कार्यान्वित होना सरल नहीं था। प्रजाकी चेतना और अधिकारोंके प्रति उनकी जागरूकता सर्वमान्य थी पर उसमें न तो स्वावलम्बन था न संबल। देखनेमें यह मिलता है कि जब कभी ऐसे अवसर उपस्थित हुए, प्रजाने अधिकारके प्रयोगका उपक्रम अवश्य किया।

हिन्दू राजाओंकी स्थिति जहाँ सार्वभौम थी वहाँ उनका आदर्श सेवा और लोक-रंजन था। वह अपने पदका प्रयोग भोक्ताके रूपमें नहीं वरन् थाती (ट्रस्ट) के रूपमें करता था। नीतिशास्त्रोंने कड़ी चेतावनी दे रक्खी थी कि राजकोष केवल सार्वजनिक हितके लिए है, उसे अपने अथवा बन्धु-बान्धवोंके निमित्त लगानेसे नरक प्राप्त होता है।[1] इन महनीय आदर्शोंका परिपालन चन्देल राजाओंने किया—ऐसा उनके उत्कीर्ण लेखोंसे प्रकट होता है। उनके इतने लम्बे इतिहासमें प्रजा-वात्सल्य और अविकल लोकप्रियताके अनेक उदाहरण मिलते हैं। धर्मशास्त्रोंका यह तत्कालीन सिद्धान्त कि राजा प्रजासे बलि रूपमें पर्याप्त पारिश्रमिक पाता है अतएव उसे प्रजाजनकी सेवा विनीत सेवककी भाँति करनी चाहिए[2]—राजाओंके जीवनका बहुधा संकल्प था। भारतीय राजाओंपर आधुनिक ढंगकी कोई वैधानिक रोक लगानेकी व्यवस्था नहीं थी,[3] किन्तु ये आनुषंगिक बंधन, नैतिक सीमाएँ उनके परंपरा-पुष्ट आदर्श विधानोंसे भी बलिष्ठ थीं।

चन्देलोंके राजतंत्रमें, राजाके बाद जिस महत्त्वके व्यक्ति पर राजा पूर्ण विश्वास कर सकता था, वह प्रमुख रानी—प्रथम महिषी—थी। दूसरा व्यक्ति युवराज था। इन्हें स्थायी रूपसे कुछ अधिकार प्राप्त थे, यों अवसर विशेषपर तो इन्हें राज्य-संचालनका भी दायित्व मिल जाता था। उनके अधिकारोंकी सीमा क्या थी, कहा नहीं जा सकता। चन्देल शासक विद्याधरको अनेक बार उसके पिताने सेनाका प्रमुख सेनापति नियुक्त किया था।

---

१. बलप्रजारक्षणार्थं धर्मार्थं कोषसंग्रहः।
परत्रेह च सुखदो नृपस्यान्यस्तु दुःखदः॥
शुक्र०, ४-२, ३-५।

२. शुक्र० ४, २, १३०

३. प्रा० भा० शा० प०, ५, ६३

राज्यारोहण

इसमें सन्देह नहीं कि राज्याधिकारकी प्राप्ति जो प्रारम्भमें बहुत कुछ निर्वाचन-प्रथासे नियंत्रित थी, क्रमशः इस समयतक पैतृक परंपरासे आबद्ध हो गई थी। सन् ६०० ई० के बादके सब राजवंशोंमें इसीके प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। प्रजा-द्वारा अपनी इच्छाको निर्वाचन रूप देनेके कुछ ही उदाहरण विरल रूपसे मिलते हैं। कश्मीरके उत्पल और बंगालके पालवंशके उदाहरण उपस्थित किये गये हैं। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं कि राजपूत-कालमें उत्तराधिकारी न होनेपर संबंधियोंमेंसे किसी योग्यको उत्तराधिकारी चुन लिया गया। मौखरि वंशका उदाहरण प्रत्यक्ष है। जहाँ कहीं सिंहासनके लिए प्रतिद्वन्द्विता खड़ी हो जाती थी, वहाँ शासक अपने लिए मंत्रिगण, पुरोहित और लोकमतका समर्थन प्राप्त करनेको चेष्टा उस समय भी करते थे। कश्मीरमें जब सन् ९३९ में उत्पल-वंश समाप्त हुआ तब कमलवर्धनका राज्यारोहण ऐसे ही हुआ। ब्राह्मणोंकी स्वीकृति उसे नहीं मिली, मिली शूरवर्माको, जो राजा बना। कल्हणने इसकी कड़ी टीका की है।[1]

अरब लेखकोंकी धारणा यही प्रकट करती है कि भारतका लोकमत उस युगमें भी अपनी राजभक्ति प्रदान करनेका आभार शासकपर रखता था।

चन्देलोंमें ज्येष्ठाधिकारके आधारपर पैतृक परंपरा वर्तमान थी, केवल एकाध अपवाद मिले हैं। कभी-कभी राजकुमारकी अनुपस्थितिमें राजाके बाद उसका छोटा भाई ही गद्दीपर आरूढ़ हुआ। पहले लिखा जा चुका है कि देववर्माके बाद उसका छोटा भाई कीर्तिवर्मन्, गद्दीपर बैठा जो एक प्रकाशमान राजा हुआ। जयवर्मन्के पश्चात् सल्लक्षणवर्मन्का कनिष्ठ यमज पृथ्वीवर्मन् गद्दीपर बैठा। इससे प्रमाणित होता है कि चचाने भतीजेकी गद्दी प्राप्त की। उत्कीर्ण लेखोंसे प्राप्त राजवंशावलियोंका यह कथन अनुचित नहीं है कि जयवर्मन्का कोई योग्य उत्तराधिकारी नहीं था।

चन्देलोंमें एक यह भी परंपरा सामान्य रूपसे प्रचलित पाई जाती है कि राजा अपने जीवनकालमें ही राज्यभार अपने उत्तराधिकारीको सौंप देता था। इस वंशके प्रसिद्ध शासक राजा धंगदेवने अपने उत्तराधिकारीको राज्य-भार सौंप दिया और जीवनके अंतिम दिन व्यतीत करनेके लिए वह प्रयाग चला गया। किन्तु यह उदाहरण विरल है। यह विशेष रूपसे तभी हुआ जब राजे वयोवृद्ध होनेके कारण कार्य-संचालन योग्य नहीं रह जाते थे। चन्देलोंमें ये सब उदार परंपराएँ थीं ही, उनके पूरे इतिहासमें उत्तराधिकारके युद्ध अथवा अवांछनीय निरंकुशताके उदाहरण नहीं मिलते।

---

१. राजतरंगिणी, अष्टम सर्ग, पृ० ७३३

अभिषेक

हिन्दू राजतंत्र-प्रथामें राज्याभिषेक-पद्धति केवल उत्सव अथवा मनोरंजनके उद्देश्यसे नहीं बनाई गई थी और न यह केवल परम्परा-पालन मात्र थी। जो संकल्प और प्रतिज्ञा राजा इस समय करता था वही उसके समस्त शासनमें निर्देश-रूपसे व्याप्त रहती थी। अपनी उस प्रतिज्ञासे च्युत होनेपर वह 'असत्य-प्रतिज्ञ' और 'असत्यसन्ध' हो जाता था। ऐसी दशामें प्रजा उसे पदच्युत करनेके लिए मुक्त हो जाती थी। राज्याभिषेक यह भाव भर देता था कि देश और 'प्रकृति' की रक्षाका तात्पर्य था ईश्वरकी रक्षा और आराधना।

यह पद्धति इस देशके राजाओंमें मुसलमानी युगतक पूर्णतया मान्य और प्रचलित रही।[1] यद्यपि ऐतरेय-ब्राह्मण-कालीन अभिषेकके स्वरूपमें इस समय-तक पर्याप्त परिवर्तन हो चुका था, फिर भी अनेक राजनीतिक परिवर्तनोंके बाद भी मध्य युगमें इसकी अटूट मान्यता बनी हुई थी। मध्य कालमें राज्यसत्ताकी पुष्टिका एक साधन भी अभिषेक माना जाता था। जैसा कि पहले निर्देश किया गया है, बंगालके गोपालने इसी पद्धतिसे अपनी स्थिति स्थापित की। लोगोंने उसका साथ दिया। वह अराजकता दूर करनेमें सफल हुआ।[2] चन्देल वंशके इतिहासमें अभिषेककी परंपरा जीवित थी, यह उत्कीर्ण लेखोंसे व्यक्त होता है। अभिलेखोंमें बराबर 'अभिषिक्तः' आदि जैसे शब्द आते हैं। किसी-किसीमें तो अभिषेकका वर्णन भी मिलता है।

राजकीय उपाधियाँ

भारतके इतिहासमें राजकीय विरुद और पदवियोंका बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान देखा गया है क्योंकि उनसे राजाओंके अस्तित्व, अधिकार-सीमा तथा प्रभुत्वका अत्यंत संगत रूपसे बोध होता है। स्मरण करनेकी बात है कि मौर्य-युगमें पदवियाँ सूक्ष्म और छोटी होती थीं। किन्तु गुप्तोंके उत्थानके साथ पदवियाँ बड़ी और शृंखलाबद्ध होने लगीं। 'परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर' सम्राट् चक्रवर्तित्वकी पदवीके रूपमें गृहीत हुआ। इसकी परंपरा इस देशमें राजपूत युगके अवसान-तक चलती रही। चन्देल शासकोंने भी पौरुष और राजनीतिक सफलताके फलस्वरूप अपनेको इस पदवीका अधिकारी बनाया और प्रतिहारोंके बाद वर्षोतक भारतके सम्राट्-पदको सुशोभित किया। इस वंशके आरम्भके शासकोंने 'महाराजाधिराज' की पदवी धारण की। क्रमसे इसका विकास होकर 'महाराजाधिराज परम भट्टारक' हो गया। किन्तु ज्यों-ज्यों वे अपनी उन्नतिकी चरम सीमाकी ओर बढ़ते गये त्यों-त्यों वे

---

१. डा० का० प्र० जायसवाल—हिन्दू पौलिटी—२६, पृ० २२८।

२. मात्स्यन्यायमपोहितुं प्रकृतिभिर्लक्ष्म्याः करं ग्राहितः॥ ए० ई०, ४, पृ० २४८

'महाराजाधिराज परमभट्टारक परमेश्वर' की परंपरागत पदवी धारण करते गये।[1] किन्तु कुछ उत्कीर्ण लेखोंमें तो 'महाराजाधिराज परम भट्टारक परमेश्वर परम-माहेश्वर' जैसी और भी बड़ी पदवियाँ प्राप्त होती हैं। उनका अंतिम शब्द राजाका धार्मिक सम्प्रदाय प्रकट करता है। इसमें सन्देह नहीं कि अपनी अवनतिके दिनोंमें चन्देल शासकोंने बड़ी पदवियोंका प्रयोग क्रमशः छोड़ दिया।

केन्द्रीय सरकारका संघटन

मंत्रि-परिषद्

राजाके बाद केन्द्रीय शासनके संघटनमें उसके मंत्रि-परिषद्का स्थान भारतके प्राचीन इतिहासका प्रशंसनीय उदाहरण रहा है। कौटिल्यने बहुत पहले बतलाया था कि 'राजतंत्र केवल सहयोगसे ही सम्भव है। एक पहिया अकेले चल नहीं सकता। अतः राजाको चाहिए कि मंत्रियोंकी नियुक्त करे और उनकी सम्मति सुने।'[2] ठीक उसी प्रकारकी धारणाकी अभिव्यक्ति मध्ययुगके शास्त्रकार शुक्रने भी की है जिसमें उन्होंने मन्त्रिपरिषदकी अनिवार्यता बतलाई है। 'राजाको अपने मंत्रियोंकी सहायतासे शासन करना चाहिये। जो राजा सब विद्याओंमें पारंगत और राजनीतिमें दक्ष हो वह भी नीतिकी समस्या अपने मंत्रिपरिषद्को सौंपे बिना स्वयं न समझे।' वह और भी बतलाता है कि 'कुशल शासकको तो सर्वदा अपनी परिषद्की बातोंको कार्यान्वित करना चाहिए। वैसे ही, कर्मचारियों और प्रजाके निर्णयोंका भी समादर करना चाहिए--भूलकर भी उनके मतके सामने अपनी नहीं करनी चाहिए।' मंत्री तो राज्य सँभालनेवाले स्तंभ माने जाते थे।[3] शुक्रने निरंकुशता-को और कड़ी ललकार दी है--'योग्यसे योग्य राजा भी सब बातें नहीं समझ सकता। पुरुषमें बुद्धि-वैभव भिन्न-भिन्न होता है। अतः राज्यकी अभिवृद्धि चाहने-वाला राजा योग्य मंत्रियोंको चुने अन्यथा राजाका पतन निश्चित है।'[4] इससे मध्ययुगकी शासन-प्रणालीमें मंत्रिमंडलका अनिवार्य अस्तित्व प्रकट हो रहा है। 'मंत्रिमंडल मध्ययुगीन शासन-तंत्रका भी अविच्छेद्य अंग था।'[5] पूर्णाधिकार-सम्पन्न

१. ए० ई०, भाग १०, पृ० ४८

२. तद्यद् भूयिष्ठाः कार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुः तत्कुर्यात्। अर्थ०, १, अध्या० १५

३. मंत्रिभिर्धार्यते राज्यं सुस्तंभैरिव मंदिरम्॥ पंचतंत्र, पृ० ६६

४. पुरुषे पुरुषे भिन्नं दृश्यते बुद्धिवैभवम्।
आप्तवाक्यैरनुभवैरागमैरनुमानतः।
नहि तत्सकलं ज्ञातुं नरेणैकेन शक्यते।
अतः सहायान्वरयेद्राजा राज्याभिवृद्धये॥ शुक्र० २, ८१।

मंत्रिमंडलके अस्तित्वकी पुष्टि तद्युगीन अभिलेखोंसे भी होती है। अभिलेखोंसे मंत्रियोंके नाम और उनके पदोंकी विस्तृत सूचना भी मिलती है।

चन्देल राजा कीर्तिवर्मन्के देवगढ़-पत्थर-उत्कीर्ण और धंगदेवके मऊ अभिलेख[1]-के अतिरिक्त मदनवर्मन्देवके लेखसे[2] चन्देल मंत्रियोंकी विस्तृत वंशावली मिलती है। इनसे अभिव्यक्त होता है कि चन्देल शासनमें मंत्रि-परिषद् आवश्यक अंग थी जो पर्याप्त लोकप्रिय और वैधानिक थी।

मंत्रिपरिषद्के मंत्रियोंकी नियुक्ति सर्वथा उनकी योग्यतापर ही निर्भर नहीं थी—जैसा कि चाणक्यने शताब्दियों पूर्व अपने युगके लिए कहा था। इस युगमें मन्त्रीकी नियुक्ति वंशकी प्रतिष्ठा, राजभक्ति और पहुँचपर विशेष रूपसे आश्रित थी। सामान्यतया होता तो ऐसा था कि राजा-द्वारा मंत्री नियुक्त होते थे और उनकी इच्छापर उनकी सेवा-अवधि आश्रित थी। किन्तु इस प्रकार बदली हुई स्थितिमें भी उनकी पात्रता विभिन्न कसौटियोंपर कसी जाती थी। शुक्रके अनुसार वही व्यक्ति मंत्रि-पदके लिए उपयुक्त था जो उच्च-कुलीन, देशभक्त, प्रतिष्ठित, कौशलयुक्त, दूरदर्शी, प्राज्ञ, मेधावी, निर्भीक, वाग्मी, चतुर, तीव्रमति, मनस्वी, उत्साही, धीर, शुद्ध-चरित्र, मृदु, स्नेही, स्वामिभक्त, बली, पराक्रमी, स्वास्थ्य-सम्पन्न, स्थिर-चित्त, अदीर्घसूत्री तथा शत्रुता उत्पादन न करनेवाले गुणोंसे युक्त हो।[3] प्रश्न सहज ही उठता है कि क्या शासक ऐसे ही मंत्रियोंका चुनाव करते थे?

जहाँतक चन्देल राजाओंका प्रश्न है, उनमें मंत्रियोंके चुनावमें विवेक बरतनेके अच्छे उदाहरण मिलते हैं। चन्देल मंत्रिमंडलमें मन्त्रियोंका पद बहुत कुछ पैतृक हो गया था। मदनवर्मन्के मऊ अभिलेखसे ज्ञात होता है कि एक ही वंशकी पाँच पीढ़ियोंने मंत्रिपदसे क्रमसे चन्देलवंशकी सात पीढ़ियोंकी सेवा की—प्रभास, शिवनाग, महिपाल, अनंत और उसके पुत्र गदाधरने क्रमसे धंग, गंड, विद्याधर, विजयपाल, देववर्मन्, देववर्मन्के भाई कीर्तिवर्मन्, कीर्तिवर्मनके दो पुत्र सल्लक्षणवर्मन् और पृथ्वीवर्मन् तथा जयवर्मन्का मंत्रित्व किया।[4] संस्कारसे दीक्षित मंत्रियोंकी योग्य संतानोंको मंत्रिपद देनेमें चन्देल शासकोंने बड़ी उदारता और दूरदर्शिताका परिचय दिया। वैसे ही योग्य और अनुभवी मंत्रियोंको उत्तराधिकारी शासकोंने भी अपनी परिषद्में सहर्ष स्थान दिया। इसी वंशमें मदनवर्मन्का मंत्री लाहड़ भी था। मदनवर्मन्के

---

१. डा० अल्तेकर, प्रा० भा० शा० प०, पृ० ११३

२. ई० ए०, भाग १८, पृ० २३९, श्लो० ५

३. ए० ई०, भाग १, पृ० १३८

४. वही, पृ० १९६–२०५

पौत्र परमर्दिदेवके मंत्री लाहड़के ही पुत्र और पौत्र क्रमशः सल्लक्षण और पुरुषोत्तम हुए।[1]

'स्मृतियाँ मंत्रियोंके चुनावमें ब्राह्मणको प्रधानता देती है।'[2] चन्देल शासकोंने इसका पालन किया, यद्यपि नीतिसारने इसे महत्त्वहीन बतलाया है—'जाति और कुल विवाहके समय ही पूछना चाहिए, मंत्रियोंका चुनाव करते समय नहीं।'[3] किन्तु चन्देलोंके यहाँ योग्य ब्राह्मण ही मंत्रिपदपर आसीन पाए जाते हैं। शुक्रने यह भी व्यवस्था दे दी कि यदि शूद्र भी समस्त गुणोंसे सम्पन्न हो तो सेनापतिपद तक प्रदान करनेमें हिचकना नहीं चाहिए।[4] कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस वंशके शासकोंने मंत्रियोंकी योग्यताका पूरा ध्यान रक्खा था यद्यपि उन्होंने ब्राह्मणेतर जातियोंके मंत्री नहीं बनाये। वे लोकविश्रुत ब्राह्मण, धर्मवीर, अनेक सद्गुण-सम्पन्न, सहज ही अभिभूत कर लेनेवाली वक्तृतासे संयुक्त और सूक्ष्म राजनीति संचालित करनेमें सिद्धहस्त होते थे।[5]

शासनकी दृष्टिसे प्रधान मंत्रीकी नियुक्ति बड़ी दायित्वपूर्ण और महत्त्वकी वस्तु मानी जाती थी। वे साधारणतयः राज्यके अनेक महत्त्वपूर्ण पदोंपर कार्य करके अपनी योग्यता प्रमाणित कर लेते थे। प्रभासको, जिसे मध्ययुगका आदर्श मंत्री कहा जा सकता है, बहुत जाँच और परीक्षाके उपरान्त मंत्रिपरिषद्का प्रधान बनाया गया।[6]

मंत्रिपरिषद्के सदस्योंकी संख्याके संबंधमें शुक्रसे पूर्वके आचार्य प्रायः मौन हैं लेकिन शुक्र और उत्कीर्ण लेखोंके आधारपर मंत्रियोंकी संख्या निर्धारित की जा सकती है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि मध्ययुगमें मंत्रियोंकी संख्या आवश्यकता-नुसार घटती-बढ़ती रहती थी जो सम्भवतः चारसे बारहके बीच थी। चन्देल लेखोंसे मंत्रियोंकी संख्या निर्धारित नहीं हो पाती। उनसे न्याय[7], अमात्य (माल)[8] और

१. शुक्र–२, ५२–६४

२. ए० ई०, भाग १, पृ० १६७; वही, पृ० २०८–२११

३. वही

४. प्रा० भा० शा० प०, ८, १२८

५. नैव जातिं न कुलं केवलं लक्षयेदपि । कर्मशीलगुणाः पूज्यास्तथा जाति-कुलेन च ।।
न जात्या न कुलेनैव श्रेष्ठत्वं प्रतिपद्यते । विवाहे भोजने नित्यं कुलजातिविवेचनम् ।।
शुक्र, ३, ५४–५५

६. शूद्रा वा क्षत्रिया वैश्या म्लेच्छाः संकरसम्भवाः—शुक्र २, १३९

७. ए० ई०, भाग १, पृ० १६७; वही, पृ० १३८

८. वही, पृ० २०३

१. वही, पृ० १६७

महासंधिविग्रहिक[1] तथा प्रधान मंत्रीका व्यक्तिगत रूपसे पता चलता है। निःसन्देह यह अधूरी संख्या है। तत्कालीन मंत्रियोंकी संख्या विस्तारके साथ बंगालके अभिलेखोंमें पाई जाती है। उनमें पाये जानेवाले मंत्री हैं—(१) राजामात्य, (२) पुरोहित, (३) महाधर्माध्यक्ष, (४) महासंधिविग्रहिक, (५) महासेनापति, (६) महामुद्राधिकृत, (७) महाक्षपाटलिक, (८) महाप्रतिहार, (९) महाभोजक और (१०) महापिलुपति। इन नामोंके साथ 'महा' जुटा रहना यह स्पष्ट करता है कि ये विभागोंके प्रधान भी थे। गहड़वालोंके लेखोंमें प्राप्त होनेवाले मन्त्रियोंके नाम हैं—(१) मंत्री, (२) पुरोहित, (३) प्रतिहार, (४) सेनाधिपति, (५) भाण्डागारिक, (६) अक्षपाटलिक। चेदी-शासक कर्णके लेखोंमें मंत्रियोंकी संख्या बारह बतलाई गई है।

शुक्रने परिषद्में दस मंत्रियों के रखनेकी राय दी है। मध्यकालीन राजाओंने प्रायः इसीसे मिलते-जुलते मंत्रियोंके पद रक्खे। उनके अनुसार (१) पुरोहित, (२) प्रतिनिधि, (३) प्रधान, (४) सचिव, (५) मंत्री, (६) प्राड्विवाक, (७) पंडित, (८) सुमंत्र, (९) अमात्य और (१०) दूत—ये दस मंत्री हैं।[2] चन्देल शासकोंके यहाँ भी इसीसे मिलती-जुलती व्यवस्था थी यद्यपि यह संख्या रूढ़ नहीं थी—जैसा कि ऊपर बतलाया गया है।

विभिन्न विभागों का संघटन

जैसा कि पहले बतलाया गया है, नीतिशास्त्रके आचार्योंमें केवल शुक्रने ही मंत्रियोंसे संबंधित विभिन्न विभागोंका विस्तृत ब्यौरा उपस्थित किया है, जिससे उस युगके इतिहासका बड़ा उपकार होता है। अभिलेखोंसे भी प्रमाणित होता है कि यद्यपि राजा समस्त विभागोंका सर्व-प्रधान था किन्तु उसके मंत्री अलग-अलग एक-एक विभागके प्रधानके रूपमें उसके सहायक थे। पुरोहितकी मान्यता आज भी सर्वोत्तम थी। उसका पदग्रहण भी समारोहके रूपमें होता था, जो वैदिक विधिविहित था।[3] किन्तु उसके प्रभुत्व और राजनीतिक अधिकार-सीमामें अवश्य कमी आ गई थी क्योंकि उसकी गणना मंत्रिमंडलसे बाहर होने लगी थी।[4] 'प्रतिनिधि' भी एक मंत्री था जो वस्तुतः युवराज ही हुआ करता था। वह राजाकी अनुपस्थितिमें उसकी ओरसे उसके स्थानपर काम करता था।[5] 'प्रधानमंत्री'के पास भी शासनका एक विभाग रहता था।[6] उसका पद बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था।

१. वही, भाग १४, पृ० १५९
२. शुक्र–२, पृ० ७०
३. प्रा० भा० शा० प०, ८, पृ० ११७–डा० अल्तेकर।
४. शुक्र, २,७२
५. प्रा० भा० शा० प०, ८, पृ० ११८–डा० अल्तेकर।
६. ई० ए०, १९, पृ० २१८

शुक्रने बतलाया है--'सर्वदर्शी प्रधानस्तु'। चन्देल लेखोंमें इसके लिए 'मंत्रीन्द्र' आया है। कीर्तिवर्मन्का मंत्रीन्द्र वत्सराज था।[1]

शुक्रकी सूचीमें 'सचिव' युद्ध-मंत्री था। सेनाके समस्त विभागोंकी व्यवस्था करना, उनमें युद्धशक्ति बराबर प्रदीप्त रखना और दुर्गोंका पूर्ण यथोचित प्रबन्ध[2] उसका कार्य था। 'मंत्री' के लिए शिलालेखोंमें 'महा-संधि-विग्रहिक' शब्द आया है। यह परराष्ट्र-मंत्री था। मध्ययुगमें परराष्ट्र-मंत्रीका कार्य बड़ा कठिन था, क्योंकि भारतके बाहरकी सत्ताएँ तो थी हीं, स्वयं देशके भीतर अनेक सत्ताधारी राजे थे जिनसे समयानुसार संबंध-स्थापन और विच्छेद करना पड़ता था। इस मंत्रीमें साम, दाम, दण्ड, और भेदकी नीतिकी पटुता नितांत आवश्यक थी।[3] न्याय-विभागका दायित्व 'प्राड्विवाक' के ऊपर था। एक मंत्रीका नाम 'पंडित' था जिसके जिम्मे धर्म और सदाचारके विभाग थे। मठ, पाठशाला और विद्यालयोंको दान देनका कार्य भी इसके हाथमें था।[4] 'सुमंत्र' के साथ कोषविभाग था। शिलालेखोंमें इसे 'भांडागारिक' कहा गया है। एक और महत्त्वपूर्ण विभाग मालका था। इसका मंत्री 'अमात्य' था। वह भूमिकरके अतिरिक्त नगर, ग्राम, जंगलों और उनसे होनेवाली आयका लेखा रखता था। खानें भी इसीके जिम्मे थीं।[5]

महत्त्वके विभाग तो माल अथवा अर्थ, न्याय, सेना और धर्म-सदाचारके थे, किन्तु शासनमें प्रत्येक विभागके मंत्रीका मूल्यवान् योग था। शुक्रने बतलाया है कि मंत्रियोंके समस्त तर्कोंके साथ उनकी लिखित राय लेकर तथा उनकी परस्पर तुलना करके राजाको स्वयं सब समझना चाहिए और जो मत अधिक पुष्ट होता हो उसे ही कार्यान्वित करना चाहिए। योग्य मंत्रियोंके पास एकसे अधिक विभाग भी रहते थे।[6] चन्देल शासक विजयपालका मंत्री महिपाल अकेले कई महत्त्वपूर्ण विभागोंका कार्य संभालता था।[7] उसी लेखसे कीर्तिवर्मन्के मंत्री अनंतके संबंधमें ज्ञात होता है कि 'वह राजाकी अत्यंत विश्वस्त और गोपनीय मंत्रणामें था। वह निरंतर अश्व और हस्तिसेनाका नायक था.....नगरकी सेनाओंका व्यवस्थापक था। किस विषयके लिए वह राजाका गृहीत मंत्री नहीं था ?' इससे यह भी स्पष्ट

१. वही, १८, पृ० २३६

२. शुक्र, २, ६५

३. शुक्रनीति---२, ६५

४. प्रा० भा० शा० प०, पृ० १२१---डा० अल्तेकर

५. शुक्र---२, १०३-५

६. अधिकारबलं दृष्ट्वा योजयेद्दर्शकान् बहून्।
आधिकारिणमेकं वा योजयेद्दर्शकैर्विना ॥---शुक्र--२, १०६-११५

७. ए० इं०, पृ० २०८, श्लो० २८-२९

होता है कि अपने विभागके साथ-साथ योग्य मंत्री आवश्यकता पड़नेपर और अनेक विभागोंका कार्य भी सँभालते थे।

शुक्रनीतिसे तत्कालीन मंत्रिमंडलोंके दैनिक कार्योंका विवरण मिलता है। एक मंत्रीके पास दो दर्शक या सहायक (सेक्रेटरी) रक्खे जाते थे। आवश्यकता पड़नेपर संख्या और बढ़ा ली जाती थी। योग्यता प्रदर्शित करनेपर 'दर्शक' भी मंत्रिपद प्राप्त कर लेता था। मंत्री एक विभागसे दूसरे विभागमें बदले भी जाते थे।[1]

प्रांतीय शासन

शासन-व्यवस्थाको अत्यधिक प्रभावकारी और सुदृढ़ बनानेके लिए चन्देल-शासकोंने अपने साम्राज्यको क्रमिक रूपसे भागों और उप-भागोंमें विभाजित कर दिया था। जैसा कि इस समयके दानपत्रोंसे ज्ञात होता है, अन्य साम्राज्योंमें भी शासकीय दृष्टिसे इसी प्रकारके विभाजन किये गये थे। चन्देलोंके यहाँ आजके जैसे प्रांत अथवा प्रदेश नहीं बनाये गये थे। सम्पूर्ण साम्राज्य भुक्तियोंमें बँटा था। भुक्ति आधुनिक कमिश्नरियों जैसी होती थीं। विभिन्न राज्योंमें इनका आकार-विस्तार छोटा-बड़ा होता था। भुक्तियाँ विषयोंमें और विषय मंडलोंमें बँटे थे। विषय और मंडल आधुनिक जिलों और तहसीलोंसे मिलते-जुलते थे। मंडलोंके आकार-स्वरूप बदलते रहते थे। कोई-कोई मंडल अत्यंत छोटे होते थे।[2] कीर्तिवर्मन्‌के देवगढ़ अभिलेखसे प्रकट होता है कि शासकीय दृष्टिसे मंडलोंका बड़ा महत्त्व था। किलहौर्नने ऐसा समझा था कि मंडल आधुनिक जिलोंके रूप थे—किन्तु यह उसका भ्रम था। गाँव शासकीय विभाजनकी सबसे छोटी इकाई थे और उनका महत्त्व भी असाधारण था।

प्रांतीय और केन्द्रीय सरकारमें सम्बन्ध

भुक्तिका शासक केन्द्रीय सरकार-द्वारा नियुक्त किया जाता था और वह अपने अधीन विषयोंके शासक और कर्मचारी नियुक्त करता था। जैसा कि चन्देलोंके प्रारम्भिक उत्कीर्ण-लेखोंसे ज्ञात होता है, विषयों और मंडलोंके प्रधान कार्यालय नगरोंमें होते थे। ये नियुक्तियाँ निःसन्देह केन्द्रीय सरकारके अनुभवी और उत्तरदायी कर्मचारियोंमेंसे होती थीं। इससे यह भी लक्षित होता है कि प्रांतीय सरकारें सीधे केन्द्रके—राजाके—अधीन और निरीक्षणमें रहती थीं।

भुक्तिके लिए नियुक्त प्रमुख कर्मचारीको 'राजस्थानीय' (वायसराय) कहते थे। दक्षिण भारतके दानपत्रोंमें 'राजस्थानीय' को 'राष्ट्रपति' कहा है। विषयका शासक 'विषयपति' कहा जाता था। विष्णुस्मृतिके अनुसार जिलेका मालिक 'देशाध्यक्ष'

१. द्वौ दर्शकौ तु तत्कार्ये हायनैस्तान्निवर्तयेत् ।
त्रिभिर्वा पंचभिर्वापि सप्तभिर्दशभिश्च वा ॥—शुक्र–२, १०९

२. ए० ई०, २, पृ० १०९; ई० ऐ०, ६, पृ० १९३–४

कहा जाता था।[1] शुक्रने भी यही मत प्रकट किया है।[2] किन्तु जायसवालजीने एक बिलकुल अलग मत प्रकट किया है। उनका कथन है कि 'देशाध्यक्ष' अथवा 'देशाधिप' देशकी व्यवस्थापिका सभाके अध्यक्ष थे। किन्तु यह मत अन्य साधनोंसे प्रमाणित नहीं होता। मंडलोंके शासकको कुछ ताम्रपत्रोंके अनुसार 'भोगपति' कहा जाता था।

विभिन्न पदोंपर आसीन कर्मचारियोंकी प्राप्त नामावलीसे भी तत्कालीन शासनके संघटनकी उत्कृष्टताका परिचय मिलता है। यद्यपि प्रत्येक कर्मचारीके कार्य, अधिकार और सीमाका निर्धारण तो ठीक-ठीक करना कठिन है, परन्तु उनसे सुसंघटित व्यवस्थाका आभास अवश्य मिलता है। चन्देल अभिलेखोंसे बहुत अधिक कर्मचारियोंके नाम नहीं प्राप्त होते हैं। अतः अन्य समकालीन वंशोंके अभिलेखोंसे उसकी पूर्ति की जा सकती है। धर्मपालके सलीमपुर ताम्र-पत्रसे, जिसमें शासकने दान देते हुए आदेश निकाला है, राजपूत युगके कर्मचारियोंकी सूची प्रस्तुत की जा रही है —

(१) राजक — (सामंत शासक)।
(२) राजानक — (सरदार)।
(३) राजपुत्र — (राजकुमार-उत्तराधिकारी)।
(४) राजामात्य — (राजकीय मंत्री)।
(५) सेनापति — (सेनाका नायक)।
(६) विषयपति — (विषयका शासक)।
(७) षष्ठाधिकृत — (उपजके षष्ठ भागका व्यवस्थापक)।
(८) दण्डपाशिक — (रक्षाविभागका कर्मचारी)।
(९) चौरोद्धरणिक — (चोरोंसे रक्षा-नियोजन करनेवाला पुलिस कर्मचारी)।
(१०) दौहसाध-साधनिक — (गाँवोंका व्यवस्थापक)।
(११) दूत ... ...
(१२) खोल ... ...
(१३) गमागमिक ... ...
(१४) अभीत्वरमिक ... ...
(१५) नौकाध्यक्ष — (नौ-सेनाके निरीक्षक)।
(१६) बलाध्यक्ष — (सेना-निरीक्षक)।
(१७) तरिक — (चुंगीका उप-निरीक्षक)।

---

१. 'शताध्यक्षान् देशाध्यक्षांश्च'—विष्णु. ३, पृ० ७–१०
२. चतुर्दिक्ष्वथवा देशाधिपान् सदा कुर्यात् नृपः
शुक्र १, ३४७

(१८)	शौल्किक	(चुंगीका बड़ा कर्मचारी)।
(१६)	आटविक	(चन्देल अभिलेखोंमें--वनका कर्मचारी)।
(२०)	गौल्मिक	(सेनाका एक कर्मचारी)।
(२१)	विनियुक्तक	... ...
(२२)	महामहत्तर	... ...
(२३)	ज्येष्ठ कायस्थ	(कागज आदि रखनेवाला प्रधान कर्मचारी)।
(२४)	महत्तर	(गाँवका वृद्ध)।
(२५)	दशग्रामिक	(दश गाँवोंके समूहपर रहनेवाला कर्मचारी)।
(२६)	करण	(आय-व्ययका कर्मचारी)।

बंगालके सेन शासक चन्द्रवर्मन्के ताम्रपत्रसे कुछ और कर्मचारियोंका परिचय मिलता है --

(२७)	राणक	(सामंत राजे)।
(२८)	पुरोहित	... ...
(२६)	महाधर्माध्यक्ष	(प्रमुख विचारपति)।
(३०)	महाक्षपटलिक	(कागज-पत्र रखनेवाला बड़ा कर्मचारी)।
(३१)	महाप्रतिहार	(प्रमुख पालक)।
(३२)	महाभोगिक	(प्रमुख अश्वपाल)।
(३३)	महापिलुपति	(हाथियोंका प्रमुख कर्मचारी)।
(३४)	अंतरंग	(राजकीय चिकित्सक)।
(३५)	महासर्वाधिकृत	... ...
(३६)	कोट्टपाल	(दुर्गका अध्यक्ष)।

यह सूची किसी भी प्रकार पूर्ण नहीं है क्योंकि जिन अभिलेखोंसे ये नाम लिये गये हैं, उन्हींके अंतमें अंकित है--'राजाके और अन्य कर्मचारी'। इससे यह स्पष्ट होता है कि शासन-परंपराकी प्राचीन आत्मा अब भी वर्तमान थी और विधानकी वह रूप-रेखा अक्षुण्ण थी, यद्यपि उसमें क्रमशः पर्याप्त परिवर्तन हो चले थे। मंत्रिमंडल तो शासनकी प्रमुख प्रणालियाँ बनाता चलता था और कर्मचारी-वर्ग उसे कार्यान्वित करता था। कर्मचारी-समुदायके शीर्षपर विभागीय अध्यक्ष होते थे जिनके अधिकार और पद-गौरवमें विभिन्न साम्राज्यों और विभिन्न युगोंमें कुछ हेर-फेर होते रहते थे। उनके कार्योंके सामान्य स्वरूपका परिचय तो उनके पदोंके नामसे ही पर्याप्त मिल जाता है। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं कि जिन कर्मचारियोंके नाम आदरपूर्वक बंगालके ताम्र-पत्रों पर अंकित प्राप्त हुए हैं, वे थोड़े-बहुत परिवर्तनके साथ अन्य विशिष्ट साम्राज्योंमें भी वर्तमान थे। ये कर्मचारियोंके नाम इस बातको प्रमाणित करते हैं कि राजपूत युगमें सेनाकी शासन-व्यवस्था पर्याप्त उन्नति कर

गई थी और सभ्य तथा वैज्ञानिक सरकारोंके प्रायः सभी विभागोंका उसमें सन्निवेश हो गया था।

स्थानीय शासन

गाँव मध्ययुगमें शासनकी अंतिम और सबसे छोटी इकाई थे। क्रमशः उनका विकास प्रत्येक दृष्टिसे यहाँतक हो गया था कि वे स्थानीय स्व-शासनके रूपमें पूर्ण हो गये थे। गाँवोंकी महत्ता सर्वोपरि प्रतिष्ठित थी। गाँवोंके प्रधानके लिए विभिन्न राज्योंमें भिन्न-भिन्न शब्द प्रयोगमें लाये गये मिलते हैं। इसे पट्टलिक, ग्रामपति, ग्रामकूट, महत्तक या महंतक कहा जाता था। सामाजिक प्रतिष्ठा, लोकसेवा एवं शासकीय दृष्टिसे यह पद बड़े ही महत्त्वका था। शुक्रने कहा है कि वह ग्रामवासियोंके माता-पिताके समान था।[1]

ग्राम-प्रबंधके लिए एक नियमित ग्राम-सभा थी जो ग्राम-पंचायतके स्वरूपमें कार्य करती थी। सभाके सदस्योंको गाँवमें उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त थी—इसके प्रमाण प्राचीन समयसे ही अविकल रूपसे मिलते हैं। सदस्योंकी आयु तथा अवधि निर्धारित थी। ग्राम-प्रधानका पद सामान्यतया पैतृक हो चला था।

महत्त्वकी बात यह है कि जहाँतक गाँवों और राज्यके बीच संबंधका प्रश्न था, स्पष्टतया दो प्रकारके गाँव राजपूत युगमें वर्तमान थे। प्रथमतः वे गाँव जो सीधे राज्याधीन थे, दूसरे वे जो प्रतिग्राहकोंके अधीन थे। प्रतिग्राहकोंके गाँवोंमें राजा अथवा उसके कर्मचारियोंके किसी प्रकारके शासकीय अधिकार नहीं रह जाते थे।[2] ऐसा अनुमान होता है कि ऐसे गाँवोंमें स्वायत्तका शासन नहीं था। परन्तु सीधे राज्याधीन रहनेवाले गाँवोंकी व्यवस्था उपर्युक्त विधिसे ग्राम-सभा-द्वारा होती थी। विविध कार्योंका दायित्व वहन करनेके लिए सभाधीन कई उपसमितियाँ होती थीं। "मध्यकालीन कई लेखोंमें इसे 'पंचकुली' कहा गया है।"[3] इन उप-समितियोंको कौनसे अधिकार प्राप्त थे यह निश्चयात्मक रूपसे नहीं कहा जा सकता। परन्तु उपलब्ध साधनोंसे प्रकट होता है कि रक्षा, भूमि-वितरण, उद्योग तथा न्याय ही उनके महत्त्वके कार्य थे। कहीं-कहीं कर-संग्रहका कार्य भी उन्हें करना पड़ता था। अकाल आदि दैवी आपत्तियोंमें निवारण-कार्य, कृषि-उन्नति, देवालयोंका प्रबन्ध तथा कहीं-कहीं शिक्षाका काम भी गाँवोंकी व्यवस्थाके अधीन ही छोड़े गये थे। सार्वजनिक हितके अन्य कार्य भी यथा-समय उनके द्वारा किये जाते थे। विशिष्ट लोगोंकी सभाके भीतर एक कार्यकारिणी भी होती थी।

---

१. शुक्र० २, ३४३

२. ई० ए०, भाग १६, पृ० २७७

३. प्रा० भा० ना० प०, ११, १७८

परमर्दिदेवके सेमरा (वि० सं० १२३३) ताम्र-पत्रसे ज्ञात होता है कि गाँवों-की व्यवस्था ऐसी सुचारु थी कि वे सर्वथा आत्मनिर्भर थे। प्रत्येक गाँवमें रक्षक, दूत, वैद्य-चिकित्सक, ज्योतिषी, मेद और चाण्डाल आदि रहते थे।[१] गाँवोंमें ग्रामपति और रक्षकोंके अतिरिक्त अन्य कई प्रकारके कर्मचारियोंके होनेकी सूचना परमर्दिदेवके महोबा-पत्रसे मिलती है।[२] किन्तु उनका तादात्म्य करना कठिन प्रतीत होता है।

जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, केवल अग्रहार गाँवोंको छोड़कर समस्त गाँव राज्याधीन थे। अग्रहार गाँवोंसे राजकीय कर्मचारी और उनका दायित्व सब हटा लिया जाता था। किन्तु अग्रहार गाँवोंकी व्यवस्था अपेक्षाकृत और उत्तम थी, क्योंकि उसमें अधिकतर ब्राह्मण एवं शिक्षित लोग रहते थे। ग्राम-व्यवस्था-संबंधी समस्त कागज गाँवोंमें ही रक्खे जाते थे। इस कर्मचारीको करणिक कहा जाता था। "स्थानीय संस्थाओं और देवालयोंका हिसाब-किताब जाँचनेके लिए प्रतिवर्ष केन्द्रीय शासनालयसे विशेष कर्मचारी भेजे जाते थे।"[३]

तत्कालीन नगर-व्यवस्थाके संबंधमें कोई विशेष साधन प्राप्त नहीं है जिनसे शासनकी जानकारी की जा सके। किन्तु इतना सुनिश्चित है कि गाँवोंकी भाँति नगरोंकी व्यवस्था—विशेष रूपसे प्रमुख नगरोंकी व्यवस्था—स्वायत्त समितियों-द्वारा ही होती थी। बड़े नगरोंके पास तो रक्षाके निमित्त उनकी सेना होती थी। मदनवर्मन्‌के मऊ अभिलेखसे ज्ञात होता है कि कीर्तिवर्मन्‌का सुविख्यात अमात्य अनंत, नगर-सेनाका अधीक्षक भी था।[४] इससे यह सूचना तो प्राप्त होती ही है कि चन्देलोंकी राजधानियों—महोबा, खजुराहो और कालंजरका शासन स्थानीय व्यवस्थाके माध्यमसे होता था।

अर्थ-व्यवस्था

आय

अब तत्कालीन व्यवस्थाके कुछ महत्त्वपूर्ण विभागोंका वर्णन प्रस्तुत किया जायगा। जैसा कि कौटिल्यने कहा है, किसी राज्यके बल और प्रभुताका परिचय उसके दो ही अंगोंसे विशेषतया मिलता है—सेना और कोष। यदि चन्देलोंकी आर्थिक सम्पन्नतापर विहंगम दृष्टि डाली जाय तो ज्ञात होगा कि भारतीय शासकों और विदेशी आक्रमणकारियोंके विरुद्ध बराबर युद्धरत रहनेपर भी चन्देल शासकों-की आर्थिक अवस्था कभी भी दुर्बल नहीं हुई। तुर्कोंकी लूट समाप्त होनेके बाद

१. 'दूतवैद्यमहत्तरान्मेदचाण्डाल' ए० ई०, भाग ४, पृ० १५३
२. वही, भाग १६, पृ० १२, श्लो० ६
३. प्रा० भा० शा० प०, ६, १३८
४. ए० ई०, भाग १, पृ० २०५

भी वे स्वर्णके उच्च कोटिके सिक्के प्रचलित करते रहे और अपने शासनके अंतिम दिनोंतक न केवल विशाल सेना रखते रहे बल्कि उदारता और लोकहितके कार्योंसे अपने वंश-परंपराकी इकाईको अद्वितीय बनाये रहे। इसका एक ही आधार था कि उनके कोषमें अन्यान्य साधनोंसे प्रभूत धन निरंतर आता रहा।

अर्थका प्रधान कर्मचारी महाक्षपाटलिक था, जिसके अधीन बहुतसे उप-विभाग संचालित होते थे। कहीं-कहीं उसे कोषाध्यक्ष भी कहा गया है जिसे शुक्रने 'वित्ताधिप' कहा है।[1] आयके विभिन्न साधनोंके नियंत्रणके लिए अन्य सहायक कर्मचारी थे। जैसा कि कुछ चन्देल और गहड़वाल दान-पत्रोंसे प्रकट होता है, आयके साधन विविध थे। जलाशय, परती भूमि, पत्थर, पहाड़, नदियाँ, वन, आम और महुएके वृक्ष, खनिज, नमक आदि सभी उत्तम आयके साधन थे और इनपर राजकीय प्रभुता स्थापित थी। परन्तु प्रमुख एवं प्रभावकारी आयका माध्यम भूमि थी। करोंके लिए जिन शब्दोंका सामान्यतया प्रयोग हुआ है, वे हैं—भाग-भोग, कर और हिरण्य। भूमिकर परंपरा-विहित क्रमसे ही लिया जाता था—उपजका छठा भाग जो अधिकतर अन्न, तेल, ईंधनके रूपमें ही राजकोषमें संग्रह होता था। स्थान-स्थानपर राज्यकी विशाल खत्तियाँ या कोठियाँ होती थीं, जहाँ भूमिकरमें मिले अन्न आदिका संचय किया जाता था।[2] इन खत्तियोंकी व्यवस्था करनेके लिए राजकीय अधिकारी होते थे, जो देख-रेख रखते थे।[3] प्रमुख कर्मचारी कोष्ठागाराध्यक्ष कहा जाता था जिसे शुक्रने धान्याध्यक्ष कहा है। भूमिकरको प्रायः उद्रंग कहा जाता था। भूमिका निवर्तन (पैमाइश) होता रहता था। परन्तु कहीं-कहीं भूमिका विस्तार प्रकट करनेके लिए हलोंसे संबंध बतलाया गया है—बहुधा अग्रहार भूमियोंके लिए—जैसे इतने हलोंसे जोती जानेवाली भूमि। मदनवर्मन्के दानपत्रसे इसके प्रमाण मिलते हैं।[4] भूमि अथवा गाँव बेचे या खरीदे जा सकते थे, जैसा कि परमर्दिदेवके सेमरा दानपत्रसे स्पष्ट ज्ञात होता है।[5] ऐसे भूमि-विनिमय राजकीय लेखोंमें अंकित हो जाते थे और समय-समयपर उनकी जाँच होती रहती थी।[6] दानकी भूमि प्रायः ताम्र-पत्रोंपर अंकित कर दी जाती थी और दाता राजा स्वयं उसपर 'स्वहस्त'[7] लिखते हुए हस्ताक्षर कर देता था। इससे यह भी प्रकट हो

---

१. शुक्र० २, ११८
२. प्रा० भा० शा० प०, १२, १६६
३. शुक्र० ४, २–२६
४. ई० ऐ०, भाग १६, पृ० २०८
५. ए० ई०, भाग ४, पृ० १५३—दानाधानविक्रयं कुर्वतां बाधा न केनचित् कर्त्तव्या।
६. हिस्ट्री औफ़ हिन्दू मेडिवल इण्डिया, भाग १, पृ० २३६
७. ई० ऐ०, भाग १४, पृ० ३४६

रहा है कि ऐसे लेखे—विशेषतया राजकीय बड़ी सावधानीसे सुरक्षित रखे जाते थे और नियमानुकूल ही उन्हें प्राप्त किया जाता था।

जलाशय, गड्ढे, न जोतने योग्य भूमि, गर्त्ता और ऊसर जमीन भी आयकी दृष्टिसे उपादेय थी। जैसा कि चि० वि० वैद्यका कथन है—इनपर राज्य और ग्रामीणोंका सम्मिलित अधिकार था। प्रत्येक गाँवका अपना चरागाह था, जिसमें गाँवके पशु निःशुल्क चरते थे। सन् ११६६ के परमर्दिदेवके एक दानपत्रसे प्रकट हो रहा है कि गन्ने, कपास और सनईकी खेती तथा आम और महुएके फलोंपर सामान्य करतक नहीं लिया जाता था। पशुपालन प्रमुख व्यवसाय था। अति प्राचीन समयसे ही इसपर कर था। शुक्रने इस उद्योगपर ६ से १८ प्रतिशत कर लेनेकी अनुमति दी है जो वर्षभरकी वृद्धिपर लिया जाता था।[1]

आयके दूसरे प्रमुख साधनोंमें खान थी। पत्थर, लोहा, जवाहरात एवं नमक सब राजकीय सम्पत्ति थे। सामान्यतया 'सब खानें राजकीय समझी जाती थीं। कुछको राजा स्वयं खुदवाते और कुछ ठीकेदारोंसे।'[2] ठीकेदारोंसे इन पदार्थोंपर जो कर लिए जाते थे—उसके संबंधमें शुक्रका कथन है कि सोने और हीरेपर ५०%, चाँदी और ताँबेपर ३३% और अन्य धातुओंपर १६ से २५ प्रतिशततक लिया जाना चाहिए।[3] नमकपर राज्य विशेष कर लगाता था। इसका एक विशेष कर्मचारी भी राज्यमें था जो नमककी आयका दायित्व रखता था। कुछ उद्योगोंपर कर नहीं था। कारीगरोंको महीनेमें दो दिन सरकारके यहाँ अपने ही उद्योग-संबंधी काम करने पड़ते थे। शुक्रनीतिमें ऐसे उद्योगोंकी अलग चर्चा की गई है।

चन्देल-साम्राज्यके लिए वन और पर्वत-विभूतियाँ भी महत्त्वपूर्ण आयका साधन थीं। यही कारण है कि दान-पत्रोंमें बराबर इसकी चर्चा की गई है। इस उपविभागका दायित्व एक विशेष अधिकारीको प्राप्त था, जिसे तरिक कहा जाता था। वह इसी कार्यका निरीक्षक होता था। राजकीय वन-विभाग, पशुपालन तथा गोशालाओंकी देख-रेख करनेवाला बड़ा कर्मचारी आटविक कहलाता था। परमर्दिदेवके एक दान-पत्रसे ज्ञात होता है कि इस कर्मचारीके अधीन कार्य करनेवाले सभी छोटे कर्मचारी चाट कहे जाते थे। ये सभी कर्मचारी और जन-सेवक दानपत्रोंके द्वारा परिवर्तित वनोंके स्वत्वकी बराबर जानकारी रखते थे क्योंकि उन्हें उसके संबंधमें कार्य करना पड़ता था।[4] किन्तु कुछ ऐसे भी राजकीय वन थे जिनमेंसे प्रजाको लकड़ी काटनेके

---

१. प्रा० भा० शा० प०, १२, २०४

२. प्रा० भा० शा० प०, १२ पृ० २०४

३. शुक्र० ४, २, ११८–१९

४. 'अत्र च राजा राजपुरुषाटविकचाटादिभिः'—ए० ई० भाग १०, पृ० ४४–४८।

लिए छूट थी।[1] भूमि और वनस्पतिकी सब आयका संग्रह जिस प्रमुख कर्मचारी-द्वारा होता था वह षष्ठाधिकृत कहलाता था।

राज्यका आय भरनेवाली एक धारा सामान्य करों और चुंगियोंकी थी जो नागरिकोंसे विभिन्न अवसरोंपर ली जाती थी। विविध अवसरोंपर लिये जानेवाले करोंके अलग-अलग नाम प्रचलित थे, उदाहरणार्थ—सोद्वेग, सोपरिकर, सदशापराध, सभूतवाट-प्रत्याय, सोत्पद्यमानविष्टिक, साधन्यहिरण्योदक। सिक्केके रूपमें जो कर लिए जाते थे उन्हें हिरण्य कहते थे। यह कर उत्पादित वस्तुओंके क्रय-विक्रय और लाभपर लगता था। नगरों और बड़े ग्रामीण बाजारोंके बाहरी भागोंपर इसके निमित्त मंडपिक (चुङ्गी-घर) बने थे। यहाँ लाभका लगभग पचासवाँ भाग लिया जाता था। सरकार जो पचासवाँ भाग लेती थी, उसके अलावा सार्वजनिक हितों तथा दान-खातोंके लिए अन्य छोटे-छोटे कर लगते थे। इसी प्रकार क्रय्य द्रव्योंपर भी शुल्क लिया जाता था। प्रत्येक विषय और मंडलमें एक महत्त्वका कर्मचारी शौल्किक रहता था। इन विस्तृत व्यवस्थाओंका अवलोकन करनेसे ज्ञात होता है कि अर्थविभागका प्रबंध उत्तमोत्तम था।

न्यायालयोंमें अर्थदण्ड भी सजा देनेका एक गृहीत माध्यम था। इस प्रकारसे प्राप्त सम्पत्ति राजकीय कोशकी नियमित आय थी।

उपर्युक्त साधनोंके अतिरिक्त अन्य कई छोटे-मोटे कर भी लगते थे, जिनका उल्लेख गहड़वालोंके दान-पत्रोंमें मिलता है। इनमेंसे कुछ कर तो स्थायी थे। कुछके नाम इस प्रकार हैं—कूटक, दशबंध, विंशत्यप्रस्थ, अक्षपाटलिकप्रस्थ, प्रथिहार-हारप्रस्थ, आकर्स, तुरुष्क-दण्ड और वरवज्ञे आदि। इन सबका ठीक-ठीक परिचय प्राप्त करना कठिन है। किन्तु इतना निश्चित रूपसे बतलाया जा सकता है कि चन्देलोंने तुरुष्कदण्ड नहीं लगाया था—यह कर तुर्क आक्रमणकारियोंके आक्रमणसे मुक्ति पाने तथा अर्थसे स्वतंत्रता क्रय करनेके लिए प्रजापर लगाया जाता था। कुछ अस्थायी प्रकृतिके भी कर समय-समयपर लगते थे किन्तु उनके लगनेका स्पष्ट संकेत चन्देल आलेखोंमें नहीं प्राप्त होता।

आयका एक और भी साधन था जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह साधन था युद्धमें अपहृत दूसरे राज्योंकी सम्पत्ति तथा अधीनस्थ सामन्तों एवं राजाओं-द्वारा भेंटमें दिये गये उपहार। मदनवर्मन्‌का मऊ अभिलेख प्रकट करता है कि राजे उसे भेंट और उपहार समर्पित करते थे और बदलेमें चन्देल राजा उनकी रक्षा तथा सुखोन्नतिका भार लेता था।

कुछ वस्तुओंपर राज्यका एकाधिकार स्थापित था, उदाहरणार्थ—अस्त्र-शस्त्रोंके निर्माण तथा सिक्कोंके निर्माणपर।

---

१. हिस्ट्री औफ़ हिन्दू मेडिवल इण्डिया, भाग १, पृ० १३५

चन्देल शासकोंके अगणित संख्यामें प्राप्त सभी अभिलेख इस बातको द्योतित करते हैं कि चन्देलोंने कभी भी प्रजापर अनुचित एवं अप्रिय कर नहीं लगाए। करके संग्रहमें भी कभी कठोरता नहीं बरती जाती थी। उनमें इस बातकी सद्भावना सर्वदा बनी रही कि केवल उचित कर ही लगाए जायँ।[१]

व्यय

चन्देल-व्यवस्थामें व्ययके मद कौन-कौनसे थे और किसको विशेष महत्त्व दिया जाता था, इसकी जानकारीके केवल सामान्य साधन ही उपलब्ध हैं। इस देशके पिछले आचार्योंने कोई निर्धारित सुझाव नहीं दिया था, किन्तु शुक्रने व्ययके मदोंका निर्धारण आयके प्रतिशतपर किया है। उनके अनुसार व्ययका ब्यौरा नीचे लिखे अनुसार होना चाहिए—

(१)	सेना (बलम्)	आयका ५०	प्रतिशत
(२)	दान-धर्म (दानम्)	,, ८	,,
(३)	जन-हित (प्रकृतयः)	,, ८	,,
(४)	शासन-व्यय (अधिकारिणः)	,, ८	,,
(५)	राज्य-परिवार (आत्म भोग)	,, ८	,,
(६)	कोष (सुरक्षित)	,, १६	,,

दानम् और प्रकृतयः दोनों जन-हित-कार्योंकी मदें थीं। डा० घोषालने अपनी टीका-में प्रकृतयःका अर्थ मंत्री-अमात्यवर्गपरका व्यय लगाया है।[२] किन्तु यह उपयुक्त नहीं जान पड़ता।

चन्देलोंका व्यय भी बहुत कुछ इसके ही अनुरूप था। वे सर्वदा निर्णयकारी युद्धोंमें संलग्न रहे—इसलिए उन्हें एक विशाल स्थायी सेना रखनी पड़ती थी। फलतः राजकोषका अधिकतम भाग इसी विषयमें खर्च होता था। शासन-संघटनमें राज-कर्मचारियोंकी संख्या भी बड़ी विशाल थी। उन्हींपर शासन-संघटन अवलंबित था। व्ययकी दूसरी महत्त्वपूर्ण मद यही मानी जाती थी। व्यवस्था सामन्तवादी थी इस-लिए बहुत कम कर्मचारियोंको सिक्कोंमें वेतन दिया जाता था। राज्यके बड़े-बड़े कर्मचारियोंको उनकी सेवाओंके उपलक्षमें भूमि या गाँव दिये गये थे—ऐसा कई ताम्र-पत्रोंसे प्रतिभासित होता है। इन्हीं कारणोंसे अनेक पद पैतृक हो चले थे। सामान्यतया कला एवं वास्तुमें सभी चन्देल-शासकोंका अनन्य अनुराग था। वस्तुतः उनकी आयका एक भाग मंदिरों, सरोवरों और दुर्गोंके निर्माणमें व्यय होता था।

जनहितके विविध कार्योंके लिए चन्देलोंके यहाँ एक पूर्ण विकसित विभाग था, जिसमें विपुल संपत्ति लगाई जाती थी। मदनवर्मन्देवका अभिलेख पृथ्वीवर्मन्के

---

१. ए० ई०, भाग १, पृ० २०३

२. हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ० १६१

संबंधमें लिखते हुए बतलाता है कि 'वह वैध साधनोंसे कोष संग्रह करके जन-हितके मनोनीत पवित्र कार्योंपर उदारतापूर्वक लगाता था--स्वर्णयुगका एक दृश्य उपस्थित था।'

न्याय-व्यवस्था

महत्त्व

हिन्दू राज्य-शासनके आदर्शोंके अनुसार न्याय-व्यवस्थापन राज्यका महत्त्वपूर्ण कार्य माना गया है। मनुके अनुसार हिन्दू राजे 'स्वयं प्रजाके न्यायकी व्यवस्था करते थे और प्रातः न्यायालयमें बैठकर अभियोग सुनते थे।' वस्तुतः यही अवस्था मध्य-युगमें भी वर्तमान थी जैसा कि राजतरंगिणीसे ज्ञात होता है।[1]

न्यायका आधार

प्राचीन और अर्वाचीन सामाजिक व्यवस्थाओंमें यदि कोई अत्यंत स्पष्ट भेद देखना चाहें तो वह न्याय-संबंधी उनकी धारणाओं और विधान-संबंधी उनकी मान्यताओंमें सर्वाधिक मिलेगा। हिन्दू-शासनमें वैधिक अथवा वास्तविक विधान एवं नैतिक विधानमें कोई नियत अंतर नहीं माना गया था। यहाँ शासकको वस्तुतः वैधिक विधानोंको बनानेका कोई अधिकार ही प्राप्त नहीं था। वर्तमान युगका जो व्यक्ति किन्हीं निर्धारित अधिकारियोंसे स्वीकृत वैधिक कानूनोंसे काम करनेका आदी है, उसे उस युगकी न्याय-मान्यतासे सहमत होना यदि असम्भव नहीं है तो लौकिक विधान, धार्मिक नियम और नैतिक आचार-विधानमें कोई भेद नहीं था। 'सभी धर्मशास्त्रोंसे एक साथ ही नियम प्रस्तुत किये गये थे और प्रत्येक व्यक्तिसे यह आशा की जाती थी कि वह इनके अनुरूप उत्तम-से-उत्तम रीतिसे अपनी क्रियाएँ व्यवस्थित करे।' हिन्दू युगकी न्याय-पद्धतिका यही मौलिक आधार था। इस मौलिकताकी रक्षा प्रत्येक हिन्दू शासकके युगमें हुई चाहे वह मौर्य शासक हो, बारहवीं सदीका कोई शासक हो, मराठा हो अथवा बादका कोई हो।

विधानके साधन

विधानके साधनको लेकर विचारोंमें बराबर व्यापक मतभेद रहा है। केवल इस बातमें मतैक्य पाया गया है कि सभी लोग धर्मशास्त्रों तथा लोक-व्यवहारको विधानका मूल स्रोत मानते आये हैं। अत्यंत पुरातन युगमें जब विधानोंका संग्रह अलग धर्मशास्त्रोंके रूपमें नहीं हुआ था, तब वेद, स्मृतिग्रंथ तथा पुराण ही एक मात्र विधानके पवित्र साधन माने गये थे। किन्तु कालान्तरमें न्याय-प्रणालीका बहुमुखी विकास हुआ और उपर्युक्त पावन ग्रंथोंके आधारपर विधानकी लघु पुस्तकें तथा निबंध तैयार हो गये। इनमें आधिकारिक निर्णय प्रस्तुत किये गये थे, जिन्हें विधान-सा बल और मान्यता मिली।

---

१. भाग १, पृ० २०६।

दूसरा साधन देशमें प्रचलित 'लोक-व्यवहार' था। कभी-कभी तो किसी गाँव विशेष, सम्प्रदाय-विशेष यहाँतक कि परिवार-विशेषमें प्रचलित 'लोक-व्यवहार' विधानके रूपमें ग्रहण कर लिये जाते थे। इसलिए शासकोंका यह अनिवार्य कर्त्तव्य होता था कि वे प्रदेशों, ग्रामों, परिवारों और निगम-श्रेणियोंके आचार, रीतियों, व्यवसायों, व्यवहारों तथा निर्वर्तनोंके इतिहासका स्थायी रूपसे संरक्षण करें। इस प्रकार विधानके साधन अत्यंत सीमित थे और नये विधानोंके बननेकी सम्भावना अत्यंत ही कम थी। किन्तु विशेषता यह थी कि विधानोंमें तात्पर्य-विस्तार और सुधार बराबर सम्भव था। जब कभी भी इसकी आवश्यकता पड़ी, लोगोंने उदारता-से अंगीकार किया। इसके अतिरिक्त मूल विधानोंके समय-समयपर भाष्य होते रहे। हैं और इस प्रकार परिवर्तित समाजके स्वास्थ्यके अनुरूप उन्हें रूप भी दिया जाता रहा।

जब कभी विधानका संदिग्ध भाष्य होता था अथवा कोई जटिल अभियोग निर्णयके लिए आ जाता था तब विवेक-सम्पन्न ब्राह्मणोंका एक मंडल अंतिम निर्णय देनेका अधिकार प्राप्त कर बैठता था। उनके निर्णय सर्वमान्य होकर सर्वत्र गृहीत हो जाते थे। ऐसी परिषदोंकी घोषणाएँ भी विधानके विशिष्ट साधन मानी जाती थीं।

राजा स्वयं विधानका एक स्रोत था। कभी-कभी वह ऐसी परिस्थितियोंमें पड़ता था कि प्रजाके हितके लिए उसे नियम बनाने पड़ते थे। राजपूत युगके शासकोंने इस प्रकारकी सत्ताका पूर्वकालीन हिन्दू शासकोंसे अधिक उपभोग किया। फिर भी ऐसे संयोग बहुत ही विरल होते थे। स्मृतियोंका ज्ञान प्रधान न्यायाधीशों-के लिए अत्यावश्यक था, अतः कभी-कभी पुरोहित ही उस पदपर प्रतिष्ठित कर दिया जाता था, क्योंकि वह धर्मशास्त्रोंका पूर्ण जानकार होता था। धंगदेवके शासन-कालमें सन् १००३ में ऐसा ही किया गया था।[1]

न्यायालयोंका संघटन

और प्राचीन युगमें अभियोगोंकी प्रकृतिके अनुसार जैसे न्यायालयोंका संघटन हुआ था, उस प्रकार न्यायालयोंकी वैज्ञानिक और स्पष्ट रचना इस समय नहीं मिलती। स्मृतियोंके अनुसार दीवानी और फौजदारी पद्धतियोंमें कोई भेद नहीं है इसलिए दोनों ही प्रकारके उच्च स्तरके अभियोग एक ही न्यायालयमें देखे जाते हैं। न्यायकी सबसे अंतिम इकाई ग्राम-पंचायत थी। यहाँ दीवानी और फौजदारीके सभी छोटे-छोटे अभियोग देखे जाते थे। इन पंचायतोंको अपने निर्णय कार्यान्वित करनेके पूरे अधिकार प्राप्त थे। अग्रहार गाँवोंमें पंचायतोंके अधिकार प्रतिग्राहकको प्राप्त हो जाते थे। ग्राम-पंचायतोंके ऊपर विषयोंके न्यायालय थे, जिनमें 'राज-स्थानीय' या 'दण्डनायक' न्यायाधीश होते थे। यहाँपर बड़े अभियोग और अपीलके मुकदमे निर्णयके लिए आते थे। 'धर्मलेखी' का उल्लेख भी चन्देल अभिलेखोंमें

१. ए० ई० भाग १, पृ० १४० और आगे

मिलता है। किन्तु इस कर्मचारीके पदके संबंधमें स्पष्ट कुछ नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः वह अभियोग लिखनेवाला कोई कर्मचारी था। राजा स्वयं न्यायकी अंतिम कोटि था। उसके पास कम-से-कम किन्तु महत्त्वके अभियोग निर्णयके लिए जाते थे। इसके अतिरिक्त वह अपीलके महत्त्वपूर्ण अभियोग भी देखता था। अभियोगोंके निर्णयमें राजा निर्धृकी सहायता लेता था। इस संबंधमें चि० वि० वैद्यका कथन महत्त्वका है। "हिन्दू-न्याय-प्रणालीमें अपीलोंकी महिमा बहुत नहीं थी। जो व्यक्ति जिलेके न्यायालयमें हार जाता था वह अपना मुकदमा राजाके यहाँ प्रस्तुत करता था। यदि वह उचित समझता तो उस मुकदमेका अभिनव रूपसे निर्णय करता। वास्तवमें यही स्वरूप पेशवाओंके राज्यकाल-तक था।"[1] जैसा कि धंगके अभिलेखसे ज्ञात होता है, कभी-कभी राजभवनके पुरोहित न्यायका निर्देश करते थे। यशोधर अपने समयका प्रसिद्ध न्यायाधिकारी था।[2]

प्रणाली और दण्ड-विधान

न्यायालयोंकी कार्य-प्रणालीके संबंधमें कोई जानकारीकी सामग्री नहीं मिली है। इस संबंधमें अल-बे-रूनी-द्वारा थोड़ा-सा प्रकाश डाला गया है—'वादीको न्यायालयमें प्रार्थनापत्र और कागजपत्र प्रस्तुत करना पड़ता है। यदि लिखित प्रमाण नहीं हैं तो साक्षी प्रस्तुत किये जाते हैं—कमसे कम चार अपेक्षित होते हैं। साक्षीके परिप्रच्छकी अनुमति नहीं है।'[3] किन्तु स्मृतियोंमें साक्षियोंकी संख्याकी कोई सीमा नहीं निर्धारित की गई है। उस समय वकील नहीं थे अतः गवाहोंसे परिप्रच्छका न किया जाना स्वाभाविक ही है। साक्षीको न्यायालयमें अपनी आस्था देनेके पूर्व शपथ लेनी पड़ती थी। यह विधि उसे सत्यकी ओर लानेमें और अधिक सहायक होती थी।

दीवानी और फ़ौजदारीके मुकदमेमें हारनेवाले व्यक्तिको अर्थ-दण्ड लगाया जाता था। घृणित अपराधोंके लिए कारावास, अंगच्छेद और प्राणदण्डतक प्रदान किया जाता था। दण्डनायकके ही अधीन कारावासका विभाग भी था। हिन्दू शासन-प्रणालीमें चोरों और डाकुओंका उन्मूलन अत्यंत पवित्र कार्य माना जाता था। इस कार्यके लिए चौरोद्धरणिक नामका एक विशेष कर्मचारी नियुक्त था। अल-बे-रूनीके कथनानुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय हत्याके लिए दण्डित नहीं होते थे—उनकी सम्पत्ति जब्त करके उन्हें राज्यसे निष्कासित कर दिया जाता था। चोरी-करनेवाले ब्राह्मणको नेत्र-हीन कर दिया जाता था और उसका बायाँ हाथ तथा दाहिना पाँव काट लिया जाता था। इसी अपराधके लिए क्षत्रियको नेत्रहीन

१. हिस्ट्री औफ़ हिन्दू मेडिवल इण्डिया, भाग ३, पृ० ४६६

२. ए० ई०, भाग १, १३८

३. अध्याय ६५, पृ० १५८—अलबेरूनी।

नहीं किया जाता था। अन्य वर्ण-वालोंको तो मृत्यु-दण्ड ही प्रदान किया जाता था।[1] इससे इतना अभिप्राय निकलता है कि शारीरिक दण्ड सामान्य रूपसे बढ़ता जा रहा था, यहाँतक कि ब्राह्मण भी इससे वंचित नहीं रह गये थे।

अल-बे-रूनीने अनेक प्रकारकी सत्यपरीक्षाकी विधियोंकी चर्चा की है जिनका प्रयोग अत्यंत सन्देहके अभियोगोंमें होता था। किन्तु इस प्रकारकी दिव्य परीक्षाकी चर्चा इस युगकी अनुश्रुतियोंमें नहीं मिलती। राजपूत युगमें सामान्य दोषोंके लिए भी दण्ड-व्यवस्था बड़ी कठोर और उग्र थी। सम्भवतः उस युगकी यह आवश्यकता थी, क्योंकि शासकोंकी अस्थिरतासे अपराधोंमें वृद्धि हो गई थी। चन्देल शासकोंने अपने गम्भीर प्रयत्न और कठोर दण्ड-विधान-द्वारा साम्राज्यके उच्छृंखल और अवाञ्छनीय व्यक्तियोंका उन्मूलन कर दिया था और शांतिपूर्ण साम्राज्य स्थापित कर लिया था।[2]

सैनिक व्यवस्था

सैन्य-नीति

मध्यकालीन राजपूत शासकोंके राजनीतिक पतनके कारण कुछ इतिहासकारोंने उनकी सैनिक नीतिकी बराबर निन्दा की है। चि० वि० वैद्यने उनके सैन्य-संघटनकी दुर्बलताएँ प्रकट करनेकी चेष्टा की है। उनका कथन है कि तत्कालीन हिन्दू शासकोंने इस कार्यकी बड़ी ही उपेक्षा की। किन्तु यह कथन सर्वथा सत्य नहीं है क्योंकि प्रतिहार और चन्देल सम्राटोंने अपने कोषका अधिकांश सेनाके संघटन, प्रशिक्षा और संरक्षणमें व्यय किया। प्रभंजनकी भाँति उनका सवेग प्रयाण, तुर्क एवं अन्य भारतीय शासकोंके विरुद्ध उनका दुर्धर्ष युद्ध, उनका शौर्य और शारीरिक दिव्य रचना, प्रलम्ब प्रतिरोधकी उनकी क्षमता और शस्त्रास्त्र-की वैज्ञानिकता—कुछ भी तुर्कोंसे कम नहीं थी और न [illegible] दुर्ग-रचना और व्यूह-निर्माणमें किसी भी प्रकार उनसे अयोग्य थे। तब फिर तुर्कोंकी जयका रहस्य क्या था? वह था लूट और विनाशकी उनकी चिर अतृप्त पिपासा तथा पाशविक नृशंसताका बल। अन्यथा राजपूत शासकोंके पास सैनिक-संघटनकी उच्च और सफल कल्पना थी। इस धारणाके पीछे केवल उनकी वह युद्धप्रिय प्रकृति ही नहीं थी जिसने अभेद्य सैन्य-संघटनके लिए उन्हें प्रेरित किया था बल्कि उनकी अनिवार्य आवश्यकताएँ भी उन्हें बाध्य कर रही थीं।

संघटन और भरती

राजपूत शासकोंमें ऐसे बहुत कम थे जिनके पास नियमित रूपसे स्थायी सेना रक्खी जाती थी। अरब इतिहासकारोंके अनुसार केवल बलहार ही ऐसे थे जिनके पास

---

१. वही।

२. ए० ई०, भाग १, पृ० २०३

स्थायी सेना थी और वे उसका नियमित वेतन देते थे। किन्तु बहुतसे ऐसे प्रमाण हैं जिनसे यह निश्चित रूपसे प्रकट होता है कि कन्नौजके प्रतिहारों, जेजाभुक्तिके चन्देलों और बंगालके पालोंके पास नियमित स्थायी सेना थी। राज्यकी स्थायी सेनाके अतिरिक्त चन्देल साम्राज्यके नगरोंके पास रक्षाके निमित्त अलगसे स्थायी सेना रहती थी। इन नगर-सेनाओंके अधिकारी भी भिन्न होते थे। सेनामें सामान्यतया तीन तत्त्व होते थे। नई परिस्थितिके प्रादुर्भावके साथ रथका युद्ध लद चुका था और वे असफल सिद्ध हो चुके थे। चन्देल सेनामें कोई नौ-सेना नहीं थी किन्तु महाकवि चन्दके वर्णनसे ज्ञात होता है कि जब कभी उत्तर भारतके शासकोंके साथ युद्ध छिड़ता था, तब अस्थायी नौ-सेना बना ली जाती थी परन्तु वह प्रभावहीन होती होगी—इसमें सन्देह नहीं।

चन्देल सेना वस्तुतः तीन प्रकारकी थी—पदाति, अश्व और हस्ति। हस्ति-सेनाको काफी सुसंघटित किया गया था। मुसलमान इतिहासकार बतलाते हैं कि कालंजरपर आक्रमणके समय महमूदने अधिकतम संख्यामें हाथी पकड़वाए थे।[1] पैदल सेनाकी स्थायी संख्या थोड़ी ही होती थी। आवश्यकता पड़नेपर ही अस्थायी रूपसे सेनाकी भरती कर ली जाती थी।

चन्देल बहुधा स्थानीय लोगोंमेंसे सैनिकोंकी भरती करते थे। परन्तु बंगालमें अवस्था भिन्न थी। भागलपुर-पत्रसे ज्ञात होता है कि बंगालकी तत्कालीन सेनामें गौड़ देशके अतिरिक्त खस, मालवा, कुलिक, कर्नाट और लाट देशोंसे भी सैनिक लिए गये थे। चन्देल सेनामें ऐसे दूसरे देशोंके पेशेवर सैनिक नहीं थे। उसमें केवल जेजाकभुक्ति और सामंत देशोंके ही स्वदेशाभिमानी सैनिक रक्खे गये थे। सेनामें केवल भृत्यका कार्य करनेवाले भाट ही जंगलोंकी युद्धप्रिय जातियोंमेंसे भरती किये जाते थे। सेनापतियों और आल्हा-ऊदल जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण कर्मचारियोंका चुनाव मुख्यतया राज-परिवारों और संबंधियोंमेंसे होता था। बड़े-बड़े युद्धोंमें सामन्त-प्रमुख स्वयं अपनी सेनाके साथ सम्राट्की ओरसे लड़ते थे। ग्वालियरका चन्देल सामन्त कन्नौजके विरुद्ध महाराज विद्याधरके साथ लड़ा था। इस व्यवस्थाका परिणाम यह देखनेको मिलता है कि सामन्त सेनाएँ कभी राजभक्तिके विपरीत नहीं गईं।

कर्मचारी और वेतन

अभिलेखोंसे उन कर्मचारियोंके भी नाम प्राप्त होते हैं जो सेनामें काम करते थे। सेनाका सबसे बड़ा कर्मचारी महा-सेनापति कहलाता था। राज्यकी समस्त सेना उसीके अधीन होती थी। सम्राट्के साथ उसका विश्वस्त व्यवहार चलता था। उसके नीचे प्रत्येक प्रमुख श्रेणीके लिए अलग-अलग सेनापति होते थे। सेनापतियोंके सहायक बलाध्यक्ष होते थे जो सेनाओंका निरीक्षण-कार्य करते थे। सेना-व्यूहका अलग

---

१. कि० जै० अ०, पृ० ८०।

उत्तरदायी कर्मचारी होता था जिसे महाव्यूहपति कहा जाता था। सेनामें काम करनेवाले भृत्योंको भाट कहते थे। सैनिकोंको मासिक वेतन दिया जाता था—प्रथमतः राजकीय कोषसे नकद रूपमें, दूसरे; अन्न-भंडारोंसे अन्न रूपमें। कर्मचारियों-को सैनिकोंकी भाँति या तो मासिक वेतन दिया जाता था या शासनके अन्य कर्मचारियोंकी भाँति गाँव अथवा भूमि दे दी जाती थी। चन्देल शासन-व्यवस्थामें आधुनिक क्षति-पूर्ति-कानून जैसी सुविधा भी दी गई थी। त्रैलोक्यवर्मन्‌के गर्रा अभिलेखसे ज्ञात हो रहा है कि जब कभी कोई कर्मचारी युद्धके मैदानमें मरता था तो सम्राट् उसके उत्तराधिकारियों और आश्रितोंको जीविकाके लिए गाँव प्रदान करता था।[1]

अन्य राज-वंशोंके कुछ अभिलेखोंसे ज्ञात होता है कि इस विभागमें कुछ और कर्मचारी थे जो विनिमय, सैन्य-भोजनादि परिकल्प और चार-प्रयोगमें लगाये गये थे। ये कर्मचारी थे—महासाधनिक, गमागमिक और महापिलुपति। महापिलुपति हाथियोंकी सेनाका प्रमुख रक्षक था।

सम्राट् स्वयं युद्धके मैदानमें सैन्य-संचालन करता था। अत्यंत प्राचीनकालसे ही हिन्दू शासकोंका यह पवित्र कर्त्तव्य माना जाता था। वे शौर्य, रण-कौशल और स्वदेश-प्रेमके लिए अपने सैनिकोंके समक्ष स्वतः उदाहरण बनते थे। लेकिन तत्कालीन कितने ही युद्धोंके प्रमाण मिलते हैं कि इस व्यवस्थामें राजाके प्रथम पंक्तिसे ओझल होते ही सैनिकोंका संकल्प ढीला हो जाता था और वे स्खलित हो जाते थे। मध्ययुगकी सैनिक-व्यवस्थाका यह बड़ा ही कायरतापूर्ण चरित्र है, जिसका खण्डन नहीं किया जा सकता।

दुर्ग-विन्यास

चन्देल-शासकोंने सेना-संघटनमें जैसी तत्परता दिखलाई, वैसी ही तत्परता किले-बन्दीमें भी। उनके आठ किले महत्वके थे, जो साम्राज्यके भीतर एक छोरसे दूसरे छोरतक फैले थे। ये दुर्ग थे—(१) बारीगढ़, जो आजकल चरखारीमें है; (२) कालंजर, वर्तमान बाँदा जिलेमें; (३) अजयगढ़, कालंजरसे दक्षिण पश्चिम में २० मीलकी दूरीपर; (४) मनियागढ़, छतरपुरमें; (५) मारफा, बाँदा जिलेमें; (६) मौधा, हमीरपुर जिले में; (७) गढ़, जबलपुरके निकट, और (८) मडहर, जबलपुरके उत्तरमें।[2] कीर्तिवर्मन्‌के देवगढ़ प्रस्तर-अभिलेखसे ज्ञात होता है कि देवगढ़का दुर्ग, जिसका दूसरा नाम कीर्तिदुर्ग था, कीर्तिवर्मन्‌के प्रधान मंत्री महीधर-द्वारा बनवाया गया था। ये किले बड़े सुसज्जित और सुरक्षित थे। किलोंसे संबंध रखनेवाले जिस कर्मचारीका नाम ज्ञात है वह कोटपाल था, उसे कहीं-कहीं दुर्गाध्यक्ष भी कहते थे।

---

१. ए० ई०, भाग १६, पृ० २७७।

२. ई० ए०, १६०८, पृ० १२३।

कुछ दुर्गोंकी रचना बड़ी वैज्ञानिक हुई थी और वे सामान्यतया पर्वतोंपर स्थित थे। कालंजर भारतवर्षके सर्वाधिक प्रसिद्ध किलोंमेंसे था। इसने महमूद गजनवीकी सेनाका घेरा रोका। जिस पहाड़ीके शिखरपर यह दुर्ग बना है, वह बुन्देलखण्डके मैदानके दक्षिण-पूर्वी छोरपर स्थित है। इसकी ऊँचाई समुद्र-सतहसे १२३० फ़ीट है। विंध्यकी समीपवर्ती शृंखलासे यह लगभग १२०० गज चौड़े उच्चाटन-द्वारा अलग होता है। इसके पूर्वमें कालंजरकी लघु श्रेणियाँ चली गई हैं। कालंजर पर्वतका कूट थोड़ेसे तरंगित होनेवाले मंचके समान है, जिसका वृत्त चार-पाँच मीलके बीच है। यह अपने पूरे विस्तारके चतुर्दिक् छोरसे आरम्भ होनेवाले किलेके प्राकारसे परिवेष्टित है। किलेका निर्माण पचीस-पचीस फीट मोटे पत्थरके ढोंकोंसे स्थूल आकारमें हुआ है। प्रमुख गोपुरको लेकर इसमें कुल सात फाटक हैं।

देवगढ़का प्राचीन दुर्ग ३०० फीटकी ऊँची भूमि-पृष्ठ-पर खड़ा हुआ है। इसके दक्षिणी प्राचीरसे सटकर अद्भुत एवं चित्ताकर्षक ढंगसे बेतवा नदी बहती है। दुर्ग-रचना-संबंधी इन बातोंसे प्रकट हो रहा है कि इस कार्यके लिये चन्देल शासकोंने कितनी सतर्कता दिखलाई और महत्त्वपूर्ण समझा। इन पहाड़ी किलोंका एक ही दोष था कि आक्रमणकारी सरलतासे पानीका संबंध भंग कर देते थे। अपनी दृढ़ स्थितिके कारण कालंजर चन्देलोंकी सैनिक राजधानी था और सैनिकोंका उत्तरी भारतमें सबसे बड़ा केन्द्र भी।

सैनिक व्यवस्थाके गुण-दोष

अब यह आवश्यक है कि चन्देल-सेनाकी योग्यता और पात्रतापर विचार किया जाय। जैसा कि पहले कहा गया है, चन्देल-सेना ऐसे राजपूत सैनिकोंसे संघटित थी जो न केवल राजाके प्रति अपनी भक्तिसे बल्कि अपने देशके प्रति राष्ट्रीय-भावसे आपूर्ण थे। कुछ इतिहासकारोंकी धारणा है कि मध्यकालीन हिन्दू शासकोंके समयमें सैनिकोंमें राष्ट्रीय भावनाका अभाव था और वे अपने स्वामी और सम्राट्के लिये शस्त्र गहते थे न कि राष्ट्रके लिये। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस प्रकारकी मान्यताका कोई दृढ़ आधार नहीं है और इसका खण्डन भी किया जा चुका है। राजपूत सेनाकी दुर्बलता उनकी भावनामें नहीं थी, थी उनके शस्त्र-संबंधी वैज्ञानिक विकासके अभावमें। वह युग ही उस भावनाका था। तुर्क सैनिक भी तो, जिन्होंने अधिकतर विजय भी प्राप्त की, युग-प्रवृत्तिसे प्रभावित थे। कुशल राजपूत शासकोंके यहाँ सैनिक-कलामें वैज्ञानिकताकी कमीकी पूर्ति देशप्रेमकी उत्कृष्ट भावनासे हुई।

इस युगकी लड़ाईमें बन्दूकोंका प्रयोग नहीं हो रहा था। धनुर्धर ही युद्धमें महत्त्वका स्थान रखते थे। चन्देलोंकी सेनाओंने जितने भी निर्णयकारी युद्ध लड़े, सभी हाथियोंकी प्रमुखतासे। "हाथियोंकी सहायतासे लड़नेकी कलाकी भारतवर्षमें एक महत्त्वपूर्ण कोटितक उन्नति हो चुकी थी जिसमें विदेशी योद्धाओंके शौर्य

और शारीरिक शक्तिकी भी परख हुई।" इसमें हिन्दू योद्धा असाधारण सिद्ध हुये। प्राचीन परंपरा और अपने वास्तविक अनुमानको छोड़कर यदि केवल मुसलमान इतिहासकारोंके लेखोंसे निष्कर्ष निकाला जाय तो तुरत हमें प्रतीत होगा कि व्यक्तिगत पराक्रम अथवा रणक्षेत्रमें विविध प्रकारसे शस्त्र-संचालनकी कलामें हिन्दू सैनिक विश्वविख्यात तथा अन्य सभी जातियोंके सैनिकोंसे आगे बढ़े हुये थे। तत्कालीन नाटककार कृष्णमिश्रने सैन्य-प्रयाणका एक सुन्दर दृश्य उपस्थित किया है जो सम्भवतः चन्देल सेनाका परोक्ष चित्रण है—'जिनके भालसे द्रवित मद पान करके भ्रमर मतवाले हो गए हैं ऐसे हाथियोंका दल तैयार किया जाय। अपने अप्रतिम वेगसे पवनको भी हठात् पराजित करनेवाले घोड़े रथमें जोत दिए जायँ। अश्वारोही अपने कृपाण साथमें ग्रहण कर आगे बढ़ें और अपने भालोंके द्वारा, समस्त दिशाओंके बीच नील कमलोंका वन-सा बनाती हुई पैदल सेना भी चल दे।[1]

राठोंके प्रयोगके संबंधमें ऊपर लिखा जा चुका है कि वे सामान्यतया सेनामें नहीं रक्खे गये थे। परन्तु सेनाके अन्य कार्योंके लिये उनका प्रयोग किया जाता था, जैसा कि उक्त नाटकमें सम्राट्के द्वारा कहलवाया गया है।[2]

तत्कालीन युद्ध-संबंधी नैतिकता और मर्यादाओंपर दृष्टि डालनेसे, अनिर्वचनीय नृशंसता तथा अभूतपूर्व करुणाका दृश्य दिखलाई पड़ता है जिसमें सुबुक्तगीन, महमूद, मुहम्मद गोरी और कुतुबुद्दीनके नेतृत्वमें ग्यारहवीं, बारहवीं सदीके तुर्कोंने एक ओरसे और स्वाभिमानसे प्रेरित, सहज आक्रोशसे उद्विग्न राजपूतोंने दूसरी ओरसे आत्मरक्षाके लिये भाग लिया, लेकिन भारतीयोंके हृदयपर इस देशकी युद्ध-संबंधी उच्च नैतिक मान्यताओंका ऐसा दीर्घकालीन प्रभाव पड़ा था कि तुर्कोंकी ऐसी विपरीत और पाशविक प्रवृत्तिके समक्ष भी उन्होंने युद्ध-क्षेत्रके सामान्य आचारका निर्वाह किया। जहाँ एक ओर लूट, अग्निकांड और सर्वनाश ही रण-विजयके प्रशस्त हथकंडे और नैतिकताके सर्वोच्च उदाहरण थे, वहाँ दूसरी ओर सिपाही लड़ते थे और कृषक निश्चित होकर खेतीमें निरत थे। तात्पर्य यह कि वे निर्धारित सामाजिक कर्त्तव्य-सीमासे बाहर नहीं गये थे। कपट और वंचनाको भारतीय सीमामें तब भी स्थान नहीं मिला। प्रत्येक सैनिक वैध युद्धके लिये ही तैयार था। भारतीय सिपाहियोंमें शौर्यकी ही प्रतियोगिता थी, छद्मकी नहीं।

---

१. सज्ज्यन्तां कुम्भभित्तिच्युतमद-मदिरा-मत्तभृङ्गाः करीन्द्रा
युज्यन्तां स्यन्दनेषु प्रसभजितमरुच्चण्डवेगास्तुरङ्गाः।
कुन्तैर्नीलोत्पलानां वनमिव ककुभामन्तराले सृजन्तः
पादाताः संचरन्तु प्रसभमसिलसत्पाणयोऽप्यश्ववाराः॥
—प्रबोधचन्द्रोदय, निर्णयसागर प्रेस, ४, पृ० १५७।

२. सारथिरादिश्यतां साङ्ग्रामिकं रथं सज्जीकृत्वोपनयेति।

रक्षा-विभाग

चन्देल साम्राज्यमें जिस आंतरिक शांतिका परिचय मिलता है उससे ज्ञात होता है कि वहाँ पुलिसका सुसंघटित विभाग कार्य कर रहा था। यह विभाग सेनाविभागसे निश्चित रूपसे अलग रक्खा जाता था—क्योंकि उसका संबंध केवल बाह्य रक्षा और आक्रमणसे था। पुलिसके थाने और गुल्म होते थे जो गौल्मिक नामक कर्मचारीके अधीन होते थे। जिलेमें जो दण्डिक था, सम्भवतः उसीके अधीन ये सभी थे। इस विभागका सर्वोत्तम अधिकारी राजस्थानीय था।[1] पुलिस और जेल दोनों संयुक्त थे। कुछ प्रमाणोंसे प्रकट होता है कि जिलेमें चोरों और डाकुओंको पकड़नेके लिये विशेष कर्मचारी होते थे जिन्हें चौरोद्धरणिक और दण्डपाशिक कहते थे। हिन्दू शासक चोर-डाकुओंके उन्मूलनको अत्यधिक महत्त्व देते थे और उन्हें निर्दयतासे दण्ड दिया जाता था। इस विभागका मुख्य कार्य शांति एवं व्यवस्था स्थापित करना था।

'चोरियाँ कम होती थीं—केवल साहसिक व्यक्ति ही डकैती या पशु-सम्पत्तिका अपहरण करनेका दुःसाहस करते थे। आवश्यकता पड़नेपर सेनाको सहायतासे इनका दमन किया जाता था'[2] गाँवका प्रधान ही वहाँका पुलिस कर्मचारी होता था। ऐसे भी उदाहरण मिलते है कि अंततोगत्वा सरकारको ही अपहृत धनकी हानि भरनी पड़ती थी। ग्रामवासी आदि यदि पता नहीं लगा पाते तो उन्हें जुर्माना देना पड़ता था।

जन-हित-विभाग

पहले बतलाया जा चुका है कि मदनवर्मन्‌देवके एक अभिलेखमें यह उल्लिखित है कि स्वर्ण युगकी भाँति चन्देल शासक वैध साधनोंसे तो संग्रह करते थे और उचित विषयोंपर पूर्व योजनाके अनुसार खर्च करते थे। ऐसे और कतिपय कथनोंसे ज्ञात होता है कि इस शासनमें जन-हितके कार्योंको विशेष महत्ता रक्खी गई थी। कोशका बृहद् अंश इस निमित्त लगाया जाता था। यद्यपि तत्कालीन अभिलेखों एवं साहित्यिक कृतियोंसे विभागके विस्तृत कार्योंकी जानकारी नहीं होती है, परन्तु स्मृतियों और धर्मशास्त्रोंसे इस कार्यपद्धतिका सविस्तर वर्णन प्राप्त होता है। दोनोंके आधारपर व्यवस्थाका दृश्य उपस्थित होता है।

गमनागमनके साधन नदियाँ और सड़कें थीं। चन्देल साम्राज्यके भीतर यमुनाके दक्षिणका भाग सर्वदा सम्मिलित रहा। उनके विशाल राज्यके भीतर यद्यपि नदियाँ-पहाड़ी ही थीं किन्तु यमुनाके अतिरिक्त बेतवा और केन आदि

---

१. हिस्ट्री औफ़ हिन्दू मेडिवल इण्डिया, भाग ३, पृ० ४७०

२. प्रा० भा० शा० प०, ६, पृ० १४६

आंशिक-नाव्य थीं। इनमें नौकाचालन होता था। युद्ध-कालमें सेना भेजनेके लिये तथा शांति-कालमें व्यापारके लिये इनका प्रयोग होता था। जनताकी सुख-सुविधा बढ़ानेके लिये भी इन नदियोंका प्रयोग होता था। पहाड़ी भू-भाग होनेके कारण सड़कोंकी महत्ता बढ़ गई थी। प्रायः सभी दुर्ग एक दूसरेसे राजमार्गों-द्वारा मिलाये गये थे। एक सड़क खजुराहोसे कन्नौजतक जाती थी। वही सड़क दक्षिण-पश्चिममें मालवा और गुजराततक चली जाती थी। यह सड़क प्राचीन ज्ञात होती है। ह्वेन्त्सांगने सम्भवतः उसी पथसे जेजाकभुक्तिका पर्यटन किया था। नदी-मार्गके एक कर्मचारीका नाम मिलता है—नौकाध्यक्ष। यह शांति और युद्ध दोनों समयोंमें काम करता था।

सिंचाई

बुन्देलखण्डके इस भागको सिंचाईके लिये बादलोंपर ही निर्भर रहना पड़ता था। मेघ-जलका संचय करके वर्ष-भर विविध काम लेना—यही एक माध्यम था। नहर अथवा कूप ऐसी भूमिके लिये असम्भव साधन थे। अतः चन्देल शासकोंने साम्राज्य-भरमें छोटे बड़े जलाशय खुदवानेके लिये प्रभूत धन व्यय किया। ये जलाशय दो प्रकारके थे, जैसा कि आज भी देखा जा सकता है—एक तो घाट-बद्ध थे, जो स्नान और जल पीनेके काममें लाए जाते थे; दूसरे, सिंचाई और पशुओंके प्रयोगके लिये बनाए गये थे। ऐसे उदार शासकोंकी इन कृतियोंका परिचय उनके राजत्व-वर्णनके साथ दिया जा चुका है। चन्देलोंने सिंचाईके लिये नदियोंका उपयोग कैसे किया था—इसकी जानकारीका कोई आधार नहीं है।

शिक्षा

धंगदेवके प्रस्तर-अभिलेखसे प्रकट होता है कि वह दान-मान-पुरस्कारसे विद्वान् जनों एवं कवियोंकी सहायता करता था।[1] वैसे ही इन विद्वानों और ब्राह्मणोंसे शिक्षा-प्रसारका पवित्र काम होता था। शिक्षालय या तो ब्राह्मण शिक्षकोंके घर-पर ही होते थे या मंदिरोंमें। वहीं ऊँची कक्षाओं-तक-का पढ़ानेका काम होता था। मंदिरोंके विशाल मंडप पाठशालाओंके काममें आते थे। सांस्कृतिक समारोहोंके लिये इन मंडपोंका प्रयोग होता था। बौद्धोंके संघ भी, जो जहाँ-तहाँ वर्तमान थे, पाठशालाके रूपमें काम करते थे। ब्राह्मणोंको शिक्षण-कार्यके लिये शासक स्वर्ण प्रदान करते थे[2] और उनकी व्यवस्था राज्यकी ओरसे की जाती थी। धंगदेव-के उक्त शिलालेखसे यह भी प्रकट होता है कि शिक्षक ब्राह्मणोंको जीविकोपार्जनके लिये भूमि, अन्न और गायें प्रदान की जाती थीं।[3] दक्षिणामें शिष्य भी प्रभूत धन प्रदान करते थे। ऊँची शिक्षाकी व्यवस्थाका भी यही आधार था।

---

१. ए० ई०, भाग १, पृ० १३८

२. ए० ई०, भा० १, पृ० १३८, श्लो० ५२

३. वही, श्लो० ५३–५४

धर्म-विभाग

राज्य-द्वारा मुख्य रूपसे दान-अनुदानके कार्योंका संचालन करनेके लिये एक अलग विभाग होता था, जिसे धर्म-विभाग कहते थे। उस समय धार्मिक सहिष्णुता बड़ी ही उच्च कोटितक पहुँची हुई थी। इस विभाग-द्वारा धार्मिक कार्योंकी भी देख-रेख होती थी। नैतिक आचरण और आचारका भी राजकीय स्तरपर ध्यान रक्खा जाता था। संस्थाओं, मठों, पाठशालाओं और मंदिरोंकी सहायता इसी विभागकी देख-रेखमें की जाती थी। राजा धर्म और नीतिका संरक्षक होता था। 'पंडित' मंत्री इस विभागका प्रधान होता था और पुरोहित इसका अध्यक्ष।

सार्वजनिक विनोद

चन्देल शासकोंने सार्वजनिक विनोदके साधनोंका संघटन भी अपना कर्त्तव्य समझा था। विद्वानोंका विनोद सामान्य लोगोंसे भिन्न होता था। उनके लिये धार्मिक विवाद एवं शास्त्रार्थोंकी प्रतिष्ठा की जाती थी।[1] उच्च कोटिके नाटकोंके अभिनयकी राजकीय व्यवस्था की जाती थी। प्रसिद्ध नाटक प्रबोधचन्द्रोदय महाराज कीर्तिवर्मन् देवके अनुशासनमें अभिनीत हुआ था। ऐसे सांस्कृतिक विनोदोंके लिये मंदिरोंका भी प्रयोग किया जाता था।

पशुओंका युद्ध, मनबहलावका प्रचलित साधन था। राजा भी इसमें दिलचस्पी लेता था। घरेलू एवं जंगली दोनों प्रकारके पशुओंकी लड़ाई कराई जाती थी। राज्य इसकी व्यवस्था करता था। द्यूत, जो भारतवर्षका प्राचीनतम विनोदका साधन था—उस समय वर्तमान था। प्रतीत होता है कि वह नियंत्रणमें था।

यह तथ्य है कि चन्देल शासक, अपनी समस्त कर्तृत्व शक्ति होते हुए भी सम्पूर्ण उत्तर भारतको अपने अधीन न ला सके। लेकिन अपने उस सुविस्तृत साम्राज्यको किस प्रकार लगभग चार सौ वर्षों-तक उन्होंने सुरक्षित रक्खा और पतनसे बचाया—यह और विस्मयकारी तथ्य है। यह एक मात्र उनके उदार, दृढ़ और लोकप्रिय शासनका ही सुपरिणाम है। यह सफलता मध्यकालीन राजपूत इतिहासमें अनोखी है। यह सत्य जान पड़ता है कि समकालीनोंके लिये उनके शासनने "स्वर्ण युगका आचार समुपस्थित किया"।[2]

—:o:—

१. अलबरूनी, हिन्दी अनु०, पृ० २४
२. ए० ई०, भाग १, पृ० २०३

अध्याय १०

परराष्ट्र-नीति

पिछले अध्यायोंमें चन्देलवंशके राजनीतिक और शासकीय इतिहासका स्वरूप याथातथ्येन प्रस्तुत किया गया है। चन्देलोंने यहाँ उस संक्रमण-कालमें शासन किया जो हिन्दू-शासनके क्रमिक पतन और भारतमें मुसलमानोंकी क्रमिक विजय एवं राज्य-स्थापनके बीचमें पड़ता था। उस समय विदेशी आक्रामकों---अरबों और तुर्कोंका दुर्दमनीय साहस उत्तर भारतके प्रमुख राजवंशों---गुर्जर-प्रतिहार, चन्देल और चौहानोंके अमोघ रक्षणके कारण चूर-चूर हो गया और वास्तवमें उनका पाँव इस वसुंधरापर तबतक न जम सका जबतक कि इन वंशोंका पतन न हो गया। उनकी ऐसी मनस्विता देखकर पिछले लेखकोंके कथनके प्रति सन्देह और अविश्वास प्रकट करना उचित ही है कि ये राजवंश अपने धर्म और स्वातंत्र्यके विरुद्ध आते हुये उस खतरेको न समझ सके जो उन्हें शत्रुके समक्ष एक सूत्रमें बाँधनेके लिये पर्याप्त था।

यह सत्य है कि "वे चन्द्रगुप्त मौर्य जैसा शासक उत्पन्न करनेमें असफल रहे, जिसने परस्पर विरोधी स्वार्थोंका विलय करके अपने करवालके बलसे एक पताकाके नीचे सबको ला दिया और शत्रुका सामना करनेमें एक विशाल साम्राज्यके सम्पूर्ण साधन चामत्कारिक ढंगसे लगा लिए।" यह भी असत्य नहीं है कि उन्होंने एक नेताके नेतृत्वमें विभिन्न सत्ताओंका संघ बनाकर आक्रमणकारियोंके विरुद्ध किसी प्रकारका विशेष प्रभावकारी उद्योग नहीं किया। इसका एक ही कारण है कि उनकी शक्तिका अधिक अंश पारस्परिक संघर्षमें नष्ट हो रहा था। अपने पड़ोसीके साथ उनकी भेंट तभी होती थी जब वे एक दूसरेके विरुद्ध युद्धस्थल-में उतर आते थे अथवा किसी बलशाली प्रतिद्वंद्वीको ध्वस्त करनेके लिये संयुक्त होते थे। यह उक्ति ठीक है कि 'तत्कालीन भारत कई दृष्टियोंसे 'होली रोमन साम्राज्य' के यूरोपकी भाँति प्रतिभासित हो रहा था।' वहाँ स्वतंत्र सत्ताधारी अनेक राष्ट्र एक दूसरेसे जिस प्रकार एकतंत्र रूपसे संबंधित थे उसी प्रकार भारत-में भी सत्ताधारी राष्ट्रोंका उदय हो चुका था। भारतवर्षके निवासी भी यूरोपवालों-की भाँति आर्यमूल वंशके थे, जिनमें किंचित् द्राविड़ रक्तका मिश्रण भी था। यूरोपकी भाँति जहाँ भाषाओंकी विविधता थी वहाँ एक हिन्दू धर्म और वेदोंके मूलोद्गममें आस्था भी थी। यद्यपि अनेक राज्योंमें विभक्त भारतवर्षकी प्रत्येक इकाई अपनेको सर्वसत्ताधारी मानती थी तथापि सभी स्मृतियोंके एक ही विधानको उसी प्रकार मानते थे जिस प्रकार यूरोपीय राष्ट्र रोमन विधानको। एकताके इतने सूत्रोंके होते हुये

भी 'जैसे रोमन साम्राज्यके राष्ट्र एक नहीं हो सकते थे, उसी प्रकार दसवीं सदीके भारतके अनेक राज्य भी एक नहीं हो सके।' इनमेंसे प्रत्येककी नीति एक दूसरेके प्रति स्वतंत्र थी। सभी परराष्ट्र-व्यवहारमें परंपरागत मंडल-सिद्धांतको मानते थे।

मंडल-सिद्धान्तकी मान्यता और व्यवहार

परंपरागत मण्डल-सिद्धान्तको चन्देल शासकोंने सर्वदा माना और स्पष्ट रूपसे अपनी बाह्य नीतिमें उतारा। इस सिद्धांतको शुक्रनीतिकारने प्रचारित किया था। मण्डल-नीतिमें विजयीके साथ केन्द्र होता था और उसीसे अनेक समकेन्द्रिक वृत्तोंकी कल्पना होती थी। प्रथम वृत्तपर केन्द्रके शत्रु-शासकोंके देश पड़ते थे। दूसरा वृत्त मित्र और सहायक राष्ट्रोंका होता था। तीसरा वृत्त शत्रु-देशों (पहले वृत्त) के मित्र-देशोंका होता था। चौथे वृत्तपर मित्र-देशों (द्वितीय वृत्त) के मित्र शासक पड़ते थे। इसी प्रकार संबंध क्रमशः बदलता जाता था और अंततोगत्वा दसवें वृत्तपर 'मध्यम' और ग्यारहवेंपर 'उदासीन' शासक पड़ते थे। कौटिल्यके अनुसार विदेशी नीतिको दृष्टिमें रखते हुये सभी राज्य चार प्रकारोंमें विभक्त हो सकते हैं—शत्रु, मित्र, मध्यम और उदासीन।[1]

नीतिशास्त्रके लेखकों-द्वारा राज्योंके विशेष नामोंकी कल्पना करके अंतरराष्ट्रीय संबंधका परिचय कराया गया है जो एक दूसरेसे व्यक्तिगत और विशेष अन्योन्यान्वयके कारण मित्र अथवा अमित्रके रूपमें संबंधित हैं। 'एक राज्यका दूसरेसे सामीप्य ही उन दोनोंके बीच संघर्ष और मतभेदका कारण बनता था और परस्पर भाव-स्थितिका निर्णायक होता था।' यदि 'अ' वह राज्य है जिसके अंतरराष्ट्रीय संबंधका निश्चय हम लोग करना चाहते हैं और 'आ' वह राज्य है, जो उसके सबसे निकटका पड़ोसी है तो यह निष्कर्ष स्वाभाविक है कि सामान्य रूपसे एक दूसरेसे वे खिंचे रहेंगे। संबंधकी यही अवस्था 'अ' के साथ उन राज्यों की भी

१. कौटिल्य पु० ६, अ० ८, पृ० २८८
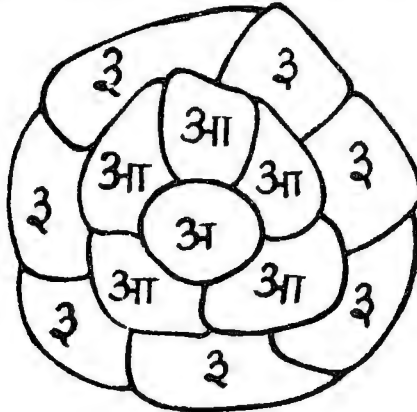
होगी जो 'आ' की भाँति उसके निकटतम पड़ोसी हैं। इस प्रकार 'अ' के निकटतम पड़ोसी राज्यों-द्वारा उसके सहज शत्रुओंका क्षेत्र बनता है—तस्य समन्ततो मण्डलीभूता भूम्यन्तरा अरिप्रकृतिः।[१] इसी प्रकार उन राज्योंकी वृत्ति देखी जा सकती है जो 'इ' से नामांकित किये गये हैं। 'इ' राज्य 'आ' के निकटतम पड़ोसी हैं अस्तु वे 'आ' के सहज अमित्र और 'अ' के मित्र होंगे। अतः यह दूसरा वृत्त सहज मित्रोंका होगा। इसे अधिक स्पष्ट करनेके लिये हम 'अ' को जो 'विजिगीषु' है, ले सकते हैं। परिणाम यह मिलेगा कि अन्य सभी राज्य उससे निम्नांकित रूप से संबंध रखेंगे—
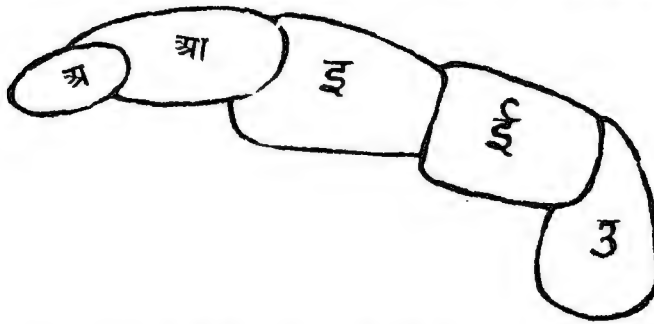
१—'अ' समान है केन्द्रीय राज्य—"विजगीषु";
२—'आ' ,, शत्रु ('अ' का) 'अरि';
३—'इ' ,, मित्र ('अ' का) 'मित्र';
४—'ई' ,, 'आ' का मित्र—शत्रुका मित्र 'अरिमित्र';
५—'उ' ,, 'इ' का मित्र अर्थात् मित्रका मित्र 'मित्र-मित्र'।[२]

इसी प्रकार इस संबंधको प्रतिकूल रूपसे देखनेसे मिलेगा 'अ' और 'आ' दो युध्यमान राज्योंके आगे दो और पीछे दो सपक्षी हैं—युध्यमानको लेकर उनकी पूरी संख्या १० है।

चन्देल केन्द्रमें थे। उनके सन्निकटतम राज्योंके वृत्तमें—त्रिपुराके कलचुरी दक्षिणमें, बिहारके पाल पूर्वमें, महाराजिक प्रतिहार उत्तरमें और परमार पश्चिममें थे। चन्देलोंको सहज रूपसे इन राज्योंसे अपने पूरे शासन-काल-भर युद्ध करते रहना पड़ा। जब चौहानोंने प्रतिहारोंका स्थान ग्रहण किया तब चन्देलोंका उनसे भी संघर्ष छिड़ गया। पिछले ऐतिहासिक विवरणोंसे स्पष्ट है कि इन शत्रु-राज्योंके बादके वृत्तवाले राज्योंकी बराबर मैत्री स्थापित होती रही।

जिस समय चन्देल दसवीं सदीमें यमुनाके समस्त दक्षिण भू-भागपर अपना अधिकार जमानेमें निरत थे, उस समय पूरा भारतवर्ष ही राजपूत-वंशीय शासकोंसे

१. इन्टर-स्टेट रिलेशन इन ऐंशियंट इण्डिया पृ० २—द्वारा एन० एल० ला।
२. इन्टर-स्टेट रिलेशन इन ऐंशियंट इण्डिया, पृ० ३—४।

शासित था, जिनमें कुछने मिलकर वर्ग बनाया था अथवा वे अलग जातिके रूपमें प्रतिष्ठित थे। काबुलसे कामरूपतक तथा कश्मीरसे कोंकणतक ये सभी राज्य राजपूतोंके अधीन थे। मध्य युगमें इस देशमें कितने ही बड़े-बड़े साम्राज्य भी थे, जिनकी अधीनतामें कितने ही छोटे राज्य भी सम्मिलित थे। ये राज्य बराबर युद्धरत थे—यदि सर्वदा विजयके लिये नहीं तो किसी बलशालीके आक्रमणसे एककी रक्षाके लिये।

राजनीतिक दृष्टिकोणमें संकोच

इन विभिन्न हिन्दू साम्राज्योंमें राष्ट्रीयताका वह उदार भाव विकसित न हो सका जिसके प्रभावसे जर्मनी और तुर्किस्तानके आक्रोचके उपरान्त भी यूरोपके हौलैण्ड या बेलजियम, हंगरी या पोलैण्ड जैसे तुच्छ राज्य सैकड़ों वर्षोंतक अपनी सार्व-भौमिकता अक्षुण्ण रख सके। दसवीं सदीके उत्तरार्ध और ग्यारहवींके पूर्वार्धमें हिन्दू राज्योंमें किंचित् राष्ट्रीय उदारता थी—इसमें सन्देह नहीं, किन्तु वह भी उत्तर राजपूत युगमें लुप्त हो गई। जैसे-जैसे राष्ट्रीय भावना परिसीमित होती गई, वैसे-वैसे बड़े साम्राज्योंका पतन और विलय अकाट्य होता गया। यह भी कारण था कि मध्यकालीन अथवा आधुनिक यूरोपीय साम्राज्योंकी तुलनामें पर्याप्त बड़े होते हुये भी वे राज्य अपनी क्षमताके अनुरूप शक्तिशाली राज्य न बन सके। फलतः यूरपके छोटे-छोटे ईसाई राज्य जहाँ अरबों और तुर्कोंके आततायीपनके समक्ष डिग न सके और उन सबने अपनी स्वाधीनता बनाये रक्खी वहाँ तत्कालीन विशाल हिन्दू राज्योंने भी उनके सामने अंतमें घुटने टेक दिये।

निरंतर वंशगत युद्ध

उस युगके राज्योंका उदय और प्रसार दोनों पड़ोसी राज्योंके मूल्यपर होता था। कन्नौज पतनोन्मुख था और उसके आधिपत्यको चतुर्दिक् चुनौती मिल रही थी। इस प्रतिस्पर्धामें चन्देलोंने किसी राज्यसे कम हाथ नहीं बटाया। चन्देलोंके प्रथम उत्थान—आरम्भसे सन् ९९८ ई०—तक कन्नौजके गुर्जर प्रतिहारोंका क्रमशः ह्रास होता गया। सीमावर्ती प्रांतोंने धीरे-धीरे साम्राज्यका जूआ कन्धेसे उतार फेंका और स्वतंत्र हो गए। देश विलक्षण संक्रमणके युगसे पार कर रहा था। उन विभिन्न वंशों और शासकोंमें चन्देल शासक धंग और परमार वंशका वाक्पति मुंज अग्रणी हैं जो प्रतिहार-राज्यश्रीको हस्तगत करनेके लिये प्रभावकारी ढंगसे उद्यत हुये, लेकिन परमार भी पीछे ठंढे पड़ गये और अंतमें हम लोगोंकी आशा आकर महान् चन्देलोंपर टिक गई, जो सावधानीसे उत्तर भारतके दक्षिण-मध्य भागमें विशाल साम्राज्य-रचनामें तल्लीन थे।

धंगदेवकी विदेशी नीति न तो सीमित थी न उदार। वह दूरदर्शितासे रहित नहीं थी। उसकी ऊँची राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओंका दर्शन यहीं होता है। विश्लेषणके लिये उसकी नीतिको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—

१. भारतीय शासकोंके प्रति उसकी नीति।

२. विदेशी आक्रामकोंके प्रति उसकी नीति।

अधिराजेश्वरत्वकी ओर

भारतीय शासकोंकी ओर उसने हिन्दू राजनीतिक आदर्श प्रदर्शित किया। उन्हें मिला लेनेकी नीतिका उसने सर्वथा परित्याग किया। उसने उनका उन्मूलन न करके केवल उनसे अधीनता स्वीकार कराई और एक साम्राज्यकी स्थापना की। इस प्रकार उसने अपना राज्य और साधन बढ़ाये। उसने छोटे-छोटे खण्डोंमें विभक्त राजपूत राज्योंकी सत्ता समाप्त करके दृढ़ केन्द्रीय सत्ता स्थापित करना अपना ऊँचा लक्ष्य बनाया था। इसी लक्ष्यसे अनुप्राणित होकर उसने तुर्कोंका सामना किया। उसकी विजय और चढ़ाइयाँ सभी राष्ट्रीय स्तरकी थीं। किन्तु अधिराजत्वके लिये अनेक राजपूतोंमें जो होड़ लगी थी उन सबको उसने दुर्बल कर दिया और इस विजेताके लक्ष्यमें भी बाधा पहुँचाई। उसकी नीतिका आगे भी विकास हुआ। कोशल, सिंहल और कुन्तल जैसे राज्योंने उसके निर्देशका समादर किया और मैत्री स्थापित की। धंगके मित्र-राष्ट्रोंकी संख्या अरिराज्योंसे अधिक थी—जो संयोगवश पिछले चन्देल शासकोंको बदा नहीं था। उसकी सफलताके मूलमें यह भी वर्तमान था।

धंगदेवके पुत्र गंडदेवने चन्देल राज्यका उत्तराधिकार प्राप्त किया और राजपूत राज्योंके प्रति अपने पिताकी नीतिका वस्तुतः अनुसरण करता हुआ वह अल्प समयमें ही इतना विख्यात हो गया कि तत्कालीन मुसलमान इतिहासकारोंने उसे अपने समयका सर्वशक्तिशाली भारतीय शासक माना। ध्यान देनेकी बात यह है कि उसकी नीति अपेक्षाकृत कुछ कठोर थी। वह दुर्बल राज्योंको अधीन कर लेनेकी अपेक्षा मिला लेना अधिक अच्छा समझता था। इस बातके पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि 'चन्देलोंने अधिराजत्वका वह मकुट प्राप्त करनेके लिये गम्भीर प्रयास किया जो महेन्द्रपाल प्रथमके अयोग्य उत्तराधिकारीके सिरसे गिर रहा था।' गंडदेवकी नीतिने इसे सक्रिय बल दिया जिससे अधिराजत्वके साथ-साथ चन्देल साम्राज्यकी सीमाएँ भी दूरतक फैलीं। उसने और उसके सुयोग्य उत्तराधिकारी विद्याधरदेवने एक बार उत्तरी भारतके समस्त महत्त्वपूर्ण भागको अपने गौरवशाली साम्राज्यके अधीन किया और उस युगके विकेंद्रित इतिहासमें एकता और केन्द्रीकरणकी प्रबल धारा बहा दी।

किन्तु विद्याधरके उत्तराधिकारियोंमें वह गुण नहीं लक्षित हुआ, जो उसके यशस्वी पूर्वजोंमें था। उनमें राजनीतिक सूक्ष्मदर्शिता, स्थितिका विश्लेषण, विरोधी स्थितिमें निर्माणके पौरुष और कूटनीतिक संबंध स्थापित करनेकी कलाका यथार्थतः अभाव होता गया। अपने पड़ोसियोंकी दुर्बलता एवं दुर्दिनसे लाभ उठाकर विशाल

केन्द्रीय साम्राज्यकी रचनाका कौशल उनमें कहाँ ? भारतवर्षके भीतर अग्रसर होकर विजयके लिये युद्ध करनेकी योजना उन्होंने हाथमें ही नहीं ली—उन्हें तो पड़ोसियोंके आक्रमणोंके विरुद्ध रक्षात्मक युद्धमें ही बझा रहना पड़ा। चन्देलोंका अन्य तत्कालीन राजपूत वंशोंके साथ युद्ध तो क्रमबद्ध रहा किन्तु उसका लक्ष्य एवं परिणाम परिवर्तित हो गया। अब तो उन्हें आत्मरक्षाके लिये ही अनवरत युद्धरत रहना पड़ा। गांगेयदेव विक्रमादित्य (सन् १०३०–४१ ई०) और लक्ष्मीकर्ण (सन् १०४१–७१ ई०), दाहलके कलचुरीने चन्देलोंके प्रतिकूल ऐसे युद्ध आरम्भ किये। किन्तु दो पीढ़ियोंके बाद जब कीर्तिवर्मन्देव चन्देल शासक हुआ तब उसने फिर साहसके साथ धंगदेव और गंडदेवकी अग्रसर नीतिको अपनाया। उसने 'भारतीय नेपोलियन' कर्णदेवको विपरीत स्थितिमें पड़ जानेके लिये बाध्य किया। अब उसे ही रक्षात्मक युद्धके लिये विवश हो जाना पड़ा। कर्णदेवके विरुद्ध उसने अपनी सेना संचालित की और उसे पराजित किया। इस घटनाने कीर्तिवर्मन्को इतने ऊँचे चढ़ा दिया कि प्रसिद्ध नाटक प्रबोधचन्द्रोदयकी रचना हुई, जिसमें कलचुरियोंपर चन्देलोंकी ऐतिहासिक विजयकी घोषणा की गई है। स्मरण रखनेकी बात यह है कि चन्देलोंके निकटतम और प्रखरतम शत्रु कलचुरी थे जिनसे शासनकाल भर उन्हें युद्ध कायम रखना पड़ा।

ये वंशगत युद्ध, जो वास्तवमें सम-विषम रूपमें सर्वदा सक्रिय रहे, कभी भी कोई बहुत प्रभावकारी परिणाम न उत्पन्न कर सके। मदनवर्मन्देव और परमर्दि भी, जो परवर्ती युगके अद्वितीय वीर थे, अपने वंशकी गौरवमयी विजय-नीति प्रतिष्ठित रखनेमें सर्वथा असफल रहे। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि उनकी इसी दुर्बलताने इस वंशके पतनको और गतिमान कर दिया। उत्तर चन्देल युगमें अन्य राजपूत वंशोंके प्रति इस वंशके शासकोंकी नीति अधिकतर उपचारकी हो गई और सभी इस बातके लिये यत्नशील रहे कि ये युद्ध अबाध रूपसे चलते रहें-- विजय, सुकीर्ति-स्थापन राज्य-विस्तार अथवा केन्द्रीकरणके लिये नहीं, वरन् परंपरा-निर्वाहके लिये। प्रत्येक उत्तराधिकारी अन्य वंशोंके साथ वही संबंध चलाना अपना धर्म समझता था जो उसके पिताके समयमें था। उनकी राजनीति समयोचित न रहकर रूढ़-सी हो चली। हाँ, मण्डल-सिद्धान्त भग्न रूपमें अब भी चलता रहा और अंततक चला। कलचुरी, परमार और चौहान वंश परंपरागत शत्रु बने रहे।

तुर्कोंके प्रति नीति

विदेशी नीतिका दूसरा मुख्य पक्ष था विदेशी आक्रमणकारियोंके साथ चन्देलोंका संबंध। जब धंगदेवने उत्तर-पश्चिममें अपना साम्राज्य स्थापित किया उससे पूर्व, पश्चिमोत्तर सीमापर तुर्कोंका राज्य जम चुका था। अल्पातगीनने सन् ९३३ ई० में

गजनीमें अपना राज्य स्थापित कर लिया था और उसके सरदार सुबुक्तगीनने उसके जीवन-कालमें ही अपने हिंस्र आयात आरम्भ कर दिये थे। जिस समय सन् ९७७ ई० में धंगदेवके हाथमें चन्देल-साम्राज्यका सूत्र आया, उस समय तुर्कोंका आक्रमण अधिकाधिक महत्त्वाकांक्षाका आधार बन गया। तब यह प्रश्न केवल 'शाहियोंके' लिये नहीं बल्कि समस्त राजपूत शासकोंके लिये राष्ट्रीय गौरवका प्रश्न बन गया। यह दूसरी बात थी कि सभी शासकोंने इस महत्त्वका अनुभव नहीं किया। शाही शासक जयपालने इसकी आवश्यकता समझी और उसने सभी प्रमुख सत्ताओंसे एक शक्तिशाली संघमें आबद्ध हो जानेके लिये प्रार्थना की ताकि तुर्क आक्रामक भारतके पश्चिमी द्वारपर ही रोक दिया जाय।

संघ-संघटन : एक राष्ट्रीय आवश्यकता

इसमें थोड़ा भी सन्देह नहीं कि वह बहुत प्रबल संघ-स्थापनका सुन्दर सुयोग था क्योंकि उस युगमें भारतके अधिकतर राज्य राजपूत-वंशों-द्वारा ही शासित हो रहे थे। जातीय साम्य और समान हितकी बातोंने उन्हें एक मंचपर ला बिठलाया था। जैसा कि कश्मीरकी राजतरंगिणीसे प्रकट भी होता है कि छत्तीस राजपूत राजवंशों-का एक संघटन बन चुका था। विगत अध्यायोंमें उल्लेख किया गया है कि धंगदेवने, जो उस समय वर्तमान था, सुबुक्तगीनके आक्रमणके विरुद्ध बने संघमें बड़ा ही महत्त्वपूर्ण भाग लिया। धंग तत्कालीन भारतका अत्यंत प्रतिभाशाली व्यक्ति था और देशकी बाहरी आपत्तियोंके प्रति सजग और जागरूक था। वह छोटे-छोटे राजपूत शासकोंको समेटकर एकछत्राधीन करना चाहता था कि तुर्कोंसे देशकी रक्षा सबल हाथोंसे की जा सके। अभिलेखोंके विरुद भी एक स्वरसे कहते हैं कि वह 'हम्बीर' के समान था। इस संघने तुर्कोंके बढ़ावको कुछ देरके लिये रोक दिया किन्तु यह संघ अधिक समयतक चलनेमें असफल रहा।

धंगने देशके गौरवके अनुरूप तुर्कोंके विरुद्ध स्पष्ट नीतिका अनुसरण किया। उसमें उसने सार्वभौम हितके लिये अपने स्वार्थोंका संवरण कर लिया तथा दुर्बलताओंसे ऊपर उठा। वह इतिहासके उन विरल शासकोंमें था जिन्होंने एकतंत्र भारतके लिये संघर्ष किया।

यह अत्यंत ही खेदका विषय है कि धंगके उत्तराधिकारियोंने विदेशी आक्रमण-कारियोंके प्रति उसीकी नीतिका अवलम्बन नहीं किया। धीरे-धीरे उन सबने इस प्रकारकी व्यापक राष्ट्र-भावनाका परित्याग कर दिया और स्थानीय तथा व्यक्तिगत स्वार्थोंकी साधनामें ही अपना पौरुष लगाया। गजनीकी गद्दीपर महमूदके जाते ही तुर्कोंके आक्रमणकी दूसरी लहर चली। यह गंड और विद्याधरदेवका समय था, जब असाधारण प्रतिभावाले इन दो चन्देल शासकोंको तुर्क आक्रमणका सामना करना पड़ा। महमूद भी तुर्क परंपराका सर्वोत्तम विजेता और सैनिक व्यक्ति था।

गंडने वस्तुतः अपने पिताकी ही नीतिका अनुसरण किया। उसने देशके प्रमुख शासकोंका स्वयं एक संघ बनाया और राज्यपालकी सहायतामें जा पहुँचा। दुर्भाग्यवश यह संघ तुर्कोंके आततायीपनके समक्ष देरतक न डट सका। गंडदेवकी इस चेष्टाकी प्रतिहिंसाकी भावनासे जब महमूदने कालंजरपर चढ़ाई की तब गंडने ऐसी दृढ़ मोर्चेबंदी की कि बाध्य होकर महमूद गजनवीको संधि करके पीछे लौटना पड़ा। पहले लिखा जा चुका है, विद्याधरदेवने भी तुर्कोंके आक्रमणके विरुद्ध भारतीय शासकोंका संघ बनाया। यद्यपि अपने प्रयासमें वह सफल नहीं हो सका किन्तु इस प्रयत्न-द्वारा उसकी नीतिकी महत्ता अवश्य सिद्ध हो रही है।

कुछ इतिहासकारोंने इन संघोंकी क्षमतापर सन्देह प्रकट किया है। उनका कथन है कि उनमें प्रभावकारी और व्यापक राष्ट्रीय भावनावाले नेतृत्वकी कमी थी। किन्तु यह आरोप औचित्यपूर्ण नहीं है। जहाँतक नेतृत्वका प्रश्न था, धंग और गंड तत्कालीन भारतके असाधारण प्रतिभावान् शासक थे, जिन्होंने न केवल समयकी गतिको पहचाना बल्कि विश्रृंखलित भारतको भी सुसंघटित करनेका प्रयत्न किया। चि० वि० वैद्यके इस मतसे कोई सहमत नहीं हो सकता कि राजपूत शासकोंकी राष्ट्रीय भावना संदिग्ध थी। गंडदेवकी राष्ट्र-भावना इतनी प्रखर थी कि जब कन्नौजके सम्राट्ने तुर्क आक्रमणकारी महमूदके समक्ष आत्म-समर्पण करके देशके सम्मानको धक्का पहुँचाया तब उसे दण्डित करनेके लिये उसने अपने आत्मज विद्याधरको विशाल संघ-सेनाके साथ भेजा। इस प्रकार व्यापक परिणामोंसे ज्ञात होता है कि चन्देल शासक उत्कृष्ट राष्ट्रभावनासे अनुप्राणित थे।

अतः तत्कालीन शासकोंमें विशेष रूपसे राजपूत शासकोंमें, देशप्रेमकी कमी, तुर्कोंके समक्ष पराजयका कारण नहीं मानी जा सकती। मौलिक कारण तो, जैसा कि डा हे० च० रायने मत प्रकट किया है, मध्य-एशियाके बुभुक्षु और पर्यटन-शील समूहकी, जिसने अपनी विलक्षण धारणाके अनुरूप इस्लामकी व्याख्यासे अपनेको अधिक पुष्ट कर लिया था, लूट और विनाशकी अतृप्त प्यास और दुःसाहस था। इसके अतिरिक्त तुर्कोंके विशिष्ट नेतृत्व तथा युद्ध-मान्यताने भी काम किया। चन्देल कम वीर नहीं थे किन्तु वे महमूद अथवा मुइज़्ज़ुद्दीनको जन्म न दे सके। यही उनकी भारी दुर्बलता है।[1]

सुदृढ़ सीमानीतिकी कमी

मध्ययुगमें राजपूत शासक क्यों विदेशी आक्रमणकारियोंके द्वारा बार-बार आक्रांत हो रहे थे, इस प्रश्नका यदि एक उत्तर ढूँढ़ा जाय तो यही मिलेगा कि उस समय इस देशमें सुदृढ़ और स्पष्ट सीमानीतिकी कमी थी। इस देशकी बाहर-से रक्षाके लिये उत्तर-पश्चिमी सीमा-नीति जितनी महत्त्वपूर्ण थी, उतनी ही

---

१. डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ़ नौर्थ इण्डिया, भा० २, पृ० १२१८।

राजपूत शासकोंने उसकी उपेक्षा की। इस अनवधानताने आक्रमणकारियोंके कार्यको सरल बना दिया और उनका इस देशके भीतर प्रवेश सुगम हो गया। न केवल चन्देल बल्कि अन्य शासकोंको भी अपनी विदेशी नीतिमें दुहरे मोर्चेकी आवश्यकता थी। एक तरफ जहाँ अपने व्यक्तिगत राज्यकी सुरक्षाके लिये राज्य-सीमाओंकी रक्षा की जानी चाहिये थी, वहाँ समस्त भारतीय उत्तर-पश्चिम सीमाकी रक्षाके निमित्त सुदृढ़ किले-बन्दीकी नितांत आवश्यकता थी। यह सत्य है कि चन्देल शासक महाराज धंगदेवने विशेष रूपसे इस सीमाके समरोचित महत्वका पूर्णतया अनुभव किया क्योंकि उसने तत्कालीन सभी साधनोंका प्रयोग करके वहीं भारतीय द्वारपर ही गजनवीका सामना किया और उसे आगे बढ़नेसे रोका। लेकिन वह भी प्रमुख शासकोंकी सहायतासे सीमापर ऐसी स्थायी दुर्ग-व्यवस्था नहीं कर सका जो सारे देशकी रक्षाका निश्चित मार्ग हो। इधर तत्कालीन सभी शासकोंकी उपेक्षा और उदासीनता सामान्य रूपमें रही। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि उसीके दो उत्तराधिकारी गंड और विद्याधरदेवने इसे अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण समझा, फलतः उन्हें अपने राज्यमें शत्रुका सामना करना पड़ा और बादके समयमें तो सीमा-नीति सर्वथा उपेक्षित ही हो गई।

कूट-नीतिक संबंध

देशके परंपरागत इतिहासमें उत्तर-पश्चिमकी सीमाकी सुदृढ़ रक्षाकी स्वस्थ परंपरा मौर्यो, गुप्तों एवं पुष्यभूति शासकोंके समयतक चली आई। दुर्भाग्यवश राजपूतोंने इस गम्भीरताको भुला दिया। धंगने जहाँ परंपरानिहित इस नीतिको चरितार्थ किया वहाँ परवर्तियोंने नहीं। गंडदेवने अपनी उस भूलका सुधार गजनीसे कूटनीतिक संबंध स्थापित करके करना चाहा। गजनीके सुलतानसे यह संबंध उसने अपने राज्य-कालभर रक्खा। किन्तु गंडकी यह नीति देशके लिये बड़ी घातक सिद्ध हुई। गंडने इस संधिसे अपने लिये तो गजनीकी ओरसे अनाक्रमणका आश्वासन प्राप्त कर लिया, किन्तु पश्चिमी भारतके लिये यह घातक हुआ। तुर्क आक्रमणकारी चन्देलों और मध्य भारतकी ओरसे निश्चिन्त हो गये। फलतः उन्होंने खुलकर पश्चिमी भारतको तथा अन्य दूरवर्ती भागोंको लूटा तथा उनका सर्वनाश किया।

वैवाहिक संबंध

चन्देल इतिहासके कूटनीतिक संबंधमें वैवाहिक संधियोंका वह महत्वपूर्ण स्थान नहीं पाया जाता जो गुप्त अथवा वाकाटक वंशोंके शासन-कालमें पाया जाता है। इसका एक साधारण-सा कारण यह था कि हर एक शासकके लिये युद्ध एक परंपरा हो गई थी। दो संघर्षरत साम्राज्योंके बीच वैवाहिक संबंध स्वार्थकी विषम खाईको पाटनेमें थोड़ा भी समर्थ नहीं हो पाता था। फलतः मध्ययुगमें वैवाहिक

प्रभाव नितांत क्षणिक और अस्थिर सिद्ध हुये। एक ही वैवाहिक संबंध, जिसका प्रभाव महत्त्वपूर्ण पाया गया, वह इस वंशके प्रथम प्रतिभाशाली शासक हर्षवर्मन्-देवका था, जो दसवीं सदीके प्रथम भागमें चौहान वंशकी राज-कन्यासे हुआ था। इस संबंधके ठीक तीन सदीके बाद चौहानों एवं चन्देलोंमें कलहका सूत्रपात्र होता है। लेकिन कलचुरी वंशके साथ स्थापित वैवाहिक संबंध तो प्रभावहीन सिद्ध हुआ क्योंकि दोनों राजवंशोंके बीचके संघर्षको यह कुछ दिनोंके लिये भी रोकनेमें शक्तिशाली प्रमाणित नहीं हुआ।

विभिन्न दृष्टियोंसे मूल्यांकन करनेपर यही निष्कर्ष निकलता है कि चन्देलोंकी विदेशी नीति और उनका दौत्य कार्य तत्कालीन सभी राजपूत वंशोंमें अधिक सफल था। यह केवल चन्देल ही थे जिन्होंने एक शताब्दीसे अधिक ही (सन् ६४० से ११०० ई०) गौरवके साथ राष्ट्रचेतनाका प्रतिनिधित्व किया। विदेशी आक्रमण तथा आंतरिक झगड़ोंके बीच अपनी सूक्ष्म नीतिके कारण उत्तर भारतमें वे प्रथम श्रेणी-के सम्राट् बन गये। व्यक्तिगत रूपसे उन्होंने राज्यश्रीकी जो वृद्धि की उसके अतिरिक्त भारतवर्षकी सार्वभौम मर्यादाके लिये उन्होंने सबसे अधिक महत्त्वका कार्य उन युद्धोंमें किया जिनमें भारतकी सबसे बड़ी सेना, असीम सेनाने अपनी जातिके गौरवके लिये शस्त्र ग्रहण किया था और वीरताके साथ शत्रु-सीमामें प्रवेश किया था। तुर्कोंके विरुद्ध युद्ध, राष्ट्रीय युद्ध और धर्मयुद्ध दोनों था। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि देशको पराधीनतासे बचानेकी यह अंतिम लड़ाई थी। इस कर्त्तव्यने तत्कालीन भारतके, विशेष रूपसे चन्देल शासकोंके हृदयको ऐसा प्रभावित किया कि उस अपार सेनाके लिये दैनिक प्रयोगकी सामग्री दूर और निकटसे अजस्र धाराके रूपमें तो आती ही थी, "हिन्दू वीरांगनाओंने अपने जवाहरात बेच डाले, अपने स्वर्णाभूषण गला डाले और इस धर्मयुद्धके संचालनके लिए उन्होंने दूरस्थ देशोंसे भी अपनी सहायता भेजी।"[१] उत्तर भारतके जिस विशिष्ट शासकने इस महनीय युद्धमें भाग नहीं लिया वे बंगालके पाल थे। डा० मजुमदारने यथार्थ ही कहा है कि केवल पालोंके अपवादके साथ "आर्यावर्तके सपूतोंने मातृभूमिकी पुकारपर गौरवोचित उत्तर दिया और वर्त्तमान इतिहासकारों-के इस आरोपको निःसार सिद्ध कर दिया कि उनमें एकताकी कमी थी और देशके दुर्दिनमें राष्ट्र-भावनाका अभाव था।"[२] अतः यह कथन युक्तिपूर्ण नहीं है कि 'कार्य-साधकता और राष्ट्रीय रक्षाका महत्त्व पहले पहल शिवाजीने ही अनुभव किया।"[३]

—:o:—

१. तारीख-ए-फ़रिश्ता, भाग १, ब्रिग्स, पृ० ४६

२. ऐंशियंट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइज़ेशन, पृ० ४०२

३. हिस्ट्री औफ़ मेडिवल हिन्दू इण्डिया, भाग ३, पृ० ३६५

अध्याय ११

समाज

इस अध्यायमें राजपूत-युग—विशेषतया चन्देल शासकोंके समयके सामाजिक जीवनका वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया जायगा। निःसन्देह चन्देल-साम्राज्यांतर्गत समाज और तत्कालीन भारतके अन्य भागोंमें स्थित समाजमें कोई विशेष अन्तर नहीं था। प्रारम्भमें ही यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि हिन्दू समाज और संस्कृतिके स्वभावकी विशेषता उसकी विलक्षणता, अद्वितीय स्वरूप और दीर्घ अवस्थामें उतनी नहीं है, जितनी उसके समीकरण और आत्मसात् करने-की शक्तिमें। आर्य अपनी सभ्यताकी अभ्युदय-प्रक्रियामें अर्धसभ्य अथवा असभ्य आदिवासियोंके ही सम्पर्कमें नहीं आये वरन् उनका संघर्ष यूनानी, पार्थी, शक और कुशण जैसी बलिष्ठ और परंपरा-संपुष्ट जातियोंसे भी हुआ जो विशाल वैदिक समाजमें आत्मसात् कर ली गईं। राजपूत-युगके पूर्वार्धमें भी समाजकी यह उदार प्रकृति बनी रही और उसके समीकरण और निगरणकी अंतिम सफलता बौद्ध धर्मके ऊपर स्थापित हुई। यह शक्ति समाजकी धमनियोंमें उष्ण ही बनी रही। किन्तु आश्चर्यका विषय यह है कि मुसलमानोंके आगमन और उनके राज्यस्थापनके साथ ही समाजमें एक दूसरी प्रक्रियाका दर्शन होता है। यह गतिमें विलोम और धारणा-में अनुदार थी। सनातन औदार्यके अंकमें एक ऐसी भावनाका आविर्भाव हुआ जो संकीर्ण और वर्जनशील थी तथा जिसका विकास एकान्ततामें होने लगा।

हिन्दुओंने क्यों इस विपरीत मान्यताको अपनाया—इसके पीछे कारण अथवा आधार क्या था?—यह विषय पूर्णतया विवादग्रस्त है। कुछ विद्वानोंने इसे प्रतिक्रिया बतलाया है और कुछने इसे पतनका लक्षण। किन्तु दोनों समीक्षाएँ एकांगी हैं। तुर्कोंके पूर्व जिन समुदायोंने भारतीय द्वारमें प्रवेश किया वे भी विस्मय और सन्देहकी दृष्टिसे देखे गये। उन्होंने भारतीयोंसे युद्ध तो किया किन्तु यहाँके समाजको आक्रांत करनेकी बात नहीं सोची। आर्योंने पौरुषके बाह्य आक्रोशके साथ-साथ स्नेह और समवेदन प्रदान किया। आक्रमणकारियोंने इसका मूल्य आँका और स्वभावतः उनमें ही विलीन हो गये। किन्तु जब तुर्कोंने उस देशका दरवाजा खटखटाया, तब वे धर्मकी कट्टरता और अंधभक्तिके मदमें छके थे और उनका संकल्प समाज-सापेक्ष था, जिसके पीछे न केवल स्थापत्यको बल्कि कला, संस्कृति और धर्मको ध्वस्त करनेकी बलवती भावना थी। यह अत्यन्त विवेकपूर्ण आचरण था कि विनाशकी इस अपरिहार्य विभीषिकासे वर्जनशीलताके द्वारा पहले समाजके सत्वकी रक्षा की

जाय। प्रभंजनके पश्चात्की शांति जब आवे तब उसमें निगरणकी प्रक्रिया आरम्भ की जाय। ये दोनों क्रमिक रूपसे ग्रहण की जानेवाली मनोवैज्ञानिक अवस्थाएँ थीं। आर्योंकी भूल वहाँ हुई जब वे प्रथमावस्थाको ही सर्वदा ग्रहण किये रह गये। इसके कुफलका जो अंधकार क्षितिजमें था, उसे देखनेका सामर्थ्य उनमें नहीं था।

तत्कालीन समाजकी जानकारीके साधन—भारतीय और विदेशी, दोनों, सीमित हैं। स्थानीय साहित्यके भी वे कोई व्यापक साधन नहीं हैं। विशेष आधार तो स्मृतियों और प्रबोधचन्द्रोदय जैसे नाटकको बनना पड़ा है। फिर भी उसी युगकी और भी कतिपय कृतियोंने समाजके चित्रपर आंशिक प्रकाश डाला है। इस संबंधमें उत्कीर्ण लेखोंसे बहुमूल्य जानकारी हुई है। सौभाग्यवश अरब यात्रियोंसे जो विवरण उपलब्ध हुए हैं, वे बड़े ही महत्त्वके सिद्ध हुए हैं। अल-बेरूनीका इतिहास तो अत्यंत ही उपादेय प्रतीत हुआ है जिसे उसने भारतवर्षके संबंधमें सन् १०३० ई० में लिखा था। आवश्यकता इस बातकी है कि उसे विवेकके साथ समझा जाय क्योंकि अलबरूनीके ज्ञानका आधार अधिकतर वे पुस्तकें अथवा वे व्यक्ति थे, जिनसे वह मिल सका; निजी अनुभव अथवा पर्यवेक्षण नहीं। वह हिन्दुओंके साथ अवश्य रहा किन्तु केवल मुलतान और उसके पड़ोसमें। यही कारण है कि उसके कथन सर्वदा ग्राह्य और विश्वसनीय नहीं होते। उसकी समालोचनाएँ भी बहुधा कटु हो गई हैं—इसका भी कारण यही है।

चार वर्ण

अब यदि उस युगके समाजके वास्तविक स्वरूपका अंकन किया जाय तो ज्ञात होता है कि केवल सैद्धान्तिक रूपमें हिन्दू-समाज चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—में विभाजित था। वर्णोंकी प्रकृति आरम्भसे अबतक दोषरहित और निरापद थी किन्तु समयके साथ उसमें पर्याप्त रूपान्तर होता जा रहा था और संघटनमें कई प्रकारकी दुर्बलताएँ सन्निविष्ट होती जा रही थीं। ब्राह्मणोंका प्राबल्य, जन्मना जाति-निर्धारणकी मान्यता तथा भोजन एवं विवाह-क्रियाओंमें अंतर्जातीयताका बहिष्कार, क्रमसे सभी रूढ़ होने लगे थे। स्मरण रखनेकी बात यह है कि इनमेंसे किसीपर भी प्राचीन शास्त्रोंकी सम्मति नहीं प्राप्त थी। इनका प्रवेश भी पर्याप्त संघर्षके उपरान्त ही हुआ, जो पूरे राजपूत-युगमें चलता रहा।

वर्ग और उप-जातियाँ

इस युगके आरम्भमें वर्ग और उपजातियाँ न तो दृढ़ हुई थीं और न उनमें विभाजन और उप-विभाजनका ही सूत्रपात हुआ था। कहनेका तात्पर्य यह कि सारे भारतवर्षमें ब्राह्मण एक जातिके रूपमें था—वर्तमान समयकी भाँति भौगोलिक अथवा अन्य तुच्छ भेदोंके आधारपर उप-विभाजन और वर्ग-रचना नहीं हुई थी। अभिलेखोंमें भी उप-विभाजनोंके प्रमाण नहीं मिलते। उनमें पहचानके लिए गोत्र और शाखाओंका प्रयोग किया गया है—"कश्यपगोत्राय केशवशर्मणे ब्राह्मणाय।"

वर्ण-व्यवस्थाका जो स्वरूप ई० सन् दसवीं और ग्यारहवींमें था उसका मनोहर दृश्य सन् ९०० ई० के इतिहासकार इब्न खुर्दद्बके लेखोंमें पाया जाता है। वह लिखता है, "सात वर्गके हिन्दू हैं। पहला सब्कुत्रिया, जो सर्वोच्च माने जाते हैं; इन्हींमेंसे राजा बनाये जाते हैं। दूसरे वर्गोंके लोग इसके प्रति पूज्य भाव रखते हैं। दूसरे ब्राह्मण हैं, जो मदिरा और आमिष व पेयोंसे सर्वदा दूर रहते हैं। तीसरे क्षत्रिय है, जो तीन चषकसे अधिक मद्य नहीं पीते हैं। ब्राह्मणोंकी कन्या उनको विवाहमें नहीं दी जाती; किन्तु ब्राह्मण उनकी कन्या ग्रहण करते हैं। चौथे बैसुर हैं जो कृषिका ही व्यवसाय करते हैं। पाँचवें शूद्र हैं जो शिल्प और गृहधंधोंसे जीविकोपार्जन करते हैं। छठें सण्डालिया हैं, जो निम्न कोटिके भृत्य कार्य करते हैं। सातवाँ लहुड है, जिनकी स्त्रियाँ आभरण-प्रिय और पुरुष विनोद और चामत्कारिक खेलोंके प्रेमी होते हैं।" यह वर्णन वास्तविक स्थितिसे बहुत कुछ साम्य रखता है। ये वर्ग शासक, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल और लहुड या भ्रमणशील जाति ही हैं।

जातिके दो पहलू हैं—व्यावसायिक और विवाह-जन्य। ऊपरके वर्णनमें विवाह-जन्य अवस्थाका भी परिचय मिलता है। अंतर्जातीय विवाह अब भी वर्तमान था किन्तु बारहवीं सदीके आरम्भ होते-होते आर्य वर्णोंके भीतर निम्न वर्णकी कन्यासे विवाह करनेके विशेषाधिकारमें वह प्रभाव नहीं रह गया था कि वह उस जातीय वर्ग-विशृंखलनको रोक सके जो जातिगत विवाहके प्रादुर्भावके साथ तेजीसे भारतवर्षमें इस सदीमें चल पड़ा। कुछ इतिहासकारोंके अनुसार वर्गभेदकी मनोवृत्तिका कारण यह भी था कि संततिके प्रति लोगोंमें हेय भाव आने लगा।

र० चं० मजुमदारने इसके कारणोंका परिशीलन करते हुए बतलाया है कि ब्राह्मणोंकी निरंकुशता अनिवार्य कारण थी, जिसने यह मान्यता ठहराई कि ब्राह्मण मातापितासे उत्पन्न संतान ही ब्राह्मण हो। ब्राह्मणोंने धीरे-धीरे किन्तु निरंतर ऐसी स्थिति उत्पन्न की कि शेष वर्ण समाजमें स्पष्ट रूपसे हेय बनते गये और अधीनसे बन गये।[1] कारणोंकी सत्यतापर व्यापक दृष्टिसे विचार करनेपर किसी वर्ण विशेषपर ऐसा दायित्व ठोकना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता।

जातियोंका शाखाविस्तार

इसके साथ ही व्यवसायोंका परिवर्तन भी बड़ी तेजीसे आरम्भ हुआ। ऊपरके उद्धरणसे स्पष्ट ही हो गया है कि कृषि करनेवाले, शासन करनेवाले आदि समूहोंमें क्षत्रियोंका छिन्न-भिन्न होना आरम्भ हो गया था। इब्न-खुर्दद्बने इसका उल्लेख किया है। जैसा कि कुछ चन्देल और गहड़वाल अभिलेखोंसे प्राप्त होता है,[2] उस

१. ऐंशियंट हिस्ट्री औफ़ इण्डिया, पृ० ५६६—मजुमदार
२. ए० ई०, भाग ४, पृ० १२१

युगके उत्तरार्धमें ब्राह्मणोंको स्थानीय संज्ञाओंसे अलंकृत किया जाना आरम्भ हो गया था। रक्त और स्थानीय गुण-विशेषके आधारपर वे अगणित उपजातियोंमें विभक्त होने लगे। कुलोंकी मान्यता प्रतिष्ठित होने लगी। अपने आचार और धार्मिक-क्रिया-कलापके कारण परंपरागत रूपसे उत्तर भारतके ब्राह्मण अपेक्षाकृत श्रेष्ठतर और शुद्धतर माने जाने लगे।

क्षत्रिय और वैश्य भी उप-जातियोंमें विकेन्द्रित होने लगे। किन्तु यह ध्यान रखनेकी बात है कि ब्राह्मणोंके शक्तिशाली व्यक्तित्वसे वे बहुत प्रभावित थे और अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा और कोटिके लिए उनको ब्राह्मणोंकी ओर ही देखना पड़ता था। यह आश्वासन देनेकी क्षमता भी केवल ब्राह्मणोंमें ही थी। हिन्दू-समाजके शारीरिक संस्थानका यदि निदान किया जाय तो प्रगट होगा कि राजपूत युगके उत्तरकालमें केवल शिर और पाद ही सजीव थे, बीचके अवयव बड़ी तीव्रता-से विकल और जड़ होने लग गये थे। यही नहीं, स्वस्थ चेतनाके क्रमिक अभावके साथ हिन्दू-समाज एक विचित्र मनःस्थितिमें पड़ता जा रहा था। लोगोंकी आस्था न तो विवेक और तर्कमें रह गई और न अपनी विगत विभुताकी परम्परामें। वे अंधविश्वास और अधोगतिकी दुरभिसंधिमें फँसते जा रहे थे।

ब्राह्मणोंका शाखा-विस्तार जहाँ देशविशेषके गुण-दोष और रक्तके आधारपर हुआ, वहाँ क्षत्रियोंका शासकीय प्रतिष्ठा और श्रेष्ठतापर और वैश्योंका आदतोंके आधारपर। शूद्र और चाण्डाल तो अत्यंत प्राचीन समयसे विभिन्न कुलोंमें विभक्त चले आ रहे थे। सभी वर्णोंके अंतर्गत आनेवाली कुल-विभाजनकी इस प्रवृत्तिने समाजके दृष्टिकोण और मनोवृत्तिमें व्यापक परिवर्तन उपस्थित कर दिया।

विदेशी सम्पर्क; लचीलापन तथा ग्राहकताका अभाव

जैसा कि पहले संकेत किया गया, विदेशी सम्पर्कसे जो प्रारम्भमें समाजकी धारणामें आकुंचन आया वह सहज था—विनाशकारी प्रतिक्रिया अथवा अनुदारता नहीं। लेकिन जब लोग इसीसे स्थायी रूपपर आसक्त हो गये, तब इसके परिणाम विपरीत होने लगे। उसे तो केवल सामयिक नीतिके रूपमें ग्रहण किया जाना चाहिए था। समाजकी तत्कालीन अवस्थाका वर्णन अल-बरूनीने जिन शब्दोंमें किया है वे नीचे दिये जा रहे हैं—यह अवश्य है कि इसमें एकांगता और अतिरंजनका आश्रय ले लिया गया है।

"हिन्दुओंकी परिपूर्ण कट्टरता उनके विरुद्ध है जो इस धर्ममें विश्वास नहीं करते। उन सभी विदेशियोंसे वे किसी भी प्रकारका संबंध स्थापित करनेका विरोध करते हैं जिन्हें वे म्लेच्छ अथवा पापात्मा कहते हैं; यह संबंध चाहे अंतर्विवाह हो अथवा दूसरे प्रकारका, जैसे बैठना-उठना, खान-पान। इसका कारण यह है कि ऐसा करनेसे वे अपने अपवित्र हो जानेका भय करते हैं। विदेशियोंके अन्न-जलसे छू जानेवाली वस्तुको भी वैसी ही अपवित्र मानते हैं। चाहे वह कोई भी

क्यों न हो, यदि उनके धर्म-समाजका नहीं है, तो वे उसका स्वागत नहीं करते थे—उनके धर्मको चाहते अथवा अंगीकार करनेके लिए उद्यत होते थे तब भी। यह भाव भी किसी संबंधके स्थापित होनेको सर्वथा असम्भव कर देता है और हम लोगोंके बीच बड़ी चौड़ी खाई बना देता है।"

यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि हिन्दुओंकी यह नीति सभी विदेशियोंके प्रति नहीं थी। उन्होंने ऐसे सभीका स्वागत किया जो उनकी मर्यादाके प्रति उचित आदर प्रकट करते आये और मानवीय व्यवहारोंके साथ आये। किन्तु जब उनकी दीर्घ अर्जित थातीके ऊपर ही काल मँडराने लगा तब उन्हें अपनी नीति बदलनी पड़ी क्योंकि वे उसे विनाशसे बचाना चाहते थे। अलबरूनीके ही शब्दोंमें "महमूदने भारतवर्षकी सभी अर्जित थाती और उसका सौंदर्य सोलह आने नष्ट कर दिया और ऐसा झंझावात ला दिया जिसने हिन्दुओंको रजकणकी भाँति बिखेर दिया। यही कारण है कि हिन्दुओंकी विद्याएँ एवं ज्ञान उस भूमिसे जिसे हम लोगोंने विजित किया है बहुत दूर काशी जैसे स्थानोंको चली गई, जहाँ हम लोगोंके हाथ नहीं पहुँच सकते।"[1] फिर अलबरूनीने यह आशा कैसे लगाई थी कि हिन्दू ऐसे नृशंस उद्ध्वंसकोंका स्वागत करते, उनके प्रति प्रेम प्रदर्शित करते और खानपान तथा व्यवहार स्थापित करते। तुर्कोंके प्रति सहज भावना प्रेमकी नहीं, घृणाकी उठती थी। जो हिन्दू अपने नेत्रोंके समक्ष मंदिरोंको धराशायी होते, स्त्री-बच्चोंको कत्ल होते, सम्पतिको भस्म होते और पशुओंको उच्छिन्न होते देखते थे, उनकी मनोदशाका क्या पूछना। केवल उनकी सामाजिक और धार्मिक काया ही नहीं, उनकी सभ्यता और परंपरा अधरमें पड़ गई थी। ऐसी दशामें बहिष्कारकी नीतिका अनुसरण उनके लिए अनुचित नहीं था। अलबरूनीने हिन्दुओंके पूर्वजोंकी तुलनामें एक जगह कहा है, "हिन्दुओंके पूर्वज उतने संकीर्ण विचारके नहीं थे, जितने कि वर्तमान पीढ़ीके हैं।"[2] उसके कथन इस अर्थमें सैवथा सत्य हैं कि विशेष परिस्थितिमें उन्हें पूर्वजोंकी उदारता अत्यंत सीमित कर देनी पड़ी थी—लेकिन केवल "म्लेच्छों" के लिए।

दुर्भाग्यवश कट्टर तुर्कोंका निर्मम आक्रमण कई शताब्दियोंतक होता रहा—मुगलोंने भी लगभग उसी नीतिका अनुसरण किया। अतः, भारतवर्षके लोग उसी मनोवृत्तिको बनाये रखनेके लिए बाध्य होते रहे। आगे चलकर वही उनकी व्यवस्था और सामाजिक प्रणाली बनकर रूढ़ि हो गई। अस्तु वर्णोंकी क्रियामें ऐसे परिवर्तनका कारण एकमात्र ब्राह्मणोंका आधिपत्य नहीं ठहराया जा सकता।

---

१. अलबरूनीका भारत, अनु० (संतराम), पृ० २७

२. वही, पृ० २८

यदि ऐतिहासिक खोजकी प्रक्रियामें निष्पक्षता बरती जाय तो यही मानना पड़ेगा कि मध्ययुगके अत्यंत प्रारम्भमें ही पश्चिमी और मध्य एशियामें उद्ध्वंसकी भावनासे प्रेरित युद्ध-प्रिय जातियोंका उदय हुआ। जहाँ-जहाँ वे गईं, अपने साथ यह भयंकर भावना भी लेती गईं। वसुन्धराके वक्षःस्थलसे उन्होंने कितनी सम्पन्न सभ्यताओंको देवलोक भेज दिया। दुर्भाग्यवश भारतवर्ष भी उनके पुष्ट पंजोंमें पड़ गया। किन्तु इस देशके तत्कालीन निवासियोंके व्यापक बहिष्कारकी नीतिने उस समय इस दीर्घ सभ्यताको विनष्ट होनेसे बचाया। अलबरूनीका निम्नांकित आक्षेप यदि तब भी होता है तो इसके औचित्यके संबंधमें कहना ही व्यर्थ है:—

"हिन्दुओंका विश्वास है कि यदि कोई देश है तो उनका, कोई जाति है तो उनकी, यदि शासक हैं तो उनके। कोई धर्म उनके धर्मके समान नहीं है ओर न कोई विज्ञान उनके विज्ञानकी तुलनामें आ सकता है। वे उद्धत, अज्ञान-भरे, अहंकारयुक्त, आत्मावलिप्त और जड़ हैं। जो कुछ वे जानते हैं, उसे बतलानेमें वे स्वभावतः अनुदार हैं और किसी विदेशीसे प्रच्छन्न रखनेमें वे अधिक-से-अधिक सतर्कता रखते हैं।"

यदि यही जानकारी भारतवासियोंके संबंधमें अलबरूनीकी थी, तो आश्चर्यजनक होते हुए भी अनुचित नहीं थी। भारतवासियोंका राजनीतिक अवरोह भले ही हो रहा था, किन्तु उनकी सामान्य मनोवृत्ति, जिसपर उक्त इतिहासकारने कट्टरताका आरोप लगाया है, उस जातिकी तुलनामें बहुत बढ़ी हुई थी, जिसका अलबरूनी एक सदस्य था। राजनीतिक पतनके कारणके रूपमें वर्ण-व्यवस्था अथवा ब्राह्मणोंको मान बैठना निश्चित ही तर्कसंगत नहीं। जब तत्कालीन समाजमें पूर्णतः परिवर्तित वृत्तियोंके कारणोंकी खोज आरम्भ की जाय, तब किसी वर्ग-विशेषपर आरोप लगा देना समस्याका हल नहीं समझना चाहिए। इसका संबंध तो तुरत एक व्यापक ऐतिहासिक घटना—तुर्कोंके आक्रमण—से प्रकट होने लगता है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि समाजकी मनोवृत्तिमें परिवर्तन, संकीर्णताका आगमन, रूढ़िवादिता और अधोगति आदि अनेक सामाजिक दुर्बलताएँ, राजनैतिक पतनके कारण नहीं हैं, जिनकी चर्चा अनेक इतिहासकारोंने की है, बल्कि तुर्कोंके अमानुषिक आक्रमणके परिणाम हैं।

यह निर्विवाद है कि तत्कालीन सामाजिक मनोवृत्तिमें आकस्मिक परिवर्तन हिन्दुओंका अपना आग्रह नहीं था और न उनके तथाकथित सैनिक अयोग्यतासे इसका संबंध था। यदि मुसलमानोंके आक्रमणोंकी उस शृंखलाका ध्यानसे अध्ययन किया जाय जिसका अवसान उत्तरी भारतवर्षके राज्योंके छिन्न-भिन्न होनेमें हुआ, तो प्रकट होगा कि मुसलमानोंकी सैनिक योग्यताने नहीं, बल्कि उनकी पाशविक पद्धति-ने उन्हें विजयका यश प्रदान किया। हिन्दू समाजकी तत्कालीन बनावटमें ही इस देशके सैनिकोंमें व्यक्तिगत उत्सर्ग और वीरता, स्वाभिमान और जाति-दर्प तथा

व्यूह-विज्ञान और लक्ष्य-निक्षेपका असाधारण विकास हुआ था--विरोधी केवल नृशंसतामें बढ़े-चढ़े थे। विदेशियोंने इस देशको पहले भी तो जीता था किन्तु उनका आधिपत्य थोड़े दिन भी न टिक सका। भारतवासी उनसे सर्वदा सफलताके साथ भिड़ते रहे और हर बार शत्रुओंको या तो अपना अस्तित्व खो देना पड़ा या नौ दो ग्यारह होना पड़ा।

अस्तु, तत्कालीन समाजमें यदि कोई बहिष्कार-भाव था तो वह केवल इस बातका कि उन्होंने तुर्कोंसे उनके आदर्श नहीं सीखे। इतिहासकार अल-बे-रूनीने इसका भी उपालम्भ दिया है कि भारतवासी उनसे अथवा उनकी जातिसे कुछ भी सीखनेके लिए तैयार नहीं थे--"उनका औद्धत्य यहाँतक बढ़ा है कि यदि उनसे खुरासान या फारसके किसी विज्ञान अथवा विद्याकी बात कही जाती है तो वे उस कथनको अज्ञानपूर्ण और मिथ्या दोनों समझते है।" सचमुच भारतवासियोंका यह दृष्टिकोण संगत था। तुर्क जैसे आक्रमणकारियोंके प्रति इससे उदार प्रतिक्रिया-की आशा ही कैसे की जा सकती है!

सामाजिक-संस्थाएँ

परिवार

कतिपय संस्थाओंके रूपमें सामाजिक अवयवोंका विकास मध्यकालीन समाजकी दूसरी विशेषता है। परिवार ही हिन्दू-समाजकी अंतिम और सबसे महत्त्वपूर्ण इकाई था। मध्ययुगमें इसके स्वरूपमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। मौलिक रूपसे परिवारके संघटनमें पति-पत्नी तथा माता और उसकी संतानें सम्मिलित थी। लेकिन बड़े परिवारकी भावना क्रमशः बढ़ती जा रही थी। चारों वर्णोंके पारिवारिक आचार और रीतियोंमें पर्याप्त भिन्नता पाई जाती थी। रहन-सहन, स्थिति और कुल-व्यवहार सभी भिन्न-भिन्न थे। फिर भी सभी परिवारोंमें वृद्ध पिता अथवा पितामह ही प्रधान माना जाता था। विग्रह और पारिवारिक विवाद उत्पन्न होनेपर वही अंतिम सामाजिक अधिकारी माना जाता था। जीवनकी ऊँची साधनाओंके लिए परिवार एक अनिवार्य सीढ़ी माना जाता था।

परिवारका व्यावसायिक रूप

सामान्य रूपसे परिवारकी पहली दशा व्यावसायिक थी और उपजीविकासे संबंध रखती थी। ब्राह्मणोंको यह स्वतंत्रता प्राप्त थी कि उपजीविकाके लिए वे शेष तीन वर्णोंके कार्य भी अपना सकें--अपने पैतृक व्यवसाय अर्थात् पौरोहित्यके साथ-साथ। वे सैनिक या अन्य सरकारी नौकरियाँ--निम्न कोटिकी भी--सहर्ष ग्रहण कर लेते थे। लेकिन विद्योपार्जन और पाण्डित्यका व्यवसाय तो उन्हींके हाथों-में था। सौदागर सुलेमानका कथन है कि "इन सभी साम्राज्योंमें कुलीन लोग एक ही परिवारके समझे जाते हैं। पंडितों और वैद्योंकी भी यही अवस्था है। वे

एक विशेष जातिके माने जाते हैं और उनके व्यवसाय कभी इस मान्यताके विपरीत नहीं होते।"[1] इसी प्रकारका कथन अबूजैदका भी है। इससे ब्राह्मणोंके अधिकाधिक कारोबारी होनेका पता चलता है। "कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो धर्म और विज्ञान-परिचर्यामें लगे हैं, जो राजाओंके दरबारमें रहते हैं; कुछ ज्योतिर्विद, दार्शनिक और निमित्तज्ञ भी होते हैं।"[2] यद्यपि धर्म और विद्योपार्जन ब्राह्मणोंके और शस्त्र क्षत्रियोंके व्यवसाय थे किन्तु कुछ ऐसे भी क्षत्रिय थे जो विद्या-व्यवसायमें संलग्न थे। क्षत्रिय अबाध रूपसे वेदों और शास्त्रोंका अध्ययन करते थे। पराशर स्मृतिसे ज्ञात होता है कि कितने ही ब्राह्मण और क्षत्रिय कृषि व्यवसायमें लग गये थे। "सचमुच प्राचीन युगमें जहाँ केवल वैश्य ही कृषक थे, वहाँ मध्ययुगमें वैश्य कृषि-कार्यसे एकमात्र विरत हो गये और शूद्रोंके साथ ब्राह्मणों और क्षत्रियोंने इसे हस्तगत कर लिया और वे ही आज प्रमुख कृषक हैं।"[3]

वाणिज्य-व्यवसायसे संबंध रखनेवाले कुछ नियम भी ध्यान देने लायक हैं। जब कोई ब्राह्मण विपद्ग्रस्त होता था तो वह वैश्योंकी वृत्ति वाणिज्यको ग्रहण कर लेता था। किन्तु ब्राह्मण व्यापारीको नमक और तिल बेचनेका अधिकार नहीं था। वह केवल उसी दशामें बेच सकता था जब उसके ही खेतमें उसीके श्रमसे पैदा होता था। इसी प्रकार उसे अन्य कई वस्तुओंके बेचनेकी भी मनाही थी। ब्राह्मणों और क्षत्रियों-द्वारा कुसीदके व्यवसायकी शास्त्रीय मनाही तो प्राचीन है।

विवाह

हिन्दुओंके सामाजिक जीवनका प्रमुख अवयव विवाह है, जिसे सर्वदासे अत्यंत महत्त्वका स्थान प्राप्त है। प्राचीन और मध्यकालीन भारतके हिन्दुओंके लिए तो यह केवल यौन संबंध नहीं था, यह दो शक्तियोंका संघटन था जो साथ होते ही व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्त्तव्योंके उदात्त दायित्वसे आबद्ध हो जाते थे। एक हिन्दू जबतक विवाहित नहीं हो जाता था पूर्ण हिन्दू नहीं माना जाता था। इसीलिये विवाह धार्मिक क्रिया भी था। समाज यदि वैवाहिक सूत्रोंमें न आबद्ध हो तो सुव्यवस्थित रूपसे संचालित ही नहीं हो सकता। अतः एक हिन्दूके लिए विवाह सामाजिक कर्त्तव्य था। प्राचीन युगसे मध्ययुगके अंत-तक वैवाहिक व्यवस्थामें क्रमिक रूपसे पर्याप्त परिवर्तन होता गया। राजपूत युगमें तो विवाह-पद्धतिमें गुरुतर परिवर्तन हुए। उसके पूर्व-कालमें विवाह वर्णोंतक ही सीमित नहीं था। ब्राह्मण एक क्षत्रिय कन्यासे विवाह कर सकता था। क्षत्रिय एक वैश्य कन्याके ऊपर यही अधिकार रखता था। मनुने जो व्यवस्था दी थी उसमें

---

१. इलियट, भाग १, पृ० ६

२. वही, पृ० १०

३. हिस्ट्री औफ़ हिन्दू मेडिवल इण्डिया, भाग २, पृ० १८२

ब्राह्मणको क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्यासे विवाह करनेका अधिकार था किन्तु मध्ययुगमें शूद्र कन्याका विवाह ब्राह्मण या अन्य उच्च वर्णसे वर्जित हो गया था। यह धारणा सामान्य व्यवहारमें परिणत हो गई फलतः आगे चलकर वर्णांतर विवाह एकमात्र निषिद्ध हो गया। जहाँ-तहाँ केवल वाचाल और उच्चस्तरीय ब्राह्मण ही क्षत्रिय या वैश्यकी कन्या प्राप्त कर लेते थे।

उत्तरार्धके संबंधमें अलबरूनीसे ज्ञात होता है कि "पहले एक हिन्दू अपने वर्ण अथवा अपनेसे निम्न वर्णकी कन्यासे विवाह कर सकता था, किन्तु हम लोगों-के समयमें एक ब्राह्मण अपने वर्णके अतिरिक्त अन्य किसी वर्णसे विवाह-संबंध नहीं करता है।" इस प्रकार विदित हो रहा है कि उस युगके भीतर ही सभी वर्णों और जातियोंमें वर्ण या जातिके बाहर विवाहकी परंपरा एकमात्र समाप्त हो गई। इस प्रकारकी अवस्थाके प्रादुर्भावका एक सम्भाव्य कारण तत्कालीन स्मृतियों-द्वारा संततिको निम्न स्थान प्रदान करना भी प्रतीत होता है। इस तथ्यकी पुष्टि अलबरूनीके इस कथनसे भी होती है—"ऐसे प्रथम विवाहोंकी संतति माताकी जाति की मानी जाती थी।" इससे समाजमें असुविधा हो गई होगी। इस परिवर्तनके और भी कारण सम्भव हैं।

हिन्दू-समाजमें बाल-विवाहका प्रादुर्भाव कब हुआ—यह प्रामाणिक रूपसे नहीं कहा जा सकता। परन्तु मध्ययुगके उत्तरकालमें यह अभ्यास प्रचलित हो चुका था। अलबरूनीका कथन है, "हिन्दू अल्प-वयमें ही विवाह कर देते हैं। विवाहकी व्यवस्था माता-पिता करते हैं।"[1] पराशर स्मृतिमें सामान्य रूपसे कन्याके विवाहके लिए आठ वर्षकी अवस्था ठीक बतलाई गई है।[2] यह समाज-द्वारा अंगीकृत हो चुका था। जान पड़ता है कि नवीं और ग्यारहवीं सदीके बीच उस संक्रमण-कालमें हिन्दू समाजमें यह एक व्यापक प्रथाके रूपमें प्रविष्ट हुआ। बौद्ध भिक्खुनियाँ इसके लिए एकमात्र कारण नहीं हो सकतीं। यह सही है कि उस समय स्त्रियोंमें बौद्ध भिक्खुनी हो जानेकी धारणा हो गई थी और लोग उन्हें इससे विरत करना चाहते थे। लेकिन बालिकाओंके अल्प वयमें विवाहका कारण यही एक आभ्यंतरिक दुर्व्यवस्था नहीं थीं। हिन्दुओंका अश्रद्धाभाजन होकर बौद्धधर्म तो द्रुतगतिसे विलुप्त होता जा रहा था। व्यापक रूपसे इस रोगके आगमनके कारण बाहरी निमित्त भी थे। हिन्दू-सामाजिक व्यवस्थाके भीतर मुसलमान आक्रमणकारियोंके हृदयमें पूर्ण अत्याचारोंकी प्रतिक्रिया रूपमें भी इसका आगमन हुआ। यही प्रमुख था।

सूत्रग्रंथों और वेदोंने आर्यवंशमें विधवा-विवाहके लिए मना किया था। उस युगमें भी, यदि अल-बे-रूनीके कथनको प्रमाण माना जाय, तो विधवाओंका विवाह

---

१. सचउ, भाग २, अ० १६, पृ० १५५

२. अष्टवर्षामुद्वहेत।

नहीं हो सकता था। किन्तु यह कथन केवल प्रौढ़ और वृद्ध विधवाओंके संबंधमें ही सत्य प्रतीत होता है। मनुस्मृतिने उन बालिकाओंके पुनर्विवाहके लिए अनुमति दी है जिनके पति विवाहके भोगके पूर्व ही मर जाते थे। इस युगमें भी यह व्यवस्था प्रभावकारी थी। बाल-विवाहके कारण बाल-विधवाओंकी संख्या समाजमें बढ़ती जा रही थी।

अल-बे-रूनीके कथनानुसार, जो बहुत ही सत्य प्रमाणित होता है, ज्ञात होता है कि सती प्रथा सामान्य रूपसे लोकप्रिय प्रथा हो चली थी। वह कहता है, "विधवाएँ या तो अपने पतिदेवकी चितापर अपनेको झोंक देती हैं या तपस्विनीका जीवन व्यतीत करती हैं। राजाओंकी विधवायें यदि वे वृद्धा नहीं होती हैं या उनके पुत्र नहीं होते हैं, तो साधारणतया चितामें भस्म हो जाती हैं।"[1]

हिन्दुओंमें बहुविवाह परंपरागत प्रथा थी। राजा तो सामान्यतया इच्छानुकूल जितने चाहें विवाह करते थे। किन्तु समाजका एक साधारण आदमी तो एक ही विवाह करता था। धनी और समृद्धिशाली व्यक्ति अवश्य ही इच्छा होने-पर कई स्त्रियाँ रखते थे। फिर भी, जैसा कि अलबरूनीने कहा है, चार स्त्रियों तककी सीमा बना दी गई थी। रासोसे ज्ञात होता है कि पृथ्वीराज चौहानकी आठ स्त्रियाँ थी। प्रयोगमें तलाककी मान्यता कभी हिन्दुओंमें नहीं हुई। उस समय तो इसका कोई संकेत भी नहीं मिलता।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, जातिके बाहर अथवा अपनेसे निम्न जातिके साथ विवाह-संबंध निषिद्ध हो गया था किन्तु जब जातिके भीतर ही आचार या धर्माचरण और रक्तकी पवित्रताके आधारपर उप-जातियोंकी रचना हो गई, यहाँ-तक कि शूद्रों और अंत्यजोंमें भी, तब पूरे समाजमें धीरे-धीरे विवाह एक जाति-तक क्या, एक ही उप-जातितक सीमित हो चला। अलबरूनीने इस ओर संकेत करते हुए कहा है, "हिन्दू अपरिचितसे विवाह करते हैं, संबंधीसे नहीं।" चन्देल राजाओंके संबंधमें ज्ञात होता है कि उन्होंने यह पूरा ध्यान रखा कि विवाह एक सम-कुलशीलवाले ही क्षत्रियसे हो। धंगदेवके खजुराहो अभिलेखसे ज्ञात होता है कि 'कामारि हर्षदेवने सम कुलशील (सवर्ण) चाहमान वंशसे समुत्पन्न सुयोग्या कन्याका पाणिग्रहण किया।'[2] किसी जातिके भीतर ही थोड़ी निम्न कोटि-की उप-जातिका कोई व्यक्ति यदि थोड़ी उच्च मान्यतावाली उपजातिकी कन्यासे विवाह कर लेता तो अपनेको बड़ा कृतार्थ समझता था। एक ब्राह्मण बालक कहता है, "मेरी माता योग्य वंशकी नहीं थी, किन्तु मैंने अग्निहोत्र ब्राह्मणकी कन्यासे

---

१. सचाउ, भाग २, अ० १६, पृ० १५५
२. ए० ई०, भाग १. पृ० १२६, श्लो० २०–२१

विवाह किया।"[1] लेकिन ऐसी बात केवल परिस्थितिवश ही होती होगी। बादका परिणाम तो ऐसा हुआ कि निम्न वंशोंकी कन्याएँ उच्च वंशोंके यहाँ सामान्य रीतिसे जाने लगीं।

समाजमें स्त्रियाँ

भारतके तत्कालीन समाजकी एक सहज किन्तु खेदजनक अवस्था थी, स्त्रियोंकी सामूहिक रूपसे अधोगति। स्त्रियोंका आदर अवश्य होना चाहिए और अपना क्षेत्र चाहनेवाले अपने पिता, भाई, पति आदि-द्वारा उनका सम्मान होना चाहिए तथा जहाँ स्त्रियाँ सम्पूजित होती हैं वहाँ देवता रमते हैं किन्तु जहाँ उनका सम्मान नहीं होता वहाँके धार्मिक कृत्य फलदायक नहीं होते—आदि मधुर एवं आर्ष मनुकी बातोंका उस युगमें वस्तुतः कोई प्रभाव नहीं था। तत्कालीन धर्मशास्त्रोंने नये आदर्शोंकी स्थापना आरम्भ कर दी थी। "नारीको बाल्यावस्थामें पिता, युवावस्थामें पति और पतिके न रहनेपर पुत्रके अनुशासनमें रहना चाहिए। स्त्रीको कभी भी स्वतंत्र नहीं रहना चाहिए।" इस प्रकार पति-पत्नीके बीचका नैसर्गिक और अनुरागपूर्ण संबंध स्त्रीकी उस निम्नावस्थाके कारण खण्डित हो गया जिसका वह शिकार हो रही थी।

यह सही है कि दोनों वर्गोंमेंसे एकका दूसरेकी अधीनतामें रहना उस युगकी अपरिहार्य आवश्यकता थी, ताकि समाज सुगमतासे चल सके, किन्तु यह मान्यता यदि दोनों वर्गोंको समान रूपसे बाँधती तब। चाहे पति कितना भी गुणविहीन, सदाचाररहित या चंचल-मन हो उसकी देवताकी भाँति पूजा होनी चाहिए—पतिव्रताके लिए निःसन्देह यह वाणी अमूल्य और प्रेरणाजनक है। किन्तु जहाँ ऊपरके आदर्शसे गिरनेपर एक पत्नीको तीन माहका परित्याग और आभूषण तथा अन्य उपकरणोंसे वंचित कर देना निर्धारित है, क्या वहाँ पतिपर भी उसके स्खलनके विरुद्ध यही प्रायश्चित रक्खा गया है? मद्यपान, दुराचरण, भक्तिहीनता या इससे भी कम अपराधपर दूसरी पत्नीसे संबंध कर लिया जाता था। "वन्ध्या स्त्री आँठवें वर्ष छोड़ी जा सकती है, जिसकी संतानें मर जाती हों वह दसवें वर्ष, जो केवल कन्या उत्पन्न करती हो एकादश वर्षपर किन्तु जो कलहप्रिय हो उसको अविलम्ब छोड़ा जा सकता है।" बेचारी अबलाको यह दुर्दिन एक जितेन्द्रियकी शांतिकी अवस्थामें बिताना पड़ता था।

चन्देल युगके समाजको देखनेसे ज्ञात होता है कि इस प्रकारके सामाजिक विधानके परिणाम दो दिशाओंमें गये। पुरुष अपने सामाजिक कर्त्तव्योंके प्रति क्रमशः

---

१. नास्माकं जननी तथोज्ज्वलकुला सच्छ्रोत्रियाणां पुनः।
व्यूढा काचन कन्यका खलु मया तेनास्मि ननाधिकः॥
प्रबोध चन्द्रोदय, २–९, पृ० ५९

अनुत्तरदायी होता गया। दूसरे, आत्मनिरीक्षण-द्वारा अपना सुधार करने तथा अपनी दुर्बलताओंको दूर करनेकी जगहपर स्त्रियोंपर कठोर अनुशासन लादता गया। आज निखिल भारतभरकी झोपड़ियोंमें हम जो देख रहे हैं, वह उसीकी चरमावस्था है। फलस्वरूप नारी जाति समाजके लिए अभिशाप बन गई--दुर्बलताओं, बुराइयों और अंधविश्वासोंका आगार। यह ईश्वरकी बड़ी देन थी कि उस दुःखावस्थासे दुर्गावती जैसी वीरांगनाका उदय हुआ, जिसने पुरुषत्वको चुनौती देकर स्त्री जातिकी प्रच्छन्न क्षमताका ज्वलंत उदाहरण उपस्थित किया। स्त्रियोंमें पर्देका प्रचलन केवल उच्च परिवारोंमें था, वह भी शीलके रूपमें ही। वे सामाजिक कार्योंमें निर्बाध भाग लेती थीं--यद्यपि इस अवस्थामें शीघ्रताके साथ परिस्थितियाँ बाधक होती जा रही थीं।

मुसलमानोंका सम्पर्क बढ़नेके साथ समाजमें कन्याओंके प्रति धारणा और विपरीत हुई। यह धारणा तो पहलेसे ही क्षत्रियों और राजाओंमें वर्तमान थी कि अपनी कन्याओंको किसीसे पाणिग्रहण करानेमें वे मानहानि समझते थे। चन्देलोंके शासन-कालमें कई भारतीय राजाओंके बीच विवाहोंको लेकर झगड़े और बड़े-बड़े युद्ध हो चुके थे। पृथ्वीराज-रासोमें इसके कई उदाहरण मिलते हैं। किन्तु जब मुसलमानोंकी शासन-प्रतिष्ठा यहाँ हुई तब उन्होंने स्वाभिमानी लोगोंकी कन्याओंको बलात् लेना भी अपना लक्ष्य बनाया। न जाने कितने राजवंश और शासन इस देशमें इस प्रवृत्तिके कारण ध्वस्त हो गए हैं। इस विचारकी जो सामाजिक प्रतिक्रिया हुई वह अत्यंत ही जघन्य थी। कन्याओंका परिवारमें आगमन एक भयंकर अभिशाप माना गया। उन्हें गौरव गिरानेवाला माना गया। फलतः धीरे-धीरे लोगोंमें इसके निवारणका सुगम मार्ग कन्याओंका वध चल पड़ा। जन्मके साथ ही अथवा आगे चलकर उनको समाप्त कर देनेकी एक निन्दनीय प्रथा खड़ी होती दिखाई देती है। बुन्देलखण्डमें कन्या-वध जैसी प्रथा तो अंग्रेजोंके आनेके वर्षों बाद विधानसे बन्द की गई। ऐसी कठोर प्रवृत्तियोंका प्रभाव आज भी वहाँके नारी-समाजपर दिखाई पड़ता है।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस मनोवृत्तिने व्यापक रूपसे पारिवारिक जीवन को विशृंखलित किया। समाजका आधा दायित्व वहन करनेवाला वर्ग हेय होता गया। सामाजिक स्थितिका प्रभाव यहाँतक बढ़ा कि स्त्रियाँ स्वाभाविक रूपसे दुष्टा और पिशाचिनी मानी जाने लगीं।[1] स्त्रियाँ ईर्ष्या-प्रसूत कही गई।[2] पुरुष उनके चरितको सर्वदा संदिग्ध समझते थे।[3] कुछ ऐसी विलक्षण स्त्रियोंका भी वर्णन मिलता

---

१. स्वभावः खल्वसौ स्त्रीपिशाचीनाम् ।--प्रबोध चन्द्रोदय, पृ० ४३।

२. प्रिये ! सेर्ष्यं प्रायेण योषितां भवति हृदयम्॥--वही, पृ० ४६।

३. एवमनया दुराचरणं विचिन्तितम्--वही, पृ० ४३।

है, जो धर्मानुरक्त सौम्य पतियोंके विचारको भी दुर्वृत्त ही मानती थीं।[1] स्त्रियों-का जीवन कहीं-कहीं नाटकीय सम्मोहनसे इतना पूरित होता था कि चित्रोंमें उनकी ऐसी अनुकृति देखनेसे पुरुष अपनी सहज शक्ति खो देता था।[2] धर्म-विमुख करनेमें स्त्री दुर्निवार कारण समझी जाती थी।[3]

स्त्रीका नैसर्गिक शील यह माना जाता था कि वह अपने विपदापन्न स्वामीके उद्धारतक एकनिष्ठा हो प्रतीक्षा करती रहे।[4] लोग स्त्रीको सहज ही कायर समझते थे अतएव उसकी शक्तिपर कोई भरोसा नहीं रखते थे।[5] यही सब कारण थे कि पुत्रोत्पत्ति कन्यासे अधिक सौभाग्यकी बात मानी जाती थी।[6] इन सब आरोपित दुर्गुणोंके होते हुए भी अनेक अवसरोंपर स्त्रियाँ पुरुषोंको अपनी प्रतिभासे लज्जित कर देती थीं। इससे उनकी पारिवारिक सत्तामें कोई विशेष कमी नहीं हुई थी। अलबरूनीका यह कथन सर्वथा उचित है कि 'प्रत्येक पारिवारिक व्यवस्था और असाधारण स्थितियोंमें स्त्रियोंका परामर्श बड़ी निष्ठासे लिया जाता था। उनकी रायका महत्व होता था। उन्हें शिक्षा दी जाती थी। शिक्षिताकी मर्यादा समाजमें स्थापित थी'।

भोजन और पेय

तत्कालीन समाजके विभिन्न अंगोंका परिशीलन करनेसे प्रकट होता है कि हिन्दुओंके भोजन और पेय भी विशेषताओंसे भरे थे। चन्देलोंके दानपत्रोंके वर्णनोंसे ज्ञात होता है कि समाजके सामान्य भोजनमें विविध अन्न, चीनी, दूध, घी और फल सम्मिलित थे। किन्तु बौद्ध धर्मके विलोपके साथ मांसाहारी व्यक्तियोंका द्रुत गतिसे बढ़ाव हो रहा था। साधारणतया ब्राह्मण मांस-भक्षणके विरोधी थे किन्तु सभी नहीं। अलमसउदीका कथन है कि वे (ब्राह्मण) किसी भी पशुका मांस नहीं खाते थे। स्मृतियोंसे भी प्रकट होता है कि ब्राह्मण साधारणतया मांस खानेवाले नहीं थे। गाय तथा महाकाय सिंह आदि पशुओंका मांस खानेमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभीको रुकावट थी। किन्तु शेष तीन वर्णों-द्वारा अन्य पशुओंका मांस

---

१. अन्यास्ताः स्त्रियो याः सम्प्रवृत्तस्य वा धर्मार्थव्यापारप्रस्थितस्य वा भर्तुर्हृदयस्थितं विघटयन्ति--वही, पृ० ४६

२. त्यजति सहजं धर्मं स्त्रीभिः प्रतारितमानसः। वही, पृ० ८०

३. श्रद्धां व्याकृष्टु मिथ्यादृष्टिरेव विलासिनी परं प्रगल्भेति--वही, पृ० ८५

४. एतदेव कुलस्त्रीणां नैसर्गिकं शीलं यद्विपन्मग्नस्य स्वामिनः समयप्रतीक्षणमिति। वही, पृ० २११

५. वही, पृ० २८

६. अलबरूनी--अनु० सन्तराम, भाग २, पृ० १०४

खाया जाता था। यह निरोध चाण्डाल नहीं मानते थे और सभी जानवरोंका मांस रुचिकर होनेपर खाते थे। यही कारण था कि वे अन्त्यज समझे जाते थे और गाँवों अथवा नगरोंके बाहर बसनेके लिए बाध्य होते थे।

विशेष महत्त्वकी बात यह है कि उस समय उच्च जातियोंको एक दूसरेके यहाँ भोजन करनेमें कोई आपत्ति नहीं थी। एक ब्राह्मण किसी क्षत्रिय या वैश्यके यहाँ भोजन करता--तो इसके विरुद्ध कोई व्यवस्था नहीं थी और न इसे अनुचित माना जाता था। व्यास स्मृतिके अनुसार भोजनके लिए केवल यह जान लेना आवश्यक था कि क्या वह द्विज परिवारका है अथवा अन्य।[1] चि० वि० वैद्यका मत है कि 'मध्ययुगमें विभिन्न जातियों और उप-जातियोंके बीच सीमित विवाह-संबंधके समान उस समय खान-पानकी उदारताने भारतवर्षके विभिन्न भागोंमें एकताका भाव भरनेमें कोई विशेष बल नहीं दिया।' इस युगके अंतमें अस्पृश्यताकी भावनाकी वृद्धिके साथ-साथ खान-पानमें भी अनुदारता आती गई और संकोच होता गया। एक ब्रह्मचारी शूद्रसे कहता है--"रे दूर खड़ा हो! वायु तेरे प्रस्वेदकी कणिकाएँ मेरे मुखमंडलपर ला रहा है।"[2]

भारतवासी मद्यके आदी नहीं थे। प्राचीन युगमें ब्राह्मण तो प्रत्येक मादक पेयसे सर्वथा मुक्त था। अरब यात्रियोंने क्षत्रियोंके संबंधमें भी ऐसा ही लिखा है। अलमसउदी लिखता है--"हिन्दू मद्यपानसे निवृत्त हैं और सेवन करनेवालोंकी निन्दा करते हैं। यदि यह सिद्ध हो जाय कि राजाने मद्य सेवन किया है तो उसका राजमुकुट छिन जाता है क्योंकि यह समझा जाता है कि उसका मस्तिष्क मद्यसे प्रभावित है। अतः वह शासन करने योग्य नहीं है।"[3] इन कथनोंके होते हुए भी ऐसा ज्ञात होता है कि क्षत्रिय धार्मिक निर्देशोंसे मद्यपान न करनेके लिए अपनेको बाध्य नहीं समझते थे। ऐतिहासिक सामग्रियोंका सूक्ष्म विश्लेषण बतलाता है कि यद्यपि धर्मग्रंथ मद्यपानके लिए मना करते थे किन्तु क्षत्रियों-द्वारा गुप्त या प्रकट रूपसे जहाँ-तहाँ इसका सेवन होता था। भ्रष्ट श्रमण--विशेषतया बौद्ध भिक्षु भी पान करते थे--अत्यंत विरल रूपसे।[4] इससे तत्कालीन बौद्धभिक्षुओंके जीवनकी एक झाँकी मिलती है। किन्तु यह सामान्य अवस्था नहीं थी, क्योंकि मद्यप समाजमें अत्यंत घृणाकी दृष्टिसे देखा जाता था। उसका रंचमात्र भी सम्मान नहीं था। अपने स्तरके समाजमें भी उसको स्थान नहीं प्राप्त था।

---

१. धर्मेणान्योन्य भोज्यान्ना द्विजास्तु विदितान्वयाः।

२. दूरे तावत्स्थीयताम्। ब्राह्मणः प्रस्वेदकनिका प्रसरन्ति--प्रबोधचन्द्रोदय, पृ० ५१

३. इलियट, भाग १, पृ० २०

४. भिक्षु--महाप्रसादः (इति चषकं गृहीत्वा पिबति) अहो सुरायाः सौंदर्यम्।--प्रबोध चन्द्रोदय, ३, २१।

साधारण लोगोंकी आर्थिक अवस्था सम्पन्न थी। अतः लोग भोजन और सौख्यसे भरा जीवन व्यतीत करते थे।

वस्त्राभरण

जेजाकभुक्तिमें एक विशेष प्रकारके वस्त्राभरणका विकास हो रहा था। साहित्यके माध्यमसे ऐसे स्पष्ट संकेत प्राप्त हुए हैं। लोग शरीरके अधोभागमें नीचेतककी लम्बी धोती, कुर्ची ताला या परदनी पहनते थे। घुटन्ना पहननेकी परिपाटी भी पुरानी है। अलबरूनीका जैसा कि कथन है, भारतवासी अपेक्षाकृत कम वस्त्र पहनते थे। दो धोती, पगड़ी सामान्य पोशाक था। अधो-वस्त्रोंमें पैजामेका प्रयोग प्रचलित होने लगा था। ऊर्ध्व वस्त्रोंमें पुरुष मिरजई और बगलबंदीके ढंगका वस्त्र पहनते थे। स्त्रियाँ फतुही और अँगरखा पहनती थीं। स्त्रियोंके अधोवस्त्र कई प्रकारके मिलते हैं। वे बहुधा रंगीन वस्त्र ही पहनती थीं।

आभूषण पहननेकी चाह इस देशमें प्राचीन है। स्त्री-पुरुष, वृद्ध-बालक, सम्राट्-विपन्न सभी नाना प्रकारके आभूषण पहनते थे। उनके पहने जानेवाले आभूषणोंमें और धातुओंमें अंतर अवश्य था। आभरण प्रायः सोने, चाँदी, काँसा, काँच और पीतल आदि धातुओंके बनते थे। सीप और शंख आदिके भी आभूषण वनवासी पहना करते थे। कर्णफूल, कंठहार और चूड़ियाँ तो सारे भारतवर्ष भरमें स्त्रियोंके प्रिय आभूषण थे। बुन्देलखण्डके भागमें आभूषणोंका प्रचलन उस समय अपेक्षाकृत अधिक था। स्त्रियाँ और बालक पैरमें पैजना, साँकर, बिछिया और अनोटा पहनते थे। गलेमें मूल्यवान् कंठहार, खँगरिया और हमेलकी भाँतिका आभूषण पहनते थे। हाथको भी विविध आभूषणोंसे सजाया जाता था। हाथके लोकप्रिय आभूषणोंमें खग्गा और बरा था। कान और सिरको वे मनोहर भूषणोंसे अलंकृत करते थे।[1] इन आभूषणोंमें कर्णफूल, साँकर, शीशफूल और बीज आदि हैं। हाथकी अँगूठी, माला आदि स्त्री-पुरुष दोनों प्रेमसे पहनते थे।

भारतवासियोंके तत्कालीन पहनावेकी चर्चा करते हुए अलबरूनीने भी इसका वर्णन किया है।[2] उस समयके निवासी विशेषकर बुन्देलखण्डके पानका सेवन करते थे—अधिकतर तो मुखाकृतिको शोभन बनानेके लिए और कुछ आदतसे विवश होकर।[3] स्त्री-पुरुष दोनों केश-प्रसाधन करते थे। साधनकी अनेक विधियाँ प्रचलित थीं। स्त्रियाँ फूल-मालाओंसे भी केश अलंकृत करती थीं। प्रकृति-साहचर्यका बड़ा ही उत्कृष्ट लोभ उस समय लोगोंमें था। स्त्रियाँ प्राकृतिक विभूतियोंके सान्निध्य और सम्पर्कसे अपने सौंदर्य-लालित्यको और भी उद्दीप्त बनाती थीं। श्रीकृष्ण मिश्र-द्वारा

---

१. प्रबोधचन्द्रोदय, अनु० टेलर—पृ० १८७

२. अलबेरुनी, अनु० संतराम, भाग २, भाग २, पृ० १०२

३. वही

तत्कालीन एक स्त्री-छटाका विवरण देखिये—सम्पूर्ण परिस्थितियोंके साथ, "एक सुरम्य गृह, युवा बालिका, मोहनेवाले उसके नयन, प्रसरित वह लता जिसपर बैठकर भ्रमर गुञ्जन करता है, नव-मुकुलित मल्लिका तथा पराग-भरित मलयवात।"[1] यह उनके जीवनकी पार्थिव अनुरक्ति और ऐश्वर्य प्रकट करता है।

रीति-रिवाज

जेजाकभुक्तिके लोगोंकी रीतियोंका अध्ययन बड़ा हृदयग्राही विषय है। सामाजिक रीतियोंमें आतिथ्यको सर्वोत्तम स्थान दिया जाता था। जैसा कि अरब इतिहासकारों और अलबरूनीके विवरणसे पता चलता है, भारतवासी अपने ही लोगोंके प्रति नहीं, हर किसीके प्रति जो उनके यहाँ आ पड़ता था—बड़े ऊँचे आतिथ्य भाव प्रकट करते थे। ब्राह्मणके घरपर यदि कोई बाहरसे आता तो द्वारके भीतर प्रवेश करनेके पूर्व पाद-प्रक्षालन करना पड़ता था।[2] ब्राह्मणोंका सबके द्वारा समादर और पूजन होता था।[3] आतिथ्यकी हिन्दुओंकी अपनी परम्परा न केवल उत्कृष्ट थी बल्कि अन्य देशोंके निवासियोंसे भी विशिष्ट थी। तुर्कोंके प्रति उनकी धारणाका परिचय सरलतासे हमें एक उद्धरणसे मिल सकता है—"मैं तुरुष्क देश होकर आया हूँ, जहाँ गृहका प्रधान न तो समादरणीय अभ्यागत ब्राह्मणों और अतिथियोंका पाद-प्रक्षालन करता है और न कर्मचारी उन्हें बिठाते हैं।"[4]

विविध धर्मोंके अनुयायियोंमें अलग-अलग समाजिक रीतियाँ रूढ़ हो गई थीं। भोजन-पान, सामाजिक पर्व मनाने, धार्मिक कृत्योंको करनेकी विवधि रीतियाँ प्रचलित थीं। जेजाकभुक्तिमें कृषिकार्यसे संबंधित अनेक रीतियाँ प्रचलित थीं। बैशाख सुदी तीज 'कृषिवर्ष' का आरम्भ माना जाता है। उस दिन खेत और मिट्टीकी पूजाकी जाती थी और बीज-बोना भी आरम्भ कर दिया जाता था। वर्तमान 'अखती' और 'हरैता' त्यौहारोंका जन्म इसी रीतिसे हुआ। देवशयनका भी संबंध खेतीसे जोड़ा गया था। आषाढ़ सुदी ११ को देवशयन, फिर कार्तिक सुदी ११ जागरण—इन दोनों अवसरोंपर कृषि-संबंधकी पूजा अनेक रीतियोंसे होती थी। ऐसे ही बालिकाओं और पशुओंके पूजनेकी रीतियाँ प्रचलित थीं।

बौद्ध भिक्षुओंके विलोपके साथ-साथ भिक्षाटन करनेवाले समूहकी भी समाप्ति हो रही थी। इस प्रथाकी ओर लोगोंकी घृणा इस हदतक बढ़ गई थी कि सभी सामान्य

---

१. रम्यं हर्म्यतलं नवाः सुनयना गुञ्जद्विरेफा लताः।
प्रोन्मीलन्नवमल्लिका सुरभयो वाताः सचन्द्रा क्षपाः॥ प्रबोध चन्द्रोदय, पृ० २८

२. वही, पृ० ५७–५८

३. वही, पृ० ५६

४. वही, पृ० ५८

रूपसे सन्यासी जीवनकी भर्त्सना करने लगे थे। भिक्षुओंसे ऊबे हुए लोगोंके कभी कभी ऐसे उद्‌गार होते थे, "ये भिक्षार्जनके लिए ही संन्यासी बने हैं; उन्होंने अपना सिर घुटा लिया है और अपनेको भारी पंडित समझ बैठे हैं। किन्तु ये (तत्वज्ञान) की बात अस्पष्ट और अबोधकी भाँति करते हैं।"[1]

विश्वास

लोगोंकी धारणा व्यापक रूपसे कर्त्तव्यसे हटकर भाग्यपर आ जमी थी। वे किसी कामके लिए अपेक्षित श्रमको नहीं तौलते थे, केवल भाग्यको कोसते थे। "यदि विधाता ही वाम है तो क्या नहीं घट सकता।"[2] सामान्य लोगोंकी यही अधिकतर व्यंजना थी। उनका विश्वास था कि सुकृतियाँ दूसरे जन्ममें सहायता देती हैं।[3] गौड़-सौर आदि अनार्य-धर्मियोंका विश्वास तो सभी ओरसे हटकर भूतप्रेतमें दृढ़ हो चुका था। फलस्वरूप ये अनेक काल्पनिक देवताओंकी पूजा करके धर्मभावनाकी तृप्ति करते थे। भाव-भगत, जवारा, झाड़-फूंकपर लोगोंको औषधियोंसे भी अधिक विश्वास था।

यह तांत्रिकों और अघोर-पंथियोंका युग था। इस सम्प्रदायका व्यापक प्रभाव जन-जीवनपर पड़ा था। मंत्र-तंत्रोंकी शक्तिमें लोगोंका सर्वाधिक विश्वास था। यह विश्वास पहले तो असभ्य लोगोंमें ही था किन्तु क्रमशः यह विश्वास अर्ध-सभ्योंमें भी घर कर गया। वर्तमान जीवनमें बुन्देलखण्डमें जो अनेक देवी-देवताओं, प्रेतोंकी पूजा आज जगह-जगह चल पड़ी है, यह उसी भावनाका परिणाम है। ऐसोंमें 'खेरमाता', 'मिड़ोहिया', 'घटाइया', 'गौडबाबा', 'मसानबाबा', 'नटबाबा', 'छीव', आदि वहाँके बड़े लोकप्रिय ग्राम देवता हैं। महामारियोंके देवता भी यहाँके लोगोंने पूजने आरम्भ कर दिये थे। कुछ जातिगत विश्वास भी वहाँके लोगोंमें प्रौढ़ हो रहे थे।

कुछ कृषि-संबंधी विश्वास भी यहाँके लोगोंमें विचित्र ढंगके पाये जाते थे। अमावास्याको हल-बैल नहीं चलाना, हल आदि कृषि-उपकरणोंकी पूजा—आरम्भ और समाप्तिपर, और अनेक दूसरे अभ्यास लोगोंमें आज भी प्रचलित हैं। कृषिको ओले आदि आपत्तियोंसे बचानेके लिए पूजादिक कर्म यहाँकी एक विशेषता थी। निदान न जाने ऐसे ही कितने ही प्रकारके विश्वासोंकी चर्चा प्राप्त होती है।

सामाजिक जीवनमें भारतीय लोग तुर्कोंसे घृणा करते थे यद्यपि अलबरूनीने इसका विरोध किया है। पतनोन्मुख बौद्ध भिक्षुओंके जीवनके प्रति सामान्य रूपसे लोगोंमें

---

१. वही, पृ० ५८।

२. किन्तु प्रतिकूले विधातरि न सम्भाव्यते—वही, पृ० ९७

३. प्रायः सुकृतिसामर्थ्ये देवा यान्ति सहायताम्—वही, पृ० १८१

बड़ी घृणा थी। हर जगह बौद्ध साधुओं और ब्राह्मणोंके बीच विवाद उपस्थित हो जाता था। दक्षिण भारतके प्रति जेजाकभुक्तिके निवासियोंकी विचित्र धारणा थी। वे समझते थे कि दक्षिण भारतके लोग जो कुछ पढ़ते हैं, उसके प्रयोजनको धारण नहीं कर पाते। वे मन्त्रोच्चारणसे ही सन्तुष्ट हैं और उन्होंने वेदोंको डुबो दिया है।[1]

विनोद

उस युगमें लोगोंके सामाजिक विनोदके अनेक साधन वर्तमान थे। राज्य इसमें किसी प्रकारका हस्ताक्षेप नहीं करता था। यहाँके निवासियोंका अत्यंत प्रिय विनोद मृगया था। चन्देलोंका साम्राज्य विशेष रूपसे वनाच्छादित प्रदेशमें ही फैला था जहाँ प्रत्येक व्यक्ति आखेटमें प्रवीण होता था। इस देशके आखेटकों-द्वारा पशुओंका पीछा करते हुए जिस उच्च कोटिकी वीरता और कौशलका प्रदर्शन किया जाता था उससे अलबरूनी बहुत ही प्रभावित था। गाँवोंके सामान्य जनोंके विनोदके लिए तो पर्यटनशील सपेरे, अभिचारी और ऐंद्रजालिक बहुत कामके थे।[2] सुशिक्षित जन गायन, वादन और नृत्यसे विनोद करते थे। सामाजिक रूपसे अभिनयके भी आयोजन होते थे।

ऊपरके वर्णनसे यह सहज ही अनुमान हो जाता है कि हिन्दू समाजका अधःपतन तथा हिन्दुओंकी राजनीतिक अवनति साथ ही आरम्भ हुई। समाजके विभिन्न अवयवोंमें नवीं सदीके आरम्भमें जो बुराइयाँ क्रमसे घुसने लगीं वे कालान्तरमें प्रौढ़ हो गईं। प्रलम्ब राजनीतिक विश्रृंखलनके कारण उनको सुधारनेका अवसर ही नहीं मिला। चन्देल युगमें समाजकी प्राचीन मान्यताएँ धीरे-धीरे खण्डित होने लगीं। इसके पीछे जो समस्यायें आईं वे अनेक थीं और विविध प्रकारकी थीं।

सामान्यतया लोगोंकी आर्थिक दशा अच्छी थी। कला-कौशल और साहित्यमें लोगोंकी पर्याप्त अभिरुचि थी। जातीयता और स्वाभिमानकी रक्षामें अपनेको उत्सर्ग करनेमें लोग रंचमात्र भी नहीं हिचकते थे। धार्मिक विवाद, सम्प्रदायोंका संघर्ष अधिक था। फलतः साधारण लोग विश्वासों और रीतियोंके सहारे चलते थे। समाजके भीतर अनेक नई मान्यताएँ खड़ी हो रही थीं। पौराणिक आदर्शोंसे स्खलित होकर जीवनधाराकी गति हठयोग, तंत्र आदिके कूलोंसे संचरित हो रही थी। ऐहिक जगतका आकर्षण अध्यात्मको भी आच्छन्न कर चुका था।

———

१. वही, पृ० ५४
२. अलबेरूनी, अनु० संतराम, पृ० १०५

अध्याय १२

धर्म

उत्तमोत्तम युग

जिस युगके इतिहासकी चर्चा की जा रही है, उसका पूर्वार्द्ध प्रधान रूपसे जिस धर्मकी छत्रच्छायामें था, वह था सनातन हिन्दू-धर्म। विभिन्न प्रकारके जैसे शिव, विष्णु, आदित्य, देवी और गणेश उस समय भी पूजित थे और वास्तवमें कुछ वृक्ष और पशु भी; किन्तु ये सभी उसी धर्मकी विविध तरंगें थीं। इनमें परस्पर न तो कोई संघर्ष था और न कोई दुर्भाव। इस प्रकारके बहुदेववादसे वैदिक धर्म श्रेष्ठ माना जाता था। अतः यह कथन सत्य नहीं कि उस युगमें कोई भारतव्यापी धर्म नहीं था क्योंकि बौद्ध धर्म तीव्र गतिसे विलुप्त हो रहा था और केवल मगधके आसपास कुछ समयतक और सीमित रहा। जैनधर्म उस समय भी एक अत्यंत साधारण धर्मके रूपमें था और बड़ी द्रुत गतिसे दक्षिण भारतकी ओर हटता जा रहा था। परन्तु वहाँ भी उसे अभी क्षेत्र नहीं मिला था। हिन्दू धर्म तो भारत महीपर चतुर्दिक् विराजमान था और इसमें वैदिक देवता अग्निसे लेकर मूर्ति और वृक्षकी पूजातक—विशेष रूपसे अर्वाचीन हिन्दू धर्मके पंच-देवोंकी पूजा —सभी समाविष्ट थे।

पुराणोंमें, जिनका उस समय परिवर्धन और नव संस्कार हो रहा था, इन्हीं पाँचोंमेंसे किसी एककी संस्तुति की गई थी। उदय होनेवाले नये राजवंशोंमें शिवकी पूजा ही सर्वमान्य हो रही थी। किन्तु राजाओंके उत्तराधिकारियोंको अपना इष्टदेव परिवर्तित कर लेनेकी बराबर स्वतंत्रता थी।[1] चन्देलोंकी वंशावलीका अवलोकन करनेसे ज्ञात होता है कि उनके अत्यंत प्रिय इष्टदेव शिव भी बदलते रहते हैं। चन्देल शासकोंकी प्रथम अवलीमें सभी विष्णुके भक्त थे। हर्ष और यशोवर्मन्‌ने विष्णु-मंदिर बनवाये थे।[1] किन्तु महाराज धंगदेवसे लेकर अंततक सभी शासक शिवके भक्त थे। इन्होंने अपना कुल विरुद बदलकर माहेश्वर और परम-माहेश्वर आदि कर लिया। राजे, उनकी रानियाँ, अमात्य और सम्पन्न प्रजा अपने देवताकी भक्तिमें मंदिर-निर्माण कराती थीं। इन देवालयोंमें चढ़ावेमें आई हुई सामग्री धीरे-धीरे विपुल सम्पत्तिके रूपमें एकत्र होती जाती थी। यह सामान्य लोगोंकी सीमारहित श्रद्धाका द्योतक है। आगे चलकर इन मंदिरोंकी अतुल सम्पत्तिने तो विदेशी आक्रमणकारियोंके अतृप्त लोभको आमंत्रण देना आरम्भ कर दिया।

---

१. ए० ई०, भाग १, पृ० १३१–३२

उन दिनोंके हिन्दुत्वमें अवश्य कई एक दोष थे किन्तु जो तत्कालीन धर्म-व्यवस्थाकी सबसे बड़ी विशेषता थी, वह धार्मिक एकता थी। यह उस युगके सुख-विभवका एक महत्त्वपूर्ण मानसिक आधार था। इस संबंधमें चिं० वि० वैद्यने जो विचार प्रकट किया है वह ध्यान देने लायक है—"यही कारण था कि इन दो शताब्दियोंमें भारतवर्षकी दशा अद्भुत थी। जहाँतक ऐतिहासिक परिशीलनका प्रश्न है, नवीं–दसवीं शताब्दीके भारतवर्षकी इस अभिनव दशाकी ओर हम जिज्ञासु नेताओंका ध्यान आकृष्ट करते हैं।"

धार्मिक अनैक्य

भारतीय समाजमें जातियों और उपजातियोंमें बिखरने तथा विवाह और भोजन-पानमें प्रतिषेध लग जानेके कारण जो बुराइयाँ उत्पन्न हुईं, उनका अस्तित्व इस युगके पूर्वार्द्धमें नहीं था। किन्तु उत्तरार्द्धमें या यों कहिये कि थोड़ा और पूर्वसे ही उनका समावेश हुआ और भारतवर्ष भी अमंगलकारी धार्मिक अनैक्यके गर्तमें जा गिरा। फलस्वरूप हिन्दू धर्ममें भेदबुद्धि उत्पन्न हो गई। अंततो गत्वा देशने प्रतिभाशाली राष्ट्रके मौलिक तत्त्व अर्थात् 'जनतामें धार्मिक एकता' को खो दिया। उन्हीं दिनोंकी बात है जब शैव और वैष्णव, अद्वैत और द्वैत मतोंके बीच गहरी खाई बन गई। शिव और विष्णुके आराधकोंके बीच घृणित कलह स्थापित हो गया और इन दोनों मतावलम्बियोंके बीच कुत्सित विवादका वितंडावाद सामने आया। इन मतोंकी भक्ति-प्रक्रिया तथा दर्शनमें भेदके कारण जो भिन्नता स्थापित हुई वह इस्लाम और हिन्दुत्वमें शत्रुत्वके कारण उत्पन्न भिन्नतासे अधिक गहरी थी।

बौद्धधर्म का तिरोहण

बारहवीं सदीके समाप्त होनेके पूर्व बौद्ध धर्म निष्कासित कर दिया गया और जन्म-भूमिमें ही उसके लिए आश्रय नहीं रह गया। भारतवर्षमें बौद्ध धर्मका अवसान अनेक कारणोंसे हुआ। शासकोंके संरक्षणका अभाव, आंतरिक विप्रतिपत्ति और बाह्य आक्रमण ही इसके पतनके मूल आधार थे। इन कारणोंके साथ बौद्ध संघारामोंमें घृणित, उच्छृंखल और भ्रष्ट आचारोंकी प्रबलताके कारण उत्पन्न आध्यात्मिक पतनको जोड़ा जा सकता है। इसने प्राचीन प्रतिद्वंद्वी ब्राह्मण-धर्मको अभिनव शक्ति प्रदान कर दी। ब्राह्मण-धर्मने अपनी प्रबल शक्ति जमाकर बौद्ध धर्मकी दुर्बलताओंपर निर्मम आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। कुमारिल भट्ट और शंकराचार्यने (सन् ८०० ई०) एक प्रबल अन्दोलनका जो झंझावात चलाया था उसने ब्राह्मण धर्मकी बौद्धिक सत्ताको श्रेष्ठतर सिद्ध करनेमें काफी सफलता प्राप्त कर ली थी। अब ग्यारहवीं और बारहवीं सदीमें इस लड़खड़ाते हुए धर्मको केवल समाधि लेना बाकी था। यह क्रिया बौद्ध धर्मके पलायन या विलोपके रूपमें पूरी नहीं हुई, पूरी हुई नवीन ब्राह्मण-धर्म-द्वारा इसके क्रमशः आत्मसात् होनेके रूपमें।

बौद्धोंके महायान सम्प्रदायमें संस्कृत भाषाका व्यवहार, मूर्ति-पूजा और भक्तिकी प्रधानता ही धर्मके आधार बने थे। इसी प्रकृतिने इसको हिन्दू-धर्मके अधिकाधिक सन्निकट ला दिया और बादमें आनेवाला बौद्ध सम्प्रदाय सन्मित्य तो हिन्दू धर्मके और अधिक सन्निकट आ गया। हिन्दुओंने भी बौद्ध धर्मकी अहिंसा आदि जैसे प्रमुख आदेशोंको अंगीकार किया। बौद्ध धर्मको आत्मसात् करनेकी क्रिया सफलताकी इस हदतक पहुँची कि बुद्धदेव हिन्दुओंके देवताओंके अन्तर्गत हो गये और आज भी प्रत्येक आस्तिक हिन्दू उन्हें दशावतारोंमें मानता है। बुद्धकी मूर्तियाँ हिन्दू-देवताओंमें परिणत हो गईं तथा प्रतिदिन सनातनी हिन्दू उन्हें श्रद्धासे पूजता है। चन्देल दरबारके सुविख्यात नाटक प्रबोधचन्द्रोदयसे प्रकट होता है कि हिन्दू समाजमें हर ओरसे बौद्धोंके प्रति घृणा ही प्रदर्शित होती थी।[1] हर जगह बौद्धों और ब्राह्मणोंमें उग्र विवाद खड़े हो जाते थे। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि एक ओर तो आंतरिक कारणोंने दोनों धर्मोंमें सन्निकटता स्थापित की, दूसरी ओर, जैसा कि पहले बतलाया गया है, बाह्य उपकरणोंने बौद्ध कट्टरताके आत्माका हनन कर दिया। फलतः इस युगमें बौद्ध धर्मका सर्वदाके लिए उस रूपमें विलोप हो रहा था।

महायान धर्ममें पर्याप्त विकृति आ चुकी थी। महायानियोंने क्रमशः महात्मा बुद्धकी शिक्षा भूलकर, उसकी व्यक्त सत्ताको अपना सर्वस्व समर्पण करने लगे। जब लोक-सापेक्ष रूप——महात्मा बुद्धका मानव-रूप सर्वव्याप्त और सर्व-शक्तिमान्के रूपमें ग्रहण कर लिया गया तब उसकी अर्चना रहस्यमय और जटिल हो गई। यहीं मंत्रयानका आरम्भ हुआ। हठयोगके सहारे मंत्रयानी बौद्ध सिद्धि प्राप्त करने लगे। इसने सरलचित्त नारी-समाजको आकृष्ट किया। भक्तिके साथ भोगको प्रश्रय दिया। इस भावनाकी विकृति इस युगतक बौद्धोंमें और भी हुई। 'वैपुल्यवाद' ने मांस और मैथुनको समाविष्ट भी कर लिया। उड़ीसा ऐसे सिद्धोंका केन्द्र बना, जहाँ अपने मार्गपर इसका विकास होता रहा। वीभत्स रूप होनेपर बौद्धोंमें वज्रयान सम्प्रदायका प्रादुर्भाव हो गया। बौद्ध धर्मकी तत्कालीन अवस्था ऐसी ही थी।

जैन धर्म

असाधारण आश्चर्यका विषय है कि जब कुमारिल और शंकराचार्य बौद्ध धर्मपर अंतिम प्रहार कर रहे थे, तब हिन्दू धर्म के साधारण विरोधी जैन मतकी ओर विशेष रूपसे उनका ध्यान नहीं गया और वह अपनी गतिसे चलता ही गया। प्रारम्भसे ही जैन मत स्वतंत्र दर्शनके रूपमें चला और इसमें सभी आवश्यक शास्त्रोंकी——विशेषतया तर्कशास्त्र और व्याकरणकी रचना हुई। ज्यौतिष तथा औषधि-शास्त्रमें जैनियोंकी कुशलताने बराबर लोक-प्रियता प्राप्त की। जैनियोंकी विद्या-संबंधी गरिमा और ख्यातिसे प्रभावित होकर कितने ही

---

१. प्रबोधचन्द्रोदय, पृ० ५६

प्रतिभाशाली ब्राह्मणोंने भी जैन मत ग्रहण कर लिया था। जैन मतको जो उर्वर क्षेत्र तथा शासकीय आश्रय दक्षिण भारतमें प्राप्त हुआ, वह उस हदतक उत्तरी भारतमें नहीं प्राप्त हो सका। फिर भी जैन पंडितोंने उत्तरी भारतके राजपूत राजाओंके यहाँ भी प्रभाव प्रतिष्ठित करनेका अधिकाधिक प्रयत्न किया।

चन्देल शासकोंकी राजधानियों खजुराहो और महोबामें बने जैन मंदिरोंको देखनेसे जान पड़ता है कि उनके शासन-कालमें ब्राह्मण धर्मकी छत्र-छाया में सिमिटकर जैन मत भी बुन्देलखण्डमें विकसित हो रहा था। इन सभी मंदिरों-का निर्माण-काल निःस्सन्देह १०वीं, ११वीं और १२वीं सदी है। अभिलेखोंसे ज्ञात होता है कि चन्देल राजाओंका शासकीय धर्म सर्वदा हिन्दू धर्म ही रहा। फिर भी राजधानियोंमें जैन मंदिरोंकी रचना इस बातकी साक्षी है कि शासक इन धर्मोंके प्रति कितने उदार और सहिष्णु थे। यद्यपि कोई लिखित प्रमाण नहीं मिला है, किन्तु यह अनुमानसे बाहर नहीं मालूम पड़ता कि चन्देल राजाओंने समान रूपसे ही जैन धर्मको भी सहायता दी--जैसे कि दक्षिण भारतमें राष्ट्रकूटों-ने की थी। महत्त्वकी बात यह है कि दक्षिण-सुदूरमें जहाँ समकालीन चोल शासक, जो शिवके कट्टर भक्त थे, नृशंसताके साथ जैन मतावलम्बियोंका दमन कर रहे थे वहाँ शिव और विष्णुके अनन्य सेवक चन्देल, अद्भुत उदारताके साथ जैन मतको आश्रय दिये हुये थे। उनके कठोर व्यवहारोंकी चर्चा कहीं भी नहीं प्राप्त होती। शिव और विष्णुके मंदिरोंके बगलमें जैननाथ और पार्श्वनाथके मंदिर बनानेतककी स्वतंत्रता उन्होंने प्रदान की। दक्षिण भारतमें शैव मतके उत्थानने तो जैन धर्मके पतनका गर्त वहाँ खोद डाला परन्तु क्या कारण है कि अटूट अहिंसासे ओत-प्रोत जैन धर्म नृशंस हिंसामें विश्वास करनेवाले उन शैव राजाओंकी छत्र-छायामें उत्तर भारतमें फलता-फूलता रहा जो शस्त्रोपजीवी थे और मारना मरना जिनका बाना था। यह एक विचारणीय समस्या है। इसका एक समाधान इतिहासकार चि० वि० वैद्यने प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि "कुमारिल और शंकरने जिस हिन्दू धर्म या वैदिक धर्मका अभ्युत्थान किया था उसकी प्रथम उत्ताल तरंगे अवतरित हो रही थीं और बौद्ध अहिंसा इस रूपमें प्रतिध्वनित हो रही थी।" हम लोग महापुरुषोंके प्रौढ़ व्यक्तित्वमें विश्वास करते हैं और इस युगमें पश्चिमी भारतमें जैन धर्मके प्रसार और उन्नतिका श्रेय हेमचन्द्र और अन्य बड़े जैन पंडितोंके प्रभावको ही दिया जायगा।

जैन धर्मकी दो शाखाओंमेंसे एक दिगम्बर सम्प्रदायका ही विशेष रूपसे प्रसार दक्षिण भारतमें हुआ। समस्त दार्शनिक तर्कों-द्वारा वे त्यागके ही सिद्धांतको प्रतिष्ठित करते हैं। किन्तु उत्तर भारतमें अधिकतर श्वेताम्बर सम्प्रदायकी ही प्रधानता रही। ये अपने अनुयायियोंको दो श्वेत वस्त्र-खंड प्रदान करते थे। उस युगमें जैनधर्म सतलजतक फैल चुका था। सारांशमें यह कहा जा सकता है कि

शेष उत्तर भारतमें शासकों अथवा प्रजामें जैन धर्मको स्थान नहीं मिला था। केवल कुछ वैश्य जैनधर्मके अनुयायीके रूपमें ही देशमें छिट-फुट पाये जाते थे।

मध्य युगके उत्तरार्धकी धार्मिक स्थितिपर विचार किया जाय तो प्रकट होता है कि व्यापक हिन्दू धर्मके भीतर ही विविध प्रकारके अनेक मत और सम्प्रदाय व्याप्त हो गये थे। इसका आभास ग्यारहवीं सदीके अरब इतिहासकार ए-इद्रीसीके वर्णनसे भी प्राप्त होता है। वह लिखता है—"भारतवर्षकी प्रमुख जातियोंमें इस समय बयालीस मत-सम्प्रदाय हो गये हैं। इनमेंसे कुछ ईश्वरकी सत्ता तो मानते हैं परन्तु पैगम्बरकी नहीं। कुछ दोनोंकी स्थिति अस्वीकार करते हैं। कुछ पत्थरकी प्रतिमाकी अलौकिक सत्तामें विश्वास करते हैं और कुछ पावन पत्थरको पूजते हैं और उसपर घी और तेल चढ़ाते हैं। कुछ अग्निके प्रति भक्ति प्रकट करते हैं और अपनेको उसमें उत्सर्ग भी कर देते हैं। कुछ सूर्यकी ही सत्तामें आस्था रखते हैं और उसको विश्वका कर्त्ता और नियंता मानते हैं। कुछ लोग वृक्षकी पूजा करते हैं और कुछ दूसरे लोग सर्पकी उपासना करते हैं। अंतमें, कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो किसी भी प्रकारकी भक्तिमें विश्वास नहीं करते और हर प्रकार-की सत्ताको अस्वीकार करते हैं।" किन्तु ध्यानसे मनन किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि ये सभी हिन्दू धर्मके ही विभिन्न रूप हैं।

हिन्दुधर्मका परिवर्तित स्वरूप

जिस हिन्दू धर्मने अश्रौत धर्मको हटाकर अपने लिये उस युगमें एकांकी स्थान बनाया वह पूर्व बौद्ध युगके ब्राह्मण-धर्मसे—स्वरूप और क्रिया दोनोंमें—अनिवार्य रूपसे भिन्न था। सिद्धांततः तो इस परिवर्तित हिन्दू धर्मके आधार भी वही प्राचीन वैदिक विधि और मान्यता ही थी, किन्तु उसकी अपनी प्रकृति और अपना स्वरूप भी था जो मौलिक रूपसे भिन्न था। इसपर अश्रौत धर्म बौद्ध या जैनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा; केवल देशमें अधिक समयतक प्रभुत्व रखनेके कारण बौद्ध धर्मकी 'अहिंसा'का वैष्णव धर्मपर प्रभाव पड़ पाया। इस नूतन धर्मकी विशेषता थी उसके ईश्वरवादमें जिससे वैष्णव और शैव सम्प्रदाय प्रसूत हुये। इसमें सन्देह नहीं कि तब भी वैदिक मंत्र श्रद्धासे पढ़े जाते थे, यज्ञ भी भूले नहीं थे, लेकिन इस नूतन धर्मको प्रेरणा नई प्रवृत्तिके धार्मिक ग्रंथों, महाकाव्यों और पुराणोंसे प्राप्त हो रही थी। उनकी विधि-पद्धति एकमात्र भिन्न थी। सर्व-शक्तिमान देव-देवियोंके रूपमें विष्णु, शिव या शक्तिकी पूजा वैदिक मान्यतासे बिलकुल अलग थी। वैदिक धर्मके सुपरिचित शब्द 'श्रद्धा' की जगह 'भक्ति'का प्रादुर्भाव हुआ। इससे विभिन्न देवताओंके निमित्त बने देवालयोंमें मूर्तियोंकी व्यक्तिगत पूजाको प्रश्रय मिला। हिन्दू देवमंदिरोंका फिर युगारम्भ हो गया।

ये मंदिर अपनी कायिक विशालता और भव्यतासे बौद्ध और जैन धर्मोंसे सम्बद्ध पूजा-गृहोंको भी मात करने लगे। अनेक विभिन्नताओंके होते हुये भी इन

हिन्दू मंदिरोंमें वैदिक रीतियोंका व्यक्त्यर्थक प्राधान्य बना रहा। उनमें सामूहिक उपासना-का स्थान नहीं था। फलतः वैसे स्थानोंकी स्थिति नहीं थी, जहाँ सभी उपासक समष्टि रूपसे उपासना कर सकते।[1] मंदिरोंको देवताओंका निजी निवास-स्थान माना जाने लगा जिसमें वे मानव रूपमें, मूर्त रूपमें या प्रतीक रूपमें रहते थे।

नववैष्णव सम्प्रदाय

वैष्णव धर्मने, जिसे गुप्तोंका यशस्वी आश्रय प्राप्त हुआ था, इस युग (सन् १०००–१२०० ई०) में नया रूप धारण किया। बौद्ध धर्म तो इस समय भारत-वर्षमें मृत ही हो चुका था—केवल मगध इसका अपवाद था। बुद्ध विष्णुके अवतारका रूप ले चुके थे और बचे-खुचे बौद्ध धर्मावलम्बी साधारणतया वैष्णव हो गये थे। यह स्वाभाविक था—और प्रत्यावर्तित लहरोंकी भाँति अहिंसा अधिक शक्तिके साथ उपस्थित हुई। वैष्णवोंने अहिंसाको समाजमें वह महत्त्व दिया जो उसे पहले कभी प्राप्त नहीं था। वैष्णवों-द्वारा अहिंसाका इस कोटिमें समादर प्राप्त करना क्या था कि इसने जैन धर्मको अशक्त कर दिया। लोगोंको अपने चिर-परिचित देव विष्णुकी आराधना अब अहिंसाके साथ श्रीकृष्णके रूपमें करना बड़ा ही आकर्षक ज्ञात हुआ। वैदिक यज्ञ, जो अनिवार्य पशुहिंसासे आबद्ध थे, छोड़ दिये गये। वैष्णवोंने वस्तुतः पशु-वध और मांस-भक्षणका परित्याग कर दिया।

यदि इस प्रकारके वैष्णव धर्मके कारणोंका विश्लेषण किया जाय तो उसके आधार शंकरके क्रिया-कलापोंमें नहीं पाये जायँगे क्योंकि वे तो वैदिक विधि-पद्धतिके अनन्य समर्थक थे। उसके आधार भागवत-पुराणमें भी नहीं पाये जायँगे जो निश्चित रूपसे दसवीं ग्यारहवीं सदीकी कृति है। उसके बहुत पहले ही कश्मीर-का राजा अवंतिवर्मन् (सन् ८५५-८८४ ई०), जो धंगका समकालीन था, इसी पद्धतिका वैष्णव था। चन्देल शासक हर्ष और यशोवर्मन् इसी विष्णुके परम उपासक थे। यशोवर्माने विष्णुकी प्रसिद्ध मूर्ति कन्नौजसे लाकर खजुराहोमें एक दिव्य मंदिरके भीतर उसकी प्रतिष्ठा की। मध्यभारतमें उस समय यह वैष्णव सम्प्रदाय अहिंसासे ओत-प्रोत था।

जहाँ इस वैष्णव धर्मने समाजमें अहिंसाकी व्यापक मान्यता स्थिर की और उसके व्यावहारिक रूपकी शिक्षा दी वहाँ इसने सांसारिक विभूतियोंके भोगका भी अनूठा मार्ग प्रस्तुत किया। श्रीकृष्णके जीवनने सात्त्विक मार्गसे संसारके भोग करनेका व्यावहारिक उदाहरण रक्खा। उनकी भक्तिने बंगाल और मध्यभारतमें उस युगमें भोगश्रेष्ठत्ववादको जन्म दिया जो थोड़े समयमें बहुत ही लोकप्रिय हो

१. हिन्दू टेम्पुल—भूमिका
२. हिस्ट्री औफ़ मेडिवल इण्डिया, भाग ३, पृ० ४१५

गया।[1] प्रत्यक्ष रूपसे इसका परिणाम यह देखा गया कि इस वैष्णव धर्ममें 'भावात्मक उच्छृंखलता' प्रधान तत्त्व बन गई। श्रीकृष्ण और गोपियोंका अनुबन्धन ही इस मतका मुख्य सिद्धान्त बना। किन्तु अभीतक राधाकी कल्पनाका समावेश नहीं हुआ था। यह ध्यान देनेकी बात है कि दक्षिण और पूर्वमें शैव मतके विरोधके उपरान्त भी वैष्णव मत इस रूपमें विकसित होता चला जा रहा था।

नवशैव सम्प्रदाय

जैसा कि पहले कहा गया है, ब्राह्मण धर्मके नव-स्वरूपमें वैष्णव मतके साथ-साथ शैव मतका प्रादुर्भाव भी एक विलक्षण घटना है। यह भी नतन भावोन्मेषके साथ सामने आया। शिवकी उपासना उस युगकी सामान्य भक्ति-पद्धति थी, जिसका पूर्वकालसे ही क्षेत्र बन रहा था। महाकवि कालिदास, भवभूति और गद्य-के अद्वितीय मार्गविधायक सुबन्धु और बाणभट्ट भी शिवके ही अप्रतिम भक्त थे। छठी और सातवीं सदीतक शैव मत भी बड़ी तीव्रतासे विकसित होता गया। ह्वेन्त्सांगने सुदूर पश्चिमी भारतमें भी 'अनेक कृतप्रतिज्ञ पाशुपतों' को पाया था। बनारस शैवोंका बड़ा केन्द्र था। शैवोंके विभिन्न उप-सम्प्रदायोंमें उनके अलग साहित्यका विकास हो गया था। उनके अपने दर्शन, मनोवैज्ञानिक मान्यता और अध्यात्मशास्त्र ऊँचे स्तरपर विकसित हो गये थे।

तत्कालीन शैव मतमें क्या नवीनता और विशेषता थी, उसकी जानकारी करने-के लिये उसके सैद्धान्तिक पक्षका निरूपण करना आवश्यक है। इसने संध्योपासना, पूजा, मंत्र, जप, होम, निर्वाण एवं परमानन्दकी प्राप्तिके लिये समय-समयपर उत्सव, प्राणायाम, ध्यान, मनन, बुद्धिस्थैर्य समाधि, तप, विशेष धार्मिक कृत्यों-द्वारा आत्मशुद्धि तथा विविध रूपोंमें लिंगोपासनापर विशेष जोर दिया। ये सिद्धांत पाशुपत, कापालिक, कालाभिक्ष और काश्मीर शैवोंके द्वारा राजपूत युग आनेके पूर्व ही विकसित हो गये थे।

लिंगायत

शैव मतका यह परिवर्तित रूप भी मूलतः नवीं सदीके महान् दार्शनिक शंकराचार्यके गंभीर प्रभावका फल है। वीरशैवों या लिंगायतोंका दर्शन न केवल शंकरके बल्कि रामानुजाचार्यके विचारोंसे भी प्रभावित हुआ जिन्होंने लिंगोपासना और नन्दिनको सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया। चि० वि० वैद्यके विचारोंके प्रति आदर रखते हुये भी हमारा उनके इस विचारसे मतभेद है कि बासवने, जो कुछ समयतक कलचुरी शासक बिज्जलका मंत्री था, लिंगायत सम्प्रदायकी स्थापना की थी। डॉ० आर० जी० भण्डारकरका मत बहुत कुछ परिस्थितिके अनुरूप है

---

१. वही, भाग ३, पृ० ४१५

कि बासव चले आते हुये सम्प्रदायका, जिसे "आराध्य" भी कहा जाता था, केवल एक अभिनिविष्ट और उत्साही अनुयायी था। किन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि बासव स्वयं महान् सुधारक और विचारक था। उसने प्राचीन 'आराध्य' सम्प्रदायको विशेष स्वरूप प्रदान किया। बासव पुराणका यह कथन कि वह नन्दीका अवतार था वस्तुतः इसी आधारपर था। बासवने पुरातन विधि-पद्धतिसे स्पष्टतया भिन्न मार्ग आरम्भ किया था।

वीरशैवोंने अहिंसाको मूल सिद्धांतके रूपमें ग्रहण किया और इस प्रकार सर्वसाधारणकी भावनाको तृप्त किया, जो इस समय पशुवधके विरुद्ध थी। उन्होंने वर्णाश्रम धर्म और हिन्दू धर्मकी अन्य दुर्बल और हेय बातोंका परित्याग कर दिया। बासवने दृढ़ताके साथ आगे बढ़कर जाति-व्यवस्थाको छोड़ दिया और संन्यास तथा तपको अमान्य ठहराया। 'बासव वह प्रथम विचारक था जिसने श्रमकी महत्ता स्थापित की और सभी प्रकारकी याचना समाप्त कर दी। उसने हर व्यक्तिके लिये जैनियों और बौद्धोंसे अधिक सफलताके साथ नियमबद्ध जीवन-की प्रतिष्ठा की'। उसने सामान्य जनोंमें प्रचलित पुरानी लिंग-पूजाको कायम रक्खा और उनके ईश्वरकी कल्पनामें बाधा नहीं पहुँचाई। उसने भक्ति अर्थात् प्रेम और समर्पण, सत्य, नैतिक आचार और आत्मप्रक्षालनके महत्त्वको खूब दर्शाया। ये लिंगायत हिन्दू धर्मकी कई सुविदित रीतियोंसे कैसे हट गये थे, यह जानना कम कठिनाईकी बात नहीं है। उनकी विधवाएं पुनर्विवाह कर सकती थीं।

शैव सम्प्रदायवाले दक्षिण भारतमें राष्ट्रकूटों और चोलोंके आश्रयमें खूब फले-फूले। चन्देलोंके यहाँ इसे विशेष रूपसे दसवीं सदीके पहले ही आश्रय मिला। धंग शैव था और उसने शिवकी उपासनामें पत्थर और मरकतके लिंगोंके साथ कितने भव्य देवालय बनवाये।[1] वह इस वंशका प्रथम शासक था जिसने लिंगायत शैव मतको ग्रहण किया। उसके उत्तराधिकारियोंने उसीका अनुगमन किया। इस वंशके अंतिम प्रतिभासम्पन्न शासक परमर्दिने अपनेको 'परम माहेश्वर' विरुदसे विभूषित किया।[2] विशेष ध्यान देनेकी बात यह है कि चन्देल शासकोंने कभी भी बासव-द्वारा प्रचारित वीरशैव मतको अंगीकार नहीं किया। उनकी लिंगायतकी कल्पना भी ब्राह्मण धर्मकी भावनासे कभी विपरीत नहीं थी। वे ब्राह्मणोंके भी परम भक्त थे। उनके दान-पत्र देखनेसे प्रतीत होता है कि जातियों और उप-जातियोंके विस्तृत भेदमें भी उनकी आस्था थी। अतः इस परिणामपर पहुँचना तर्कसंगत जान पड़ता है कि चन्देल शासक परम्परा-विहित शैव मतमें विश्वास करते थे और उसकी उपासनामें पर्याप्त उदार थे। हर मानेमें वे सहिष्णु थे

---

१. ए० ई०, भाग १. पृ० १३८

२. वही भाग ४, पृ० १५३

और उनका आध्यात्मिक विश्वास परम्परा-विहित था। किसी भी साधनसे उनके द्वारा उत्पीड़नकी चर्चा नहीं मिलती, लिंगायतोंके सहज शत्रु जैनियोंके प्रति भी।

शाक्त

इन दो प्रमुख सम्प्रदायोंके अतिरिक्त शक्ति-पूजाका विकास अत्यंत ही अभिनव रूपसे हो गया था। जैसा कि अगले अध्यायमें स्पष्ट होगा, शक्ति-पूजाका मूल स्रोत प्राक् ऐतिहासिक है। मध्य एशिया, असीरिया और सिंधघाटीमें सभी जगह मातृशक्तिकी पूजा होती थी। माताकी प्रभुता सर्वश्रेष्ठ प्रतिष्ठित थी, इस भावनाका विकास हुआ। वेदोंमें भी नारीकी सत्ता पुरुषकी प्रेरिका रूपमें आई। शाक्तोंका यह दावा कि उनके सम्प्रदायका उद्गम वैदिक धर्मसे भी पुराना है, तर्कसंगत और प्रामाणिक है। ई० पू० प्रथम सदतक शक्ति-अर्चनाका पर्याप्त विकास हो चला था। उस सम्प्रदायका स्वरूप आगे बढ़नेपर रहस्य और चमत्कारोंसे आपूर्ण होता गया तथा उसकी मान्यता ऐहिक जीवनके अत्यधिक निकट आती गई। चन्देल युगतक पहुँचनेपर शाक्तोंका नवरूप तांत्रिक हो गया। उन्होंने अपनी परिचर्याको रहस्यमय तो बनाया ही, उसमें नारी, भोग और तंत्रको खूब स्थान दिया। तांत्रिकोंके सम्प्रदायसे निकलकर कापालिक और अघोर पंथियोंका इसी समय उदय हुआ। सातवीं सदीके मध्यतक तो शाक्तोंका पीठ कामाख्या पर्वत बना रहा किन्तु इस समयतक शाक्तोंकी सबल धारा समस्त उत्तर भारत-को अभिषिक्त कर रही थी। कापालिकों और अघोरपंथियोंकी समस्त चेष्टाएँ बौद्ध वज्रयानियों और मंत्रयानियोंसे मिलती थीं। शाक्तोंका प्रचुर साहित्य आगम और तंत्र ग्रंथोंमें आबद्ध होता गया। दो भिन्न स्रोतोंसे निःसृत इन मतोंमें उस युगमें एक ही मान्यता—वही नारी, मैथुन और मदिरा व्याप्त हो रही थी। जिससे सामान्य जीवन और कला सभी प्रभावित हो रहे थे। विविध परिव्राजकोंने नवीन धार्मिक व्यवस्थाएँ दीं। नवीन प्रकारकी पूजा-विधिका जन्म हुआ। इसने सबके लिये संन्यासका मार्ग खोल दिया। चन्देल अभिलेखोंमें बहुत प्रकारके परिव्राजकोंका वर्णन प्राप्त होता है।

सामान्य रूप

जहाँतक उपासनाकी विधि-पद्धतिकी बात है, वैदिक विधियाँ, जैसे तर्पण, सूर्योपासन और हवन, क्रमशः महत्त्वहीन होती गई और उनकी जगह पौराणिक देवताओं, जैसे शिव, विष्णु, देवी, गणेश और सूर्यतककी उपासना तथा पूजा हिन्दू धार्मिक जीवनकी प्रमुख क्रिया बनी। उस युगमें प्रत्येक हिन्दू गृहमें किसी न किसी देव या देवीकी लघु मूर्ति प्रतिष्ठित पाई जाती थी। उस प्रवृत्तिका रिक्थदाय आज भी कहीं-कहीं देखनेको मिल जाता है। गृह-गृहकी इसी मूर्तिपूजाने निःसन्देह वैदिक यज्ञ-याग और हवनको अपदस्थ कर दिया था। यह उचित ही कहा गया है कि राजे, रानियाँ, मंत्री, सम्पन्न वणिक् और यहाँतक कि वे ब्राह्मण-श्रमण,

जो अपने पावन जीवनके लिये दूसरोंसे दान प्राप्त किया करते थे, अपने इष्टदेवों-के लिए विशेषतया शिव और विष्णुके लिये भव्य और अद्भुत देवालय बनवाने-की सतत स्पर्धा रखते थे। यह सम्पूर्ण देश ही ऐसे दिव्य मंदिरोंकी छटासे जग-मगा उठा था। खजुराहोमें तो मंदिरोंका एक सर्वतोव्यापी दृश्य ही हो गया। वहाँ चन्देल शासकोंने शिव, विष्णु और जैन तीर्थंकरकी उपासनामें लगभग तीस मंदिर निर्मित कराये। उनका निर्माण-काल सन् ६५० ई० से सन् ११०० ई० तक है। न तो आध्यात्मिक और बौद्धिक अवनतिने और न स्थानीय अवनरत युद्धोंने निर्माणकर्त्ताओंकी क्रियात्मकतामें बाधा पहुँचाई।

आर्य धर्मके अनुसार प्राकृतिक विभूतियोंसे समावृत कुछ ऐसे विशेष स्थान थे, जो पूज्य थे और वे देवोंके निवासके लिये विधि-विहित थे। ऐसे रमणीय स्थलों पर बनें मंदिर दिव्यताके प्रतीक समझे जाते थे। किन्तु कुछ समयके पश्चात् लोगोंमें यह भाव रूढ़ हो गया कि मन्दिर बनवाना ही एक पुण्य कृति है। इस-लिये प्रत्येक राजाने—चाहे वह छोटा हो या बड़ा—अपनी राजधानी अथवा तीर्थमें बहुमूल्य मंदिर बनवाये।

राजपूत-कालमें मठोंकी पुनः स्थापना हुई जिनमें वैष्णव अथवा शैव यती रहा करते थे। अभिलेखोंके द्वारा ज्ञात होता है कि मंदिरोंके सन्निकट ही मठ निर्मित हुये थे। शिव मंदिरोंके पास ही व्याख्यान-शाला और उद्यानशाला भी बनती थी।

हिन्दुओंके धार्मिक जीवनमें धर्मयात्राकी दृष्टिसे तीर्थोंका स्थान बहुत ऊँचा ठहराया गया। सामान्यतया लोग इन तीर्थोंकी यात्रा करते थे। इन स्थानोंके दर्शन-को ही लोग मोक्षका साधन मानते थे। इस युगमें गंगा अलौकिक शक्तिकी सरिताके रूपमें गृहीता हुई। उदाहरण ऐसा मिलता है कि चन्देल शासक गंगा-यमुनाके संगमपर जीवन-मुक्त होते थे। "पवित्रताके जिन स्थलोंसे बुद्धि उत्कृष्ट होती है वे बहुत ही मूल्यवान् माने जाते हैं। लोग वाराणसीकी पावन नगरीमें जाते हैं, जहाँ कैवल्य प्राप्त होता है"।[1] यह उस युगका एकान्त विश्वास था।

हिन्दुओंके पंचांग त्योहारोंसे भरे पड़े थे। इन अवसरोंपर तीर्थयात्राकी भी महिमा स्थापित हुई थी। जैसा कि कहा जा चुका है, लोगोंका विश्वास मंदिर और घाटोंके बनवानेमें आ लगा था। तालाबोंका खुदवाना और अन्य स्थलोंका जीर्णोद्धार कराना भी बड़ा धार्मिक कृत्य समझा जाता था। चन्देल अभिलेख इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। समाजमें कुछ ऐसे भी व्यक्तियोंका समूह था जिन्हें तत्कालीन धार्मिक व्यवस्थासे संतोष नहीं था। उनको सरिताओंके कूलोंपर, वना-च्छादित तपस्वियोंके वासस्थलोंमें और उन घरोंमें, जहाँ हवन होता है और यज्ञ-

१. प्रबोधचन्द्रोदय, पृ० ४६

पात्र रक्खे जाते हैं, शांति नहीं मिलती।[1] इसलिये यह समूह ऐसे क्रिया-कलापवाले लोगोंका इन शब्दोंमें निन्दा करता था--"ये कपटी लोग धनिकोंकी सम्पति हरण कर लेते हैं। ये गंगाके तटका सुधार करते हैं और उसकी शीतल धारामें एक पाषाण खण्ड रखकर हाथमें कुशा लेकर उसपर गर्वके साथ बैठ जाते हैं और अपनी उँगलियोंका चापल्य दिखलाते हैं। क्या उनकी जपमालिकाका रुद्राक्ष-माल ही इतिहास है?"[2] हिन्दू धर्मकी संस्कार-विषयक भावनाकी यही दशा थी। अधिकांश लोग इसी पथका अनुसरण कर रहे थे; केवल कुछ लोगोंका एक वर्ग पौरोहित्यके विरुद्ध आवाज कसता था। अन्य दार्शनिक वर्ग सार्वभौम वेदान्तकी स्थापना करना चाहता था।

'प्रबोधचन्द्रोदय' में दर्शनकी विभिन्न शाखाओंका पूर्ण दृश्य उपस्थित किया गया है। जिसमें वे विभिन्न व्यवहार भी उपस्थित किये गये हैं, जो चन्देलोंके शासन-युगमें वर्तमान थे। उनमेंसे कुछ तो निःसन्देह बहुत ही साधारण रूपमें प्रस्तुत किये गये है, लेकिन उनका प्रमुख और महत्त्वपूर्ण तात्पर्य प्रकट हो जाता है। वे हैं वेदान्त, न्याय, सांख्य, मीमांसा, पातंजल, चार्वाक, जैन और बौद्ध। शंकराचार्य और कृष्णमिश्र दोनोंका उद्देश्य वेदान्तको प्रतिष्ठित करना था। अन्य दर्शनों-की चर्चा तो उन्होंने केवल उनकी त्रुटियों एवं दुर्बलताओंको खोलनेके लिये की। चार्वाकोंका सिद्धांत लोगोंमें अधिक प्रचलित होता जा रहा था। वे हिन्दू धर्मके अन्य मतों एवं सम्प्रदायोंको बुरी तरह ललकारते थे। एक प्रसंग देखा जा सकता है, भौतिकताकी ओर संकेत करते हुए वह कहता है--'मेरी आत्मजे! तुम जानती हो कि न्याय-व्यवस्था एक विज्ञान है, जिसमें और सभी चीजें समाविष्ट ह। तीनों वेद वंचक हैं। देखो, क्या इनके माध्यमसे (पुरोहितोंको दान देनेसे), यज्ञ-यागसे कहीं स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती है!"[3]

इस्लाम

उस इस्लाम धर्मकी तत्कालीन अवस्था और स्थितिका दिग्दर्शन भी किया जाना चाहिये जो उसके कुछ कट्टर समर्थकों-द्वारा बलपूर्वक काबुल, जाबुल और पंजाबके हिन्दुओंमें फैलाया जा रहा था। सुबुक्तगीन और महमूद दोनोंने जीते हुये देशोंके हिन्दुओंको बलात् धर्म-परिवर्तनके लिये बाध्य करनेकी नीति अपनाई। वे राजनीतिक सिद्धि तथा धार्मिक कट्टरता दोनों भावनाओंसे प्रेरित थे। उन्हें सफलता अवश्य मिली, किन्तु शेष भारत अछूता रह गया। महमूद स्वयं भारतके मध्यवर्ती भागमें अपनी बलात् परिवर्तनकी नीतिको कार्यान्वित करनेमें भय खाता था। मध्यभारत--बुन्देलखण्ड विशेष रूपसे--इस्लामके प्रभावसे बाहर रहा।

---

१. वही, पृ० ६७

२. वही, पृ० ५५

३. वही, पृ० ७१

कुतुबुद्दीनने मंदिरोंका विनाश यहाँ अवश्य किया किन्तु उसने धर्मपरिवर्तनके मौलिक प्रश्नको स्पर्श ही नहीं किया। यहाँके लोग भी अपेक्षाकृत अधिक दृढ़ हिन्दू थे। इन्हीं सब कारणोंसे यहाँके हिन्दू अपनी धर्म-भावनामें कहीं फिसल न सके।

भारतवर्षमें धर्म, दैनिक जीवनका किस प्रकार अविच्छिन्न अंग है, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है। राजपूत युगमें भी देश इसका अपवाद नहीं बना। "यहाँ मानवता ईश्वरत्वकी ओर बढ़ी।"[1] उस युगके उपासकोंने चाहे जिस नामसे हो, उस महिमावानकी उपासना की, उनमेंसे प्रत्येकने ईश्वरको देखा, उसको सुना और अपनी सत्ताको उससे भिन्न माना तथा वे जीवनके प्रत्येक क्षण ईश्वरमें रमते रहे। हिन्दू समाजके सामने इस युगमें नव उन्मेषके साथ उदित होते हुये शैव और वैष्णव मत अभिमुख थे। इनके कारण कुछ धार्मिक संघटन और ऐक्यमें शैथिल्य अवश्य आ गया था। जहाँ-तहाँ एक सम्प्रदाय दूसरेका दमन भी करता रहा। सन्तोषकी बात है कि चन्देल शासक सहिष्णु निकले और उनकी वंशावली भरमें कोई उदाहरण नहीं प्राप्त हुआ जब शैव शासकने वैष्णवोंको अथवा वैष्णव शासकने शैवोंको अथवा हिन्दू बौद्ध-जैनोंको सताया हो या अन्यथा दृष्टिसे देखा हो। उनकी उदार धार्मिकताने उनके विश्वासके विरुद्ध प्रचार करनेवाले सम्प्रदायोंको भी फलने-फूलनेका समान सुअवसर प्रदान किया। हाँ, वे तुर्कोंकी धर्मभावनाको नहीं स्वीकार कर सके। उन्हें वे अपने धर्मका विनाशक समझते थे। अतः गुजरात और महाराष्ट्रके राजाओंकी भाँति उन्होंने अपने नगरोंमें मसजिद बनानेका मौका नहीं दिया। चन्देल शासक उनसे बराबर घृणा करते रहे और उनके विरुद्ध संघर्ष करते रहे। यही कारण था कि इस वंशके शासनकालपर्यंत मुसलमानोंके धर्मपरिवर्तनकी नीति या उनकी धर्मांधता बुन्देलखंडमें सफल न हो सकी। इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं कि उत्तरभारत हो या दक्षिण, समस्त समकालीन शासकोंमें अपनी धार्मिक समग्रताको विदेशी झोंकोंसे रक्षित कर लेनेमें और युगकी धार्मिक अव्यवस्थामें धार्मिक एका बनाये रखनेमें चन्देल शासक सबसे अधिक सफल सिद्ध हुये।

उत्तरकालीन चन्देल शासकोंका प्रयत्न अत्यंत सराहनीय है कि शैव होते हुये भी वे कट्टर शैवों और कट्टर वैष्णवोंको एक सूत्रमें बांधनेमें सफल हुये। यह श्रेय उन्हींको है कि मध्यभारतमें शैवों और वैष्णवोंका प्रतिद्वंद्वी रोष कभी भी उच्छृंखलताकी सीमातक नहीं पहुँचा। परमर्दिदेव स्वयं शिवका उपासक था। किन्तु उसके प्रधान सचिव सल्लक्षणने शिव और विष्णु दोनोंके मंदिर साथ साथ बनवाकर दोनों प्रतिगामी सम्प्रदायोंमें सौहार्द लानेका सत्प्रयत्न किया था।[2]

---

१. इण्डियन टेम्पुल, भूमिका

२. ए० ई०, भाग १, पृ० २०६–२१०

अध्याय १३

भाषा और साहित्य

हम लोग चन्देल युगकी भारतीय सभ्यता और संस्कृतिका उतना ठीक मूल्यांकन तबतक नहीं कर सकते जबतक कि उस समयकी भाषाका विकास, साहित्य-की स्थिति तथा शिक्षाके स्वरूपका दिग्दर्शन न कर लें। इस अध्यायमें इन्हीं विषयोंका संक्षेपमें विवरण उपस्थित किया जायेगा।

प्रदेशीय भाषाओंका उदय

बौद्ध धर्मका क्रमशः विलय और हिन्दू धर्मका गहन, विलक्षण, एवं नवीन दार्शनिक भाष्यके साथ पुनरुत्थान केवल धार्मिक और सामाजिक क्रांति नहीं था, यह साहित्यिक संक्रमण भी था। इसलिये शास्त्रविहित प्राचीन क्षत्रिय वंशोंकी छत्र-छायामें हिन्दू साम्राज्योंकी स्थापनाके साथ ही संस्कृत भाषाका पुनरुत्थान भी हुआ। प्राकृत भाषाएँ—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची, जो कुछ ही वर्षों-पूर्व देशकी मातृभाषाएँ भी थीं, छोड़ दी गई और उनका स्थान फिर एक बार संस्कृतने ले लिया। इस प्रकार इस प्रक्रियाकी प्रगति तथा संस्कृतके सन्निवेश-ने सन् ८०० ई० से सन् १००० ई० के बीचके इस युगमें भाषाओंके विकासमें दो भागोंसे सहायता पहुँचाई। एक ओर संस्कृत भाषा साहित्य-रचनाके लिये सर्वप्रमुख भाषा बनी और दूसरी ओर उसने प्रदेशीय भाषाओंके निर्माणमें सतत योग प्रदान किया।

अपभ्रंश भाषाएँ शताब्दियों-तक जनताकी मातृभाषाएँ थी। अब संस्कृतकी प्रमुखता स्थापित होनेके साथ अपभ्रंश भाषाओं—महाराष्ट्री, मागधी, शौरसेनी और पैशाचीने संस्कृतके तत्सम शब्द ग्रहण करके कलेवर बदलना आरम्भ कर दिया। उनमें नूतन ओज और दीप्तिका प्रादुर्भाव हुआ। सम्पूर्ण भारतवर्षमें तत्सम शब्दोंके साथ शिष्ट उच्चारण होने लगा। इसके अतिरिक्त एक धार्मिक निमित्त भी था जिसने मातृभाषाओंके उदयको बल दिया। सन् ८०० ई० के लगभग शंकरकी दार्शनिक विचारणाके शीघ्र प्रसारके लिये भी मातृ-भाषाओंका आधार आवश्यक हुआ। हम लोगोंने शैव, कापालिक, पाशुपत, तांत्रिक, मंत्रयानी तथा गोरखपंथी आदि विभिन्न सम्प्रदायोंके साहसको देखा है। सभी अपने मतको लोक-व्यापी बनानेके लिये दृढ़ रूपसे कटिबद्ध थे। जैसा कि हिन्दी-साहित्यके प्रसिद्ध इतिहासकार आचार्य रामचन्द्र शुक्लने कहा है[1], इन सबने प्रदेशीय भाषाओंके

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ०४–६

यथावत् निर्माणमें योग दिया। इस प्रकार इन स्वर्णिम परिस्थितियोंमें स्थानीय विशेषताओंके साथ प्रत्येक प्रांतमें आधुनिक भाषाओंका आगमन हुआ। 'यह राजनीतिक और धार्मिक आवश्यकता थी।' थोड़े समयके ही भीतर इस युगमें हिन्दी, बंगाली, पूर्वी और पश्चिमी राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती और मराठी नामसे साधारण जनताकी लोकप्रिय भाषाएँ विभिन्न प्रांतोंमें विकसित हो गईं।

यह ध्यान देनेकी बात है कि आठवीं या नवीं सदीका पूर्वार्द्ध आते-आते प्राकृत भाषाएँ बोलचालकी भाषा नहीं रह गईं। और यद्यपि सभी प्रांतीय भाषाएँ तद्भव शब्दोंका परित्याग कर रही थीं और तत्सम शब्दोंको स्थान दे रहीं थीं, फिर भी उनके स्वरूप और रचनामें परिवर्तनशीलता बनी रही। यह मजेकी बात है कि चन्देलोंके साम्राज्यमें स्थानीय प्रयोगोंको अपनाती हुई पश्चिमी हिन्दी फैल रही थी। अतः अरब यात्रियोंका यह कथन कि भारतवर्षमें अनेकानेक भाषाएँ थीं, मध्ययुगीन भारतके लिये यथार्थ ही है।

भाषाकी पारिवारिक दृष्टिसे, जैसा कि पहले बतलाया गया है, पश्चिमी हिन्दीसे बुन्देलखण्डी भाषाका रूप इस समय निखर रहा था। चन्देल साम्राज्यके अधिकांश भागमें बुन्देलखण्डी भाषा अपनी अनेक स्थानीय बोलियोंके साथ ग्यारहवीं-बारहवीं सदीमें विकसित हो रही थी। ऐसा क्षेत्र उत्तर प्रदेशके वर्तमान बाँदा, हमीरपुर, जालौन, झाँसी और ललितपुर जिले, मध्यप्रदेशके जबलपुर, सागर और दमोह जिले, ग्वालियर राज्यका सब पूर्वी भाग और बघेलखण्डका पश्चिमी भाग, प्रयाग जिलेका गंगापारका भाग, भोपाल तथा सारा बुन्देलखण्ड है। चन्देल साम्राज्यके भीतर पश्चिमकी ओर भदावरी, ब्रजभाषा और मालवी बोलियाँ स्वरूप धारण कर रही थीं। मालवीका संबंध राजस्थानी भाषासे है। भदावरी और ब्रजभाषाका संबंध पश्चिमी हिन्दीसे। चन्देल साम्राज्यके सुदूर पूर्वी भागमें बघेली अपना रूप धारण कर रही थी। इसका संबंध पूर्वी हिन्दीसे है। दक्षिणी भागमें गोंडी भाषाका विकास हो रहा था। तत्कालीन भाषाके इतिहासमें यह युग अत्यंत ही संक्रमणका था जब देशी भाषाओं और उनसे संबंध रखनेवाली बोलियोंकी रचना हो रही थी। इन भाषाओंकी तत्कालीन स्वतंत्र सत्ताका विश्लेषण बड़ा दुष्कर है किन्तु इतना स्पष्ट कहा जा सकता है कि उसी समय बुन्देलखण्डीमें साहित्यकी रचना आरम्भ हो रही थी। हिन्दी भाषाकी इस विविधताका स्रोत बड़ा सबल था और सारे उत्तर भारतमें उसके भिन्न-भिन्न नामों और रूपोंमें साहित्य-सर्जनका कार्य आरम्भ कालसे ही चल पड़ा। बुन्देलखण्डी भाषा हिन्दीकी एक समर्थ बोलीके रूपमें खड़ी हुई। उसकी बनाफरी शाखामें कवियोंने इस कालके परवर्ती समयमें उत्तम ग्रंथोंकी रचना भी की। उस समय देशकी अनार्य भाषाओंके शब्द इसमें अधिक मिले थे। ब्रज भाषाकी छाप तो बादमें पड़ी है।

पहले कहा जा चुका है कि विंध्यपर्वत-श्रेणियोंसे आच्छादित यह स्थली काव्य और साहित्यका निरंतर स्रोत रही है। कल्पनाको उत्साहित करनेवाली यह भूमि विंध्यमेखलाके चरणोंमें अनिर्वचनीय शृंगारसे मंडित होकर ऐसी स्थित है कि इसकी तुलना किसीसे नहीं की जा सकती। यहाँ तो सहज ही काव्यधारा फूट पड़ती है। विन्ध्यकी जो साहित्यिक परम्परा केशव, हरिराम, महात्मा अक्षर, बिहारी, पद्माकर, लाल, ठाकुर, धर्मदास, रीवाँनरेश रघुराजसिंह तथा छत्रसालने स्थापित की उसका उभार चन्देल युगमें हो गया था। इसीलिये भारतीय वाङ्मयमें तत्कालीन साहित्यका विशिष्ट स्थान है।

हिन्दीके जिस स्वरूपकी रचना यहाँ हो रही थी वह बड़ा ही सबल था। साहित्यमें लोकपक्षकी जैसी सुरुचिपूर्ण और प्रौढ़ अभिव्यक्ति उस समय यहाँ प्राप्त होती है अन्यत्र नहीं। ब्रज और अवधीका युग तो शताब्दियों बाद आता है। पश्चिमी हिन्दीमें लोकगीत, ग्राम-साहित्य, और सामाजिक जीवनको गीतोंमें गूँथने-की स्वर-लहरीका प्रथम अवतरण यहींके कोकल-कण्ठोंमें हुआ। भाषामें मनको मस्त कर देनेवाली लोकोक्तियाँ, व्यंग्य, कहनौत, टहूका और अहाना तभीसे पाये जाते हैं। जगनिकके काव्य इसके मनोहर उदाहरण हैं।

लिपि

प्रांतीय भाषाओंके आगमनके साथ-साथ नवीन अक्षरोंका भी विकास हुआ। इनका स्वरूप प्रत्येक भाषाके साथ भिन्न-भिन्न था। संस्कृतकी प्राचीन लिपि ब्राह्मी-से ही इन प्रांतीय अक्षरोंका उद्भव हुआ। सभी दानपत्रों और अन्य अभिलेखों एवं सिक्कोंसे प्रमाणित होता है कि चन्देलोंके समयमें वहाँ जो लिपि प्रयोगमें लाई जाती थी, वह नागरी लिपि थी। संस्कृत भी नागरी लिपिमें ही लिखी जाती थी। चन्देलोंके सभी दानपत्रों, अभिलेखों और सिक्कोंपर नागरी लिपि ही अंकित है। इस संबंधमें और प्रमाण अलबरुनीसे प्राप्त होता है। उसने बतलाया है कि 'मालवामें एक दूसरी लिपि थी, जिसको नागर कहते थे।' वह पूर्वी हिन्दीकी लिपिसे केवल रूपमें भिन्न थी।

पश्चिमी हिन्दी और उसकी साहित्यिक गति

प्रदेशीय भाषाकी इस युगकी साहित्यिक कृतियाँ विशेषतया काव्यमें हैं। पश्चिमी हिन्दीने अत्यंत अल्प समयमें ही सर्वव्यापी भाषाका रूप धारण कर लिया। जहाँ संस्कृतके विद्वान् संस्कृत साहित्यको विविध क्षेत्रोंमें सुसज्जित कर रहे थे, वहाँ देशी भाषाओंके कवि और भाट मातृभाषाओंको अलंकृत करनेमें उनसे कम संख्यामें नहीं लगे थे। वे समाजमें बड़े लोकप्रिय हो गये थे। कभी-कभी शासकोंके राज-दरबारमें वे उपस्थित होते थे और उनकी दानशीलता, युद्धकौशल, शौर्य और पराक्रम तथा अकथनीय गुणोंका अतिशयोक्तिके साथ वर्णन करके राजाओं

और दरबारियोंका विनोद करते थे। ऐसे कवि सामान्यतया दरबारके कवि होते थे। परमर्दिदेवके दरबारमें प्रमुख कवि गदाधर था। वह उसके यहाँ संधिविग्रहिक भी था।[1] राजपूत दरबारोंमें उस समय एक परंपरा स्थापित हो चली थी कि कवि युद्धक्षेत्रमें उनके साथ जाते थे और वीररसकी कवितासे उन्हें प्रेरणा प्रदान करते रहते थे। जो स्थान महाकवि चन्दका पृथ्वीराज चौहानके यहाँ था, वही स्थान कविवर गदाधरका परमर्दिदेवके यहाँ था। वह भी वीररसकी कवितासे उसे प्रेरणा प्रदान किया करता था।

ग्यारवीं सदीके प्रथम बीस वर्षोंके भीतर ही हिन्दी काव्यका इतना ऊँचा विकास हो चुका था कि इसमें सभी कोमल भावनाओंकी सरलतासे अभिव्यंजना होती थी। चन्देल वंशके प्रसिद्ध शासक गंडदेव और महमूद गजनवीके बीच जब सन् १००५ ई० में संधि सम्पादित हो रही थी, तब उसने महमूदकी प्रशंसामें बड़ी ललित और ओजभरी भाषामें एक हिन्दी कविता स्वयं रचकर प्रस्तुत की थी। महमूद उसके भावोंसे बड़ा प्रभावित हुआ था।[2] यह चन्देल शासकों-द्वारा हिन्दीको प्राप्त प्रोत्साहनका स्वरूप था। हिन्दी किस द्रुत गतिसे उन्नति कर रही थी—इसका भी परिचय इससे प्राप्त होता है।

ऐसे कवियों और भाटोंकी रचनाएँ, राजकीय पुस्तकागारोंमें रक्षित रहती थीं। जिनमें प्रमुख रूपसे शासकोंकी विरुदावली ही भरी रहती थी, उनमेंसे अधिकांश जीवित न रह सकीं और समयकी गम्भीर गहराईमें विलीन हो गईं। यह हिन्दी भाषा और साहित्यके इतिहासका आरम्भकाल था। अन्य छोटे-छोटे वृत्त-प्रधान काव्योंके अतिरिक्त ऐसी कविताएँ विशेष रूप से ग्रामीणोंमें लोकप्रिय थीं। हिन्दी साहित्यके क्षितिजपर दो प्रकारकी कविताएँ—प्रथमतः लघु महाकाव्य और दूसरे गाथा-गीत दृष्टिगोचर हुईं।[3] प्रथमका महत्वपूर्ण उदाहरण तो पृथ्वीराजरासो है, और दूसरेका बीसलदेवरासो। लेकिन कालक्रमकी दृष्टिसे 'खुमान रासो' और भी प्राचीन है। इन तीनों ग्रंथोंमें पृथ्वीराजरासो अपेक्षाकृत अधिक साहित्यिक मूल्यका है। यह ध्यान देनेकी बात है कि इन ग्रंथोंकी रचना चन्देल-वंशके इतिहासके उपसंहारकी सदीमें हुई।

चन्देल शासकोंका साहित्यिक संरक्षण

चन्देल युगकी साहित्यिक प्रगति केवल इसलिये महत्त्वकी नहीं थी कि इस समय हिन्दीका प्रारम्भिक विकास हुआ, बल्कि इसलिये थी कि इसी समय हिन्दी काव्य-

---

१. ए० ई०, भाग १, पृ० २१२, श्लो० ३०

२. दी लाइफ एण्ड टाइम्स आव् सुल्तान महमूद आव् गजन, पृ० ११८

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३९

की सर्जनात्मक शक्तिका सुभग अरुणोदय हुआ। इस ओर चन्देलोंका संरक्षण तथा प्रतिपालन असाधारण था। उनकी राज-सभा हिन्दी और संस्कृतके भद्र कवियोंसे मंडित थी। गदाधर, माधव,[1] राम[2] और नन्दन आदि सु-कवि महत्त्वके और उल्लेखनीय हैं। उनकी राजसभाके प्रसिद्ध चिकित्सक और वैयाकरण देद्द[3] युगके विद्वानशिरोमणि थे। संस्कृत साहित्यके सुप्रसिद्ध नाटककार कृष्णमिश्र कीर्तिवर्मनकी सभाके सदस्य थे। इन साहित्यकारोंमेंसे कितने ही हिन्दी और संस्कृत दोनोंके कुशल कवि थे। राजा परमर्दिदेवके आश्रयमें प्रसिद्ध कवि जगनिक रहता था। उसीने लोकप्रिय काव्य आल्हाखंड और महोबाखंडकी रचना की थी। परम यशस्वी महाराजा गंडदेव (राजानन्द) अपनी-काव्य प्रतिभाके लिये बड़े प्रख्यात थे।

विद्वान् और सुयोग्य पंडितों, ब्राह्मणों और कवि-साहित्यकारोंको राजाकी ओरसे भूमिप्रदान की जाती थी। कभी-कभी वे शासनमें दायित्वपूर्ण और उचित पद देकर सम्मानित किये जाते थे।[4] चन्देलोंके कितने ही प्रतिग्राहक, कवि और कलाकार थे—ऐसे प्रमाण हमें प्राप्त हुये हैं। चन्देलोंने साहित्यिक अभिवृद्धिकी ओर बड़ी उदारता दिखलाई। जैसा कि प्रबोधचन्द्रोदयसे स्पष्ट है, वे पांडित्यकी कसौटी और परखके लिये प्रतियोगिताओंका आयोजन भी करते थे।[5] साहित्यिक अभिनयोंका आयोजन वे राजकीय तौरपर करते थे। और उत्कृष्ट रचनाके लिये कवियोंको दानमानसे पुरस्कृत करते थे।

साहित्यके बहुमुखी विकासके लिये चन्देलोंने जो कुछ किया, उसकी समाप्ति यहीं नहीं होती। वे स्वयं भी उसके रचयिता थे। और दर्शन, धर्म, राजनीति और साहित्य कितनी विद्याओंमें पारंगत थे। यह उसीका प्रभाव था कि इन शासकोंने इसके अभ्युदयकी ओर भी प्रयत्न किया। जैसा कि एक जगह कहा जा चुका है, गंडदेव हिन्दीका महत्त्वशाली कवि भी था। उसका पिता धंगदेव यद्यपि स्वयं तो कवि नहीं था, पर कवि और विद्वानोंका उदार आश्रयदाता था। कीर्तिवर्मन् नाट्यकलाका सूक्ष्म पारखी था। परमर्दिदेव हिन्दीका विख्यात कवि था।[6] चन्देलोंके साम्राज्यमें उनके कर्मचारी और दरबारी तक भी

---

१. ए० ई०, भाग १, पृ० १२३

२. वही, पृ० १३८

३. वही, पृ० १२३

४. वही, पृ० १३८

५. प्रबोध चन्द्रोदय, पृ० १०६

६. यह महादेव शंकरका रूपक काव्य था—ज० ए० सो० बं०, भाग १७, भाग १, पृ० ३१६।

साहित्यिक क्रियाकलापको प्रोत्साहन देते थे। कीर्तिवर्मन्‌का सचिव और योद्धा गोपाल साहित्यके प्रति अपनी लगनसे लोगोंको आकृष्ट किये रहता था।

संस्कृत साहित्य

चन्देल और उनके समकालीन राजपूत शासकोंकी दानशील और उदार प्रवृत्तिके फलस्वरूप मातृभाषाओंकी उन्नतिके साथ-साथ संस्कृतमें विविध विषयोंपर अनेक मौलिक ग्रंथोंकी रचना हुई। इस युगमें जिन विषयोंपर ग्रंथ रचे गये उनमेंसे मुख्य थे अलंकार, काव्यांग, दर्शन, धर्मशास्त्र, न्याय, व्याकरण, ज्यौतिष, आयुर्वेद और संगीत। उस युगके हिन्दुओंकी साहित्यिक प्रतिभाका वास्तविक और सुन्दर दृश्य उपस्थित करनेके लिए यह आवश्यक है कि केवल चन्देलोंके अधीनके ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारतमें रचे गये इस युगके ग्रंथोंका परिचय साधारण रूपसे दे दिया जाय। इसे भूलना नहीं चाहिए कि आज उनमेंसे अनेक ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। उनकी जानकारी केवल पिछले ग्रंथोंमें आए हुए उद्धरणोंसे होती है। इससे भी कठिन काम ग्रंथकारोंके स्थानोंका निर्धारण करना है। जिनके ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं, उन लोगोंके स्थान भी जान लेना बहुधा दुर्घट है। अतएव किसी ग्रंथ विशेषके लिए किस स्थान अथवा किस राजवंशको श्रेय दिया जाय——यह कहना खतरेसे खाली नहीं है। अस्तु, यह और आवश्यक प्रतीत होता है कि उस युगकी पूरी साहित्यिक प्रगतिको प्रस्तुत कर दिया जाय।

धार्मिक साहित्य

विभिन्न सम्प्रदायोंके अनुयायियोंने अपने इष्ट देवताओंकी स्तुतिमें इस युगमें बड़ी संख्यामें पुस्तकें लिखीं। शिवकी उपासनामें सन् ९२६ ई० में उत्पलदेवने स्तोत्रावलि लिखी। उसी सदीमें विष्णुकी उपासनामें वैष्णव-कुल-शेखरने मुकुन्दमाला लिखी। ग्यारहवीं सदीमें रीलासुकने कृष्ण-कर्णामृत लिखा, जो भारतवर्षमें विख्यात हुआ। बारहवीं सदीमें कुछ कवियोंने कृष्णकी स्तुतियाँ लिखी, जो लक्ष्मणसेनके सभासद महाकवि जयदेवके समकालीन थे।

संग्रह

ए० बी० कीथने गीतकार और नीतिकार दोनों प्रकारके कवियोंकी ओर संकेत किया है, जिनके ग्रंथ प्रायः लुप्त हो गये हैं। उनके संबंधमें हमें उन संग्रह-ग्रंथोंसे जानकारी होती है जिनमें उनकी रमणीय पंक्तियोंका जगह-जगह उद्धरण दिया गया है।[1] यद्यपि ये ग्रंथ स्वयं तो बहुत बादके युगके हैं, किन्तु उनमें काफी प्राचीन ग्रंथोंकी उद्धृत पंक्तियाँ सुरक्षित है। श्रीधरदास-द्वारा रचित सदुक्तिकर्णामृत परमर्दिदेवका समकालीन था।

---

१. हिस्ट्री आव् संस्कृत लिटरेचर, पृ० २१९

नीतिगर्भ और उपदेशात्मक साहित्य

जीवन और आदर्शोंके संबंधमें अर्थपूर्ण सूक्तियाँ भारतवर्षकी सर्वदासे साहित्यिक अभिव्यक्ति रही हैं। ऐसे काव्योंका मूल सरलतासे वैदिक साहित्यमें प्राप्त किया जा सकता है, जिसमें आचार संबंधी ऋचाएँ सुरक्षित हैं।[1] इस युगमें कश्मीरी कवि भल्लट और शिल्हणने ऐसे अनेक सूत्रोंकी रचना की। सरल शैलीमें उपदेशात्मक विषयपर भी कश्मीरके कवियोंने काफी अच्छा लिखा। कश्मीरके इन उदीयमान कवियोंने बहुधा अपनी जन्मभूमि छोड़कर बाहर दूसरे देशोंमें राजपूत शासकोंका आश्रय ग्रहण किया।

शुद्ध साहित्य

शुद्ध साहित्य विषयको लेकर हेतु-रहित रचे हुए ग्रंथोंकी यदि खोज की जाय तो पता चलता है कि इस युगमें ऐसे ग्रंथोंका निर्माण अत्यंत कम हुआ। केवल साहित्य विषयसे संबंध रखनेवाले काव्यग्रंथोंका तो और भी अभाव है। इस तृष्णा-की तृप्ति हमें आख्यायिका, नाटक और चम्पू काव्योंसे करनी पड़ती है। पंचतंत्र और तंत्राख्यायिकाओंसे जो निष्कर्ष निकलता है उससे ज्ञात होता है कि उपदेशात्मक आख्यायिकाओंकी रचना सन् ११०० ई० और सन् ११९९ ई० के बीच पश्चिमी भारतमें जैन कवियोंने की। मध्यभारतके प्रसिद्ध लेखक सोमदेवने अपना कथा-सरित्सागर ग्रंथ सन् १०६३ ई० और सन् १०८१ ई० के बीच लिखा। इस युगमें प्रणय-लीला-संबंधी आख्यानकोंकी रचना भी हुई।[2] चम्पू तो इस युगकी ही देन हैं। प्राचीनतम चम्पू काव्य दमयंती कथा अथवा नल-चम्पू है। इसका रचयिता त्रिविक्रम भट्ट था, जो महाराज धंगदेवका समकालीन था।[3] किन्तु साहित्यकी जिस विभूतिने इस युगके प्रतिनिधिके रूपमें हम सबको प्रभावित किया और जिसका समस्त श्रेय चन्देल शासकोंको दिया जाना चाहिए वह कृष्णमिश्र-विरचित प्रबोधचन्द्रोदय नाटक है। यह नाटक कीर्तिवर्मन्के ब्राह्मण सेनानी गोपालके निर्देशपर राजसभामें अभिनीत हुआ, जिसने कर्णपर विजय प्राप्त की थी। उस गौरवशाली विजयके उपलक्षमें अभिनीत होनेवाला यह नाटक प्रत्यक्षतः उस रसका नहीं दीखता, जिसे अवसर-अनुकूल कहा जा सके। परन्तु इसमें आध्यात्मिक बवंडरके बीच बलिष्ठ दार्शनिक मतकी प्रतिष्ठा की गई है। इसकी रचना अदितिनंदन विष्णु और वेदान्त दर्शनकी उपासनामें हुई। इस व्यापक कथानकके सभी पात्र रूपकमें रक्खे गये हैं जिससे इसका[4] प्रयोग लाक्षणिक बन गया

---

१. वही, पृ० २२३
२. वही, पृ० ३२३
३. ई० ए०, भाग ३७, पृ० १४३
४. वही

है। नाटक गम्भीर विजयोल्लासके साथ समाप्त होता है, जिसमें सम्राट 'विवेक' और सम्राज्ञी 'धर्म' जो चिरकाल तक विरोधमें रहे हैं परस्पर पुनः मिलते हैं। इन दोनोंका सम्मिलन विष्णु-भक्तिसे संयुक्त हो जाता है। एम० सिल्वन लेवीने इस पूरे नाटककी रोचक कथा और मनोहर आलोचना प्रस्तुत की है।[1] वास्तव-में पूरे संस्कृत साहित्यके गगन-मंडलमें यह नाटक अपनी विलक्षण आभाके साथ ज्योतिर्मान है और चन्देलोंके युग और शासनकी साहित्यिक विभुताको अमरत्व प्रदान करनेमें अकेला पर्याप्त है।

एम० सिल्वन लेवीने राजशेखरके आधारपर यह उल्लेख किया है कि कालंजरका एक तत्कालीन राजा भीमट पाँच नाटकोंके लेखकके रूपमें सुविख्यात था, जिनमेंसे एकका नाम स्वप्नदशानन था।[2] किसी अन्य साधनसे राजा भीमटकी जानकारी नहीं होती है। किसी चन्देल शासकसे उसका तादात्म्य करना और भी कठिन है। फिर भी इतना सुरक्षित रूपसे कहा जा सकता है कि वह चन्देल राजवंशका ही व्यक्ति होगा---उत्तराधिकारी भले न हो। अनेक ग्रंथोंके लुप्त होने-की बात तो सिद्ध ही है। ये नाटक भी काल-प्रभंजनसे न बच सके।

लघु ऐतिहासिक काव्य

इस युगके कुछ काव्य-ग्रंथ ऐसे मिले हैं, जिनमें अप्रधान रूपसे ऐतिहासिक कथानक भरे हैं। नीतिमान जैन साधु हेमचन्द्रने सन् १०८८ ई० से सन् ११७२ ई० के बीच कुमारपालचरित लिखा। इसका दूसरा भाग आठ अंकोंका है और प्राकृतमें लिखा गया है। ऐतिहासिक महत्त्वके साथ-साथ इसका निश्चित लक्ष्य व्याकरण ही है। दिल्लीके चौहान सम्राट् पृथ्वीराजकी विजयोंका वर्णन पृथ्वीराज-विजयमें है। यह ग्रंथ उसके जीवनकालमें ही लिखा गया। खेद है कि इसके रचयिताका नाम ज्ञात नहीं है। कीर्तिकौमुदी और सुरतोत्सव नामक अर्ध ऐतिहासिककाव्य लवण नामक राजाके मंत्री-द्वारा लिखे गये हैं। रामपालचरित भी इस युगकी एक उत्तम कृति है।

बंगालके लक्ष्मणसेन (सन् ११७५ ई०---सन् १२०० ई०) की राजसभाको अलंकृत करनेवाले महाकवि जयदेव संस्कृतके महान् पंचरत्नोंमेंसे एक हैं। संस्कृत-की काव्य परंपरामें इन्हें अंतिम महाकवि कहा जा सकता है। गीत-गोविन्दमें इन्होंने मौलिक काव्यकलाको पूर्णताकी उस सिद्धितक पहुँचाया,[3] जहाँसे युग और युगेतर साहित्य भी प्रभावित हुआ।

---

१. लेथियेटरे इण्डियन, पेरिस, १८८९०, पृ० २२९–३५

२. ई० ए०, भाग ३७, पृ० १४३

३. हिस्ट्री आव् संस्कृत लिटरेचर, पृ० १९३

चन्देलोंके दान-पत्रों और अभिलेखोंमें जो पंक्तियाँ वर्तमान हैं वे सभी रमणीय काव्य हैं। उनमेंसे कुछ तो अत्यंत ही मनोहर साहित्यके उदाहरण हैं। यदि भाषाके प्रवाह, शैलीकी रोचकता और अभिव्यंजनाके वैचित्र्यकी दृष्टिसे मूल्यांकन किया जाय तो खजुराहोके लक्ष्मणजीके मंदिरसे प्राप्त होनवाले सन् १०११ ई० के यशोवर्मन्के पत्थर अभिलेखकी पंक्तियाँ चन्देल अभिलेखोंमें सुन्दरतम कविताके नमूनेके रूपमें प्राप्त होती हैं। इन अभिलेखोंकी रचना राजसभाके सर्वश्रेष्ठ कवियों-द्वारा हुई। उक्त लेखकी रचना तो माधव कवि-द्वारा हुई। धंगदेवके राजकवि रामने धंग-पत्थर-अभिलेखकी रचना की। इन उदाहरणोंसे ज्ञात होता है कि संस्कृतके कुशल कवि प्रायः प्रत्येक चन्देल शासककी राजसभामें वर्त्तमान थे।

धर्मशास्त्र संबंधी-कृतियाँ

सन् ८०० ई० और सन् १२०० ई० के बीचके युगमें हिन्दू न्याय-पद्धति तथा विधानपर भी पुस्तकें लिखी गईं। यह स्मरण रखना चाहिए कि यह धर्म-शास्त्रोंके भाष्य और निबन्ध-लेखनका युग था। लेखक किन्हीं ग्रंथ विशेषके भाष्य करनेका काम करते थे। वे सरलीकरणकी पद्धतिका अनुगमन करते थे और विरोधी मतोंकी व्याख्या करते हुए अस्तव्यस्त और संकीर्ण स्मृतियोंकी रचना-द्वारा व्यवस्था देना चाहते थे।[1] वास्तवमें निबंध और टीकाके बीच कोई स्पष्ट सीमारेखा नहीं खींची जा सकती। पी० वी० काणेके अनुसार कुछ ऐसे भाष्यकारों तथा निबंधकारों और उनके ग्रंथोंका परिचय नीचे दिया जा रहा है, जिन्होंने धर्मशास्त्रोंकी प्रायः सभी शाखाओंपर लिखा है और जो इस युगके सुप्रसिद्ध लेखक थे। इनके भाष्योंने शाश्वत साहित्यका स्थान प्राप्त कर लिया है।

(१) विश्वरूप बालकृष्ण ... याज्ञवल्क्य स्मृतिपर।
(२) मेधातिथि ... मनुस्मृति पर।
(३) धारेश्वर भोजदेव
(४) देवस्वामिन् ... निबंध-रूपमें एक ग्रंथ।
(५) योगलोक ... व्यवहार और कालपर।
(६) भुवदेव भट्ट ... व्यवहार तिलककी रचना।
(७) पाविजात ... दानके ऊपर एक ग्रंथ।
(८) गोविन्दराज ... स्मृति-मंजरी[2] ग्रंथकी रचना।

इसके अतिरिक्त अन्य अनेक व्यावहारिक विषयोंपर भी ग्रंथ लिखे गये, जैसे ऋण-प्रत्युद्धार, निक्षेप, विक्रय, सहकारिता, दान-प्रत्याख्यान, वेतन-अदान, क्रय-विक्रय-प्रत्याख्यान, स्वामी-भृत्य-विवाद, उत्तराधिकार और विभाजन।

---

१. हिस्ट्री आव् धर्मशास्त्राज, पी० वी० कण, भाग २, पृ० २४७।
२. वहीं, पृ० २७६।

विज्ञान-साहित्य

शब्दकोश

भारतवर्षमें विज्ञान, शास्त्र अथवा विद्या, सभी धर्मके अंतरंग विनिमयके साथ-साथ विकसित हुए हैं। इसलिए धार्मिक साहित्यके अभ्युदयके साथ ही शुद्ध धर्म-निरपेक्ष और वैज्ञानिक साहित्यकी भी उन्नति हुई। इस युगमें क्षीरस्वामी (११वीं सदी) जैसे कई एक भाष्यकार हुए। इसी युगमें अमरकोशकी रचना हुई। अन्य कोश अवश्य ही बादके हैं।[1] बारहवीं सदीमें इसकी और प्रचुरता हुई। छन्द और काव्यांगोंपर इस युगमें बहुतसे निबंध लिखे गये।

आयुर्वेद

चिकित्सा-विज्ञानके ऊपर भी इस समय अनेक आलोचनात्मक और मौलिक ग्रंथ रचे गये जिनमें सर्वोत्तम महत्त्वका ग्रंथ रसार्णव है। रसायन-शास्त्रपर एक उत्तम ग्रंथ सर्वदर्शन संग्रह इसी समय का है।

ज्योतिःशास्त्र

इस युगमें खगोल-विद्याके लेखक और अधिक महत्त्वके हैं। भोज सतानन्द और भास्कराचार्य जैसे जगद्विख्यात लेखक इसी युगमें हुए।[2] यह महा खेदका विषय है कि भास्करके साथ ही इस देशमें गणित-लेखकोंकी परंपरा समाप्त हो गई। उनके सिद्धान्तोंके अध्ययनके लिए सन् १२०५ ई० में उनके पौत्र चंगदेवने एक शाखाकी स्थापना की।

ललित कला

महाराज भोजदेव-द्वारा विरचित समरांगण-सूत्रधार अपने विषयका अद्वितीय ग्रंथ है। स्थापत्य, नगर-निर्माण, यंत्र-विज्ञान तथा विलक्षण यंत्रोंकी रचनाके संबंधमें जो परिपूर्ण विज्ञान इस ग्रंथमें प्राप्त होता है, वह उस शताब्दीकी महत्ताको कल्पनातीत आगे बढ़ानेमें समर्थ है।

यह विस्मरण नहीं किया जा सकता कि कामशास्त्र-पर भी इस समय बहुत ही उच्च कोटिके ग्रंथ लिखे गये और उनमेंसे कुछ तो अत्यंत लोकप्रिय हो गये। संगीतका अध्ययन भी गहराई तक किया गया। नृत्यका विशेष विकास हुआ। कश्मीरके राजा हर्षने अपनी संगीत-संबंधी रचनाओंके लिए बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी और वह संगीतका आश्रयदाता भी था।

इस अध्यायमें जो बातें संक्षेपमें रखी गई हैं, वे इस तथ्यका उद्घाटन करनेके लिए पर्याप्त हैं कि हिन्दू प्रज्ञाने अपनी सूक्ष्म-दर्शिता और बौद्धिक प्रतिभाकी

---

१. हि० सं० लि०, पृ० ४१४

२. वही, पृ० ५२३

ख्यातिको तब भी श्रीहत नहीं होने दिया था। काव्य-प्रकाश, प्रबोधचन्द्रोदय, सिद्धान्त-शिरोमणि, नैषध महाकाव्य तथा विश्वका ललितमय गेय काव्य गीत-गोविन्द इसके अप्रतिम साक्षी हैं। सचमुच भोज, मम्मट, भास्कर, रामानुज, कृष्णमिश्र, जयदेव और श्रीहर्ष तथा कुछ अन्य वरेण्य लेखकोंकी आकाशगंगाने भारतवर्षके मध्यकालीन निष्प्रभ इतिहासको भी पर्याप्त ज्योतिर्मान बना दिया है।[१] इस सांस्कृतिक संक्रमणके युगमें चन्देलों-द्वारा अभिनीत आख्यान तुलनामें अत्यंत महत्त्वपूर्ण था। उन्हींके यशको प्रकीर्ण करता हुआ प्रबोधचन्द्रोदय राजपूत भारतके साहित्य-संग्रहालयमें आज भी गौरवसे देदीप्यमान है।

---

१. हिस्ट्री आव् मेडिवल हिन्दू इण्डिया, भाग ३, पृ० ४७८

अध्याय १४

कला—१

चन्देलोंके शासनकालमें गृह-निर्माणकी परम्परा एक सजीव कला थी। आध्यात्मिक और बौद्धिक अधःपतन अथवा अनवरत स्थानीय युद्ध, कोई भी निर्माताओंकी रचनात्मक क्रियाओंको श्रीहत न कर सके। इसके विपरीत दिन-प्रति-दिनके आक्रमण और प्रत्याक्रमणोंके कारण उन्हें नगरों, ग्रामों और सैनिक शिविरोंकी रक्षाके लिए बाध्य होकर व्यूह और दुर्गोंका निर्माण करना पड़ा। मठों आदि जैसी संस्थाओंकी सीमा-रहित वृद्धि तथा पुरोहितों-द्वारा नवीन विश्वासोंको बद्धमूल बनानेके सतत उपक्रम-ने धार्मिक स्थानोंके निर्माणको बड़ी प्रगति प्रदान की।

वास्तुकी परम्परा

उधर इस देशकी परम्परामें वास्तुका विकास एक बृहद् विज्ञानके रूपमें होता गया। यांत्रिक परिसीमाओंके अतिरिक्त रचनाशैली, भेद, वास्तु-स्थापन, विन्यास और वास्तु फलाफलकी जितनी छानबीन और जितना सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन इस देशमें हुआ, उतना अन्यत्र नहीं। वास्तु-निर्माताओंके आध्यात्मिक एवं लौकिक ज्ञानकी पहुँच असामान्य थी। यों तो इस शास्त्रको अनेक ग्रंथोंने समय-समयपर निबद्ध किया है किन्तु जिन ग्रंथोंने यहाँकी परम्परा सरणीको निरन्तर प्रवाहित किया है, उनमें उल्लेखनीय नाम वराहमिहिरकी बृहत्संहिता, विश्वकर्मा रचित विश्वकर्म-प्रकाश, तथा विश्वकर्मीय शिल्पशास्त्र, मयदानव रचित मय-शिल्प तथा मयमत, काश्यप और भारद्वाज-रचित वास्तुतत्त्व तथा वैखानस और सनत्कुमार-रचित वास्तु-शास्त्र आदि हैं। चन्देल-वास्तुका शास्त्रीय अध्ययन इस बातका रहस्य प्रकट करता है कि वास्तुकी समस्त सिद्धान्त-पद्धति उस समय न केवल मान्य थी वरन् व्यवहृत भी होती रही।

विन्यास

वास्तु वासस्थानकी संज्ञा है। इसमें सभी प्रकारके वासस्थान—भवन, देवालय, राजप्रासाद और दुर्गादि परिगणित होते हैं। इन सभी वास्तुओंमें निर्माण और उनमें वासके पूर्व शास्त्रीय लक्षणोंके आधारपर उनके शुभाशुभका फल-निर्णय करना पड़ता है क्योंकि स्वामीके सौख्य और समृद्धिका बहुत कुछ संबंध वास्तुके लक्षणादिसे है। बृहत्संहितामें विश्वके सभी वास्तुओंको पाँच भागोंमें विभाजित किया गया है। ये पाँचों उत्तमताके क्रमसे स्थापित किये गये हैं। सर्वप्रथम स्थान राज-प्रासादका है। क्षेत्रफलके अनुसार यह भी पाँच प्रकारका होता है। जिस प्रासादकी

लम्बाई १३५ हाथ, चौड़ाई १०८ हाथ हो वही उत्तम माना जाता है। शेष चार प्रकारके प्रासादोंका मान क्रमशः ८ हाथ कम होता जायेगा। सेनापतिके गृहकी भी ऐसी ही पाँच कोटियाँ हैं। उत्तम सेनापति निवासका भाग ६४ हाथ और ७४ हाथ १६ अंगुलि निर्धारित किया गया है।[1] आमात्य वासस्थानोंके भी पाँच भेद रक्खे गये हैं। वैसे हो मानदण्डके अनुसार राजमहिषियों और युवराजोंके भी वास-गृहोंके प्रभेद हैं। सामन्त और उच्च राजपुरुषोंके गृहोंके भी परिमाण निर्धारित हैं, यहाँ-तक कि देवता, पुरोहित, चिकित्सक, कंचुकी, वेश्या और नृत्य-गीतके गृह भी निर्धारित परिमाणके बनाये जाते थे।

सामाजिक संगठनमें विभिन्न वर्णोंके वासस्थानोंका भी वर्णन वराहमिहिरने किया है।[2] श्रेष्ठताकी दृष्टिसे इनमेंसे प्रत्येककी कोटियाँ है। ब्राह्मणादि वर्णों और अंत्यजोंके वासगृहोंका पृथुत्व व्यास अलग-अलग निम्नरूपसे माना गया है:—

वर्ण		उत्तम	मध्योत्तम	मध्यम	अधम	अधमाधम
ब्राह्मण	...	३२	२८	२४	२०	१६
क्षत्रिय	...	२८	२४	२०	१६	०
वैश्य	...	२४	२०	१६	०	०
शूद्र	...	२०	१६	०	०	०
अन्त्यज	...	१६	०	०	०	०

यह प्रकट करता है कि ब्राह्मण इस प्रकारके पृथुत्व-व्यास-वाले पाँच गृहोंके, क्षत्रिय चारके, वैश्य तीनके, शूद्र दोके और अंत्यज एक प्रकारके गृहके अधिकारी माने गये थे। इसी प्रकारके न जाने कितने ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद-प्रभेद वास्तु स्थानोंके किये गये थे।

वास्तु रचना

गृह बनाते समय वीथिका छोड़नेकी पद्धति भी थी। यह भूमि यदि गृहके पूर्वकी ओर छोड़ी जाय तो इसे 'सोष्णीष', पश्चिमकी ओर तो 'साश्रय', उत्तर व दक्षिण की ओर छोड़ी जानेपर 'सावष्टम्भ' कहा जाता है। यदि यह वीथिका वास्तु-भवनके चारों ओर छोड़ी जाय तो उसे 'सुस्थित' कहा जाता है। ऐसी विधिसे बने वास्तु शुभप्रद माने जाते हैं। वास्तु-शास्त्रोंमें गृहोंके ही परिणामसे उनके द्वारोंके निर्धारणका सिद्धान्त बतलाया गया है। उदाहरणके लिए—राजा और सेनापतिके गृहोंका जो व्यास हो उसमें ७० जोड़कर ११से भाग दें। भागफल जो होगा उसके प्रधान द्वारका विस्तार उतना ही होगा। ब्राह्मणादि वर्णोंके गृह-व्यासके पंचमांशमें

---

१. हिन्दी विश्वकोष—भाग २१, पृ० २३७

२. वही

१२ अंगुल जोड़ देनेसे जो होगा वही उनके गृह-द्वारका परिमाण है। द्वार-परिमाण-का अष्टमांश द्वारका विष्कम्भ और विष्कम्भसे दूनी द्वारकी ऊँचाई होनी चाहिए।

गृहमें प्रयुक्त होनेवाले स्तम्भोंका भी परिमाण और फलाफल निर्धारित किया गया है। भिन्न-भिन्न प्रकारके स्तम्भोंका अलग-अलग नाम है। चारकोना स्तम्भको 'रूपक', अठकोना होनेपर 'वज्र', सोलह कोना होनेपर 'द्विवज्र', बत्तीस कोना होने-पर 'प्रलीनक' तथा वृत्तकार होनेपर'वृत्त' कहते हैं। ये ही सब स्तम्भ शुभ-फलदायक माने जाते हैं। जिस वास्तुके चारों ओर द्वार होते हैं उसे 'सर्वतोभद्र' वास्तु कहते हैं। ऐसे निवास राजाओं, राजाश्रितों और देवताओंके लिए कल्याणकारी माने गये हैं।

वास्तुका आध्यात्मिक पृष्ठ

इन वास्तुगृहोंका निर्माण इस प्रकार शास्त्रीय आधारपर आध्यात्मिक वृत्तियों-का प्रेरक माना गया है क्योंकि उनमें देवताओंका निवास होने लगता है। दो प्रकारके वास्तुमण्डलोंमें एक एकाशीतिपद है और दूसरा चतुःषष्ठिपद। एकाशीति-पद वास्तुमण्डलमें ४५ देवता वास करते हैं। ईशान कोणमें क्रमसे शिखा, पर्जन्य, जयंत, इन्द्र, सूर्य, सत्य, भृश और अंतरिक्ष आदि देवता रहते हैं। अग्निकोणमें क्रमसे पूषा, पितथ, वृहत्क्षत, यम, गन्धर्व, मृगराज और मृग अवस्थित हैं। नैर्ऋत्य कोणमें यथाक्रम पिता, दौवारिक, कुसुमदत्त, वरुण, असुर, शोष और राजयक्ष्मा निवास करते हैं। वायुकोणमें नत, अनन्त, वासुकि, भल्लाट, सोम, भुजंग, अदिति और दिति आदि देवता विराजमान रहते हैं। मध्यमें ब्रह्मादि विराजमान रहते हैं। उन्हींके समीप अयमा, सविता, विवस्वान्, इन्द्र, मित्र, राजयक्ष्मा, शोष तथा आप-वत्स आदि देवगण प्रदक्षिणामें प्रतिष्ठित होते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसा वास्तु पुरुष स्वयं देवगणके निवासका स्थल है। उसके मस्तकसे चरण तक—प्रत्येक अंग-पर देवगण निवास करते हैं। इसी प्रकार चतुःषष्ठिपद वास्तुमण्डलमें सुरगण अव-स्थित रहते हैं।

गृहस्वामी-द्वारा वास्तु-निर्माणके समय गृहके भीतर शास्त्रद्वारा निर्दिष्ट विविध देव-स्थलोंकी उचित व्यवस्था की जानी चाहिए। ये मर्मस्थान यदि अपवित्र हो जाय तो वास्तुस्वामीको स्वयं दैहिक और मानसिक कष्ट होता है। वास्तुगृहका स्थान-शोधन भी शास्त्रोंमें महत्त्वकी क्रिया बतलाई गई है। वह स्थान पहले शोध लेना चाहिए। वहाँ भीतर यदि किसी प्रकारकी अस्थि मिली तो अशुभ और चिरंतन कष्टका सूचक है। स्वर्ण अथवा रजतके अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ भी वहाँ मिला तो उसे प्रतिकूल फलदायक बतलाया गया है। इसी प्रकार वास्तुकी छज्जा आदिकी सामग्रियोंके परिमाण, भेद और प्रकारोंका निर्धारण किया गया है।

प्राचीन मान्यताके अनुसार वास्तु भी नर-रूपक है—एक अवयव-युक्त सजीव प्राणी जैसा। इसी पृष्ठभूमिसे वास्तुके आध्यात्मिक पक्षका अस्तित्व आरम्भ होता है।

जैसे नरका कोई अंग हीन हो तो वह विकलांग, अशुभ और अपूर्ण होता है,। उसी प्रकार वास्तुनर भी किसी भागमें अंगहीन होनेपर अनेक दुःखोंका कारण माना गया है। दक्षिण हस्त-हीन होनेपर अर्थ-क्षय, वाम हस्त-हीन होनेपर धान्य-हानि, मस्तक-हीन होनेपर सभी सद्‌गुणोंका नाश तथा चरणहीन होनेपर स्त्री-दोष, सुतनाश और प्रेष्यता हुआ करती है।[1] यदि वास्तुनरका सर्वांग अविकल रहे तो दैहिक, दैविक, भौतिक सभी प्रकारके सुख प्राप्त होते हैं। गृह-वास्तुमें और ग्रामोंमें सब स्थानोंपर इसी प्रकार देवगणोंकी प्रतिष्ठाके माध्यमसे अध्यात्मका सन्निवेश किया गया है।

वासस्थानोंमें द्वार बनानेका वैज्ञानिक निरूपण भी विस्तृत रूपसे किया गया है। धार्मिक स्तरपर उनके परिणामोंका उल्लेख भी प्राप्त होता है। गृही इस प्रकार द्वार बनाते समय इन निर्देशोंको ही ध्यानमें रखता था। कहाँ द्वार बनवानेसे गृहीके जीवनपर क्या फल घटता है उसे स्पष्ट रूपसे बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त इस विषयमें भी अधिक छानबीन की गई है कि द्वारकी कौन-सी रचना विहित है। द्वारकी लम्बाईसे दूनी भूमि छोड़कर यदि द्वार बनाया जाय तो कोई दोष नहीं लगता। किन्तु रथ्याविद्ध द्वार नाशका कारण होता है। वृक्षविद्धद्वारसे कुमार-दोष लगता है। पंक-निर्मित द्वारसे शोक, जलस्रावी द्वारसे व्यय, कूपविद्ध द्वारसे रोग, देवविद्ध द्वारसे विनाश, स्तम्भविद्ध द्वारसे स्त्री-दोष एवं ब्रह्मविमुख द्वारसे कुलनाश होता है। ऐसे ही नियमानुकूल परिमाण न होनेपर भी अनेक उपद्रवोंका जन्म होता है। मंगलमय द्वारको न तो स्वयं बन्द होना चाहिए, न स्वयं खुलना चाहिए। उसको न तो अपरिमित होना चाहिए न अति पीड़ित, न बाह्यविनत होना चाहिए न अन्तर्विनत।

उपवन वास्तुके अंग

वाटिका और उपवन भी भारतीय जीवनके अभिन्न शृंगार माने गये हैं। ये न केवल उनके सौन्दर्य-प्रेमके द्योतक थे बल्कि वास्तु-अलंकारके अनिवार्य उपादान माने गये थे। अतः वास्तु-गृहके समीप वृक्ष, लता, वितानके रोपणके व्यापक सिद्धान्त स्थापित किये गये हैं। आज भी जो भग्नावशेष अथवा प्राचीन वास्तु-अवशेष उपलब्ध हैं उनकी स्थिति इस रहस्यका उद्‌घाटन करती है। उपवनोंकी रचना गृहीके सौख्य, संपदा और जीवन-कल्याणसे संबद्ध है, इसलिए प्राचीनोंने वास्तु-शास्त्रमें इसके फलाफलपर विस्तृत विचार किया है। प्रदक्षिण-क्रमसे वास्तुके दक्षिणादि दिशाओंमें पर्कटी, गूलर, पीपल और वटके यदि वृक्ष हों तो उनसे अशुभ फलोंके कारण उत्पन्न होते हैं। वे ही यदि उत्तरादि क्रमसे रहें तो कल्याणकारी होते हैं। गृहके समीप कंटक वृक्ष, क्षीरी तथा फली वृक्ष क्रमसे शत्रुभय, अर्थक्षय,

---

१. वही।

और प्रजानाशके कारण बनते हैं। वास्तु रचनामें इन वृक्षोंकी लकड़ियोंका प्रयोग भी वर्जित है।

वास्तु-गृहोंके लिए यह आवश्यक माना गया था कि उनके निकट निम्नभूमि अर्थात् गड्ढे आदि न हों; यदि हों भी तो किसी विशेष दिशामें उनका रहना अमंगलमय समझा जाता था। प्रदक्षिण क्रमसे यदि उत्तरमें निम्न भूमि है तो ब्राह्मणके लिए प्रशस्त मानी जाती थी। उसी प्रकार पूर्व-निम्न-भूमि क्षत्रियके लिए, दक्षिण निम्न वैश्यके लिए और पश्चिम निम्नभूमि शूद्रके लिए श्रेयष्कर है। सब विधियोंसे यदि वास्तु सुभग और रुचिकर बन गया तो निवासके पूर्व उसका वैज्ञानिक परीक्षण होता है। परीक्षणकी अनेक विधियाँ निर्धारित की गई हैं। कोई दोष प्रकट होने-पर उसके निराकरणकी भी व्यवस्था शास्त्रोंमें बतलाई गई है।

किसी पूर्व निर्मित वास्तुमें यदि बढ़ाना हो तो उसकी एक मर्यादा निर्धारित की गई थी। केवल किसी एक दिशामें बढ़ाना उचित नहीं। वास्तुको पूर्वकी ओर बढ़ानेसे मित्र वैर, दक्षिणकी ओर बढ़ानेसे मृत्यु-भय, पश्चिममें अर्थनाश तथा अग्नि-कोणमें बढ़ानेसे मनस्ताप होता है।

वास्तु प्रवेश

जिस प्रकार वास्तुमण्डलकी रचनामें मांगलिक नियमोंका विधान किया गया है, उसी प्रकार गृह-प्रवेशका भी विधान है। प्रवेशके समय "वास्तुको भाँति-भाँतिके पुष्पोंसे अलंकृत किया जाय, वन्दनवारें लगाई जाँय, जलपूर्ण कलशोंसे शोभित किया जाय, धूप, गंध और बलि-द्वारा देवताओंकी पूजाकी जाय तथा ब्राह्मणों-द्वारा मंगलोच्चार कराते हुए प्रवेश किया जाय।"[1] गरुड़पुराणमें[2] भी इसका विधान किया गया है। गृहारम्भके पहले वास्तु-मण्डलकी पूजा करनी होती है। इससे गृहमें कोई विघ्न-बाधा नहीं होती। "यदि वास्तु एकाशीतिपद है तो उस मण्डलके ईशान कोणमें वास्तुदेवका मस्तक, नैर्ऋत्यमें पादद्वय तथा वायु और अग्निकोणमें हस्तद्वयकी कल्पना कर वास्तुकी पूजा करे। आवास-गृह, वासभवन, पुर, ग्राम, वाणिज्य-स्थान, उपवन, दुर्ग, देवालय तथा मठके आरम्भकालमें वास्तु याग और वास्तु पूजा आवश्यक है।"

दुर्गके निर्माणमें भी गृहादिकी भाँति ही एकाशीतिपद वास्तु-मण्डल करना होगा। दोनोंकी शास्त्रीय विधियोंमें थोड़ा ही अंतर माना गया है। तात्पर्य यह है कि इस देशमें वास्तुकी जो व्यापक उन्नति हुई थी उसका आधार एक विस्तृत परम्परा थी। वास्तुकी प्रत्येक श्रेणीके लिए गणित और विज्ञानके द्वारा परिशोधित योजना शास्त्रबद्ध हो चुकी थी। शासक और शासकेतर सभीमें उसकी मान्यता प्रतिष्ठित थी। चन्देल कलाओंमें वास्तुकी एक विशिष्ट परम्परा विकसित हुई है।

---

१. बृहत् संहिता, अ० ५३।

२. गरुड़ पुराण, अ० ४६।

उत्तरी भारतमें जैसे-जैसे नवीन वंशोंके साम्राज्य स्थापित हुए, नवीन व्यवस्थाएँ सामने आईं, वैसे-वैसे स्थापत्यके वैभवके साथ एक नगरके उपरान्त दूसरे नगर बनते चले गये। नवीं और दसवीं सदीतक यह प्रभाव और भी भव्य होता गया। यह बड़े महत्त्वकी बात है कि इन सार्वजनिक और धार्मिक भवनोंके सामूहिक विनाशका ताँता यद्यपि शताब्दियोंतक नहीं टूटा, फिर भी तत्कालीन विशाल भवनोंके जो भी अवशेष अथवा भग्नावशेष आज उपलब्ध हैं, वे किसी भी शताब्दीकी शिल्पकारीकी ख्यातिका उत्तर देनेके लिए पर्याप्त हैं।

हिन्दुओं का कला संबंधी आदर्श

भारतीय कलाकारका वास्तविक उद्देश्य केवल प्रकृतिसे सौंदर्य संचय करना नहीं है बल्कि जीवनसे जीवन, असामान्यसे सामान्य, अयथार्थसे यथार्थ और प्रकृतिसे पुरुषके रहस्यको प्रकट करना है। जब इसका रहस्य मिल जाय तब सौंदर्यकी प्राप्ति स्वयं हो जाती है। इस प्रकार सभी प्रकृति सौंदर्यपूर्ण है, यदि हम लोग उसमें अवस्थित केवल दिव्य शक्तिकी अनुभूति प्राप्त कर लें। अतः, जैसा कि महर्षि शुक्राचार्यने कहा है, देवताओंकी मूर्तियोंकी सृष्टि करते समय शिल्पीको केवल आध्यात्मिक दृष्टिको ही आधार बनाना चाहिए, मानवेन्द्रियों-द्वारा गम्य होनेवाले तत्त्वोंको नहीं। सभी भारतीय कलाओंमें यही मौलिक तथ्य प्राप्त होता है कि सौंदर्यका सहज संबंध आत्मासे है, उपादानोंसे नहीं।

भारतीय कलाकार अपने चित्र अथवा कृतिको सभी प्रकारके अत्यंत पूर्ण चराचर जीवोंसे आच्छादन कर चित्रपटको समष्टिका रूप प्रदान करता है। चित्रपटमें एकान्तिकता नहीं रहती। वहाँ तो भावनाओं और कल्पनाओंकी संकुलता सामुदायिक पृष्ठभूमि बनाती है। किन्तु पश्चिमी कलाकारका आग्रह अलंकारकी ओर नहीं होता। वह चित्रमें सादगीकी भूमिका रखता है। उसकी कृतिमें सामुदायिक परिस्थिति नहीं रहती। वह मनुष्यकी एकात्मक सत्ताका प्रभुत्व प्रतिष्ठित करता है। भारतीय कलामें यही सार्वभौम सत्ताका प्रतीक है। यह अखिल सृष्टिकी एकताका द्योतन करता है। इसी भावनासे प्रेरित होकर भारतीय मूर्तिकार अपनी आलंकारिक भावनाको प्रचुरतासे सघन और सघन बनाता जाता है। पवित्र आस्तिकता और 'भक्तिके आत्म-समर्पण' की अभिव्यंजनामें भारतीय कलाने जिस सर्वांगीण सरलता और अवक्रताका अवलम्बन किया है, उसकी अविजित श्रेष्ठता सर्वदा बनी रहेगी।

भारतीय कलाकार—चाहे वह मूर्तिकार हो, शिल्पी हो अथवा चित्रकार हो—एक आध्यात्मिक साधक है। उसकी सृष्टि अहैतुक साधना है। शुचिताके इस सोपानपर पहुँचे बिना, वह अपनी कृतिके उस अमूर्त आध्यात्मिक पक्षको मनोगत नहीं कर सकता, जहाँसे उसकी रचनाके सहज स्रोत्का उद्गम है। अस्तु, जब रचना-वस्तुका भावनात्मक ग्रहण साधना-द्वारा हो जाता है तभी वह कृतिकी रचनाका अधिकारी होता है। किसी कलाकारकी असफलताका कारण ही महाकवि कालिदासने

साधनाकी कमी (शिथिल समाधि) बतलाया है।[1] मूर्तिकी रचनामें वास्तविक कलाकी सार्थक पहुँच तभी मानी जाती है, जब शिल्पीको यौगिक-क्रियाके अभ्युदय-के लिए प्रेरणा मिल सके। शुक्रनीतिने कलाके इस पक्षका विश्लेषण करते हुए बतलाया है कि "कृतिकी सार्थकता इसमें है कि उसके कृतिकारको साधना और योगमें कितनी प्रेरणा मिलती है। अतः मूर्तिकारको साधक और उपासक होना चाहिए। इसके बिना मूर्तिके गुण-शीलकी अनुभूति प्राप्त करनेका अन्य कोई साधन नहीं है—प्रत्यक्ष निरीक्षण भी नहीं।"[2]

भारतीय कलाकारने शिल्प और साहित्यकी मर्यादा-सीमाओंको सर्वदा विभेद करके देखा है। यद्यपि दोनोंका स्रोत जीवन है, किन्तु साहित्यका माध्यम 'विशिष्ट' ही बनता है। इसकी वस्तु समाजके विशेष चरित्र और जीवनकी विशेष घटनाएँ बनती हैं। असामान्यसे उद्भूत होनेके कारण ही साहित्य सामान्यके लिए हो जाता है। इसीलिए साहित्य में सामान्यकी सत्ता विलीन होती रहती है—जीवनकी समग्रता केवल ध्वनित होकर रह जाती है। किन्तु एक ही रूपमें 'विशिष्ट' और 'सामान्य' दोनों शिल्पी और कलाकारके माध्यम बनते हैं। सामान्यकी सत्ता भी यहाँ अक्षुण्ण है। सामान्यका अधिकाधिक समादर भारतीय कलाकी उत्कृष्टताकी कसौटी है। कलाकी अनुभूति जीवनकी समग्रता और स्थितिकी सर्वाङ्गीण विविधतासे बल ग्रहण करती है। इसी-लिए भारतीय स्थापत्य, वास्तु, मूर्ति और अन्य शिल्पोंमें रचनाकी परिस्थितिका चित्रण भी उसी आस्थासे किया जाता है। गहन अलंकार, दृश्यकी विविधता और प्रचुर मात्रामें सामाजिक पृष्ठभूमिका आलेख इसी आदर्शका परिणाम है।

स्थापत्य के विविधरूप

इस युगमें इतने व्यापक रूपसे जो रचना और निर्माणके कार्य हुए, वे मठों और मंदिरोंतक ही सीमित नहीं थे। चंद्रगुप्त मौर्यके समयसे ही भारतवर्ष सर्वदा मनोहर पुलोंसे सुसज्जित बड़ी-बड़ी सड़कों तथा राजपथों के लिए विख्यात रहा है। उनके दोनों ओर जगह-जगह यात्रियोंके लिए विश्राम-स्थल बने थे। सिंचाई और स्नान-के बृहत्काय जलाशय, जिनकी ईंट-पत्थरकी बनी सुन्दरताने अलबरूनी आदि प्रारम्भिक मुसलमान यात्रियोंको आश्चर्यचकित कर दिया था, इस युगमें जालकी भाँति अगणित संख्यामें बने। चन्देल शासकोंने अनेक पर्वतीय और मैदानी दुर्ग भी बनवाये जो उनके स्थापत्य और यांत्रिक उत्थानकी गरिमा प्रकट करते हैं। इन लौकिक प्रयोजनोंकी कृतियोंके अतिरिक्त आध्यात्मिक परिचर्याके स्थल देवालयोंके निर्माणने तो इस युगको अद्वितीय बना दिया।

इस देशमें कभी भी धार्मिक और लौकिक स्थापत्य शिल्पमें अन्तर नहीं माना गया था। केवल मंदिरोंकी निर्माण-कलाका अध्ययन शेष सभीके संबंधका रहस्य

---

१. माल०, २, २।

२. शुक्र०—अ० ४, भाग ४ श्लो० १४७—१५०।

प्रकट करता है। अन्य सभी निर्माण कार्य भी इस देशमें मंदिर-स्थापत्यके अंग ही माने जाते थे। आगे स्थापत्यके अन्य अंगोंका सामान्य तथा मंदिरोंका विस्तृत अध्ययन किया जायगा।

जलाशय

जिस कार्यमें चन्देलोंने अपनी अतुल धनराशि लगाई, वह था जलाशयों और सरोवरोंका निर्माण। ऐसे विभिन्न क्षेत्रफलोंके सरोवर सारे बुन्देलखंडमें वर्तमान हैं। अधिकतर चन्देल शासकोंने अधिकाधिक संख्यामें जलाशयोंकी रचना कराई। उनकी इन कृतियोंमेंसे अनेक आज भी उनका गौरव अमर करनेके लिए उपलब्ध हैं। उनके भग्न रूपसे भी उनकी उत्कृष्ट कलाका परिचय मिलता है। जैसा कि प्रथम अध्यायमें बतलाया गया है, यहाँ भूमिकी सहज बनावट ऐसी है कि अल्प प्रयाससे उत्तमोत्तम और बड़े-से-बड़े तालाब बना लिए जा सकते थे। जहाँ कहीं नीची भूमि है, दो पर्वतोंके बीचकी दरी अथवा मैदान हैं या नदी-नालोंके छोड़न हैं उनहीं स्थलोंको जलाशयोंकी रचनाके लिए चुना गया। कहीं-कहीं तो ऐसे दो टगरोंके बीच प्रशस्त बाँध बाँधकर रचना कर ली गई है, जहाँ वर्षाका जल एकत्र कर लिया जाता था। दो पहाड़ियोंके मध्यवर्ती नालोंको बंद कर भी चित्ताकर्षक तालाबोंकी रचना कर ली गई है।

इन जलाशयोंकी रचनाकी विशेषता यह है कि ये जैसे ही विशाल है वैसे ही मजबूत। उनके तटोंपर चतुर्दिक् स्नानार्थ मनोहर घाट बने हैं और पूजनके निमित्त देवालयोंकी रचना की गई है। उनका सामूहिक दृश्य बड़ा प्रभावकारी होता है। इस वंशके सातवें शासक राहिलने महोबासे दो मील दक्षिणकी ओर एक जलाशय बनवाया, जो राहिल सागरके नामसे विख्यात है। इसके तटपर उसीका बनवाया हुआ एक सुन्दर मंदिर भी वर्तमान है जो कुछ क्षत हो गया है। वंशका नवाँ शासक मदनवर्मा, महोबामें महाकाय मदनसागर बनवानेके कारण आज भी अमर हो गया है। वहाँकी तीन जैन मूर्तियाँ भी उसीकी बनवाई हुई हैं। सागरके बीच स्थित द्वीप और आल्हा-ऊदलकी बैठक, जो प्रायः भग्न हो गई है, आज भी समुन्नत कलाका दिग्दर्शन कराती है। इससे उस युगके विभवका परिचय भी प्राप्त होता है। मदनवर्माने जलाशयकी रचनाके कारण जिस लोकप्रियताका संग्रह किया वह अन्योंको दुर्लभ रहा। उसी के युगका बना अजयगढ़का सुविशाल पोखरा, कृत्रिम झील तथा कालंजरका रमणीय जलाशय सभी बड़े महत्त्वके हैं। इन जलाशयोंकी धार्मिक महत्ता जो आज प्राप्त होती है, वह प्राचीन समयसे ही आरम्भ है। जैतपुरके छोटे-से नगरके निकट बना हुआ भव्य और विशाल बेला-ताल बलवर्मनदेव-द्वारा बनवाया गया था। बलवर्मन इसी राजवंशका एक सदस्य था। इस जलाशयकी परिधि नौ मीलके लगभग है और गहराई भी तदनुरूप है। इस जलाशयमें जलका दृश्य सागर-सा दिखलाई देने लगता है। महोबाके पास ही

विजय-सागर, कीरत-सागर तथा कल्याण सागर अपनी अनुपमेयताके लिए विख्यात हैं। विजय-सागरकी कला इन सबमें उत्कृष्ट है।

इन बड़े जलाशयोंके अतिरिक्त, कुछ साधारण पोखरे भी हैं जो अपने रचना-कालकी दृष्टिसे महत्त्वके हैं। इनका प्रयोजन धार्मिक भावनाको बल देना और सामाजिक विनोद करना भी था।

दुर्ग

चन्देल शासकोंकी कला स्थापत्यके क्षेत्रमें अजेय दुर्गोंके निर्माणमें पराकाष्ठा पर पहुँची। ये सभी अपनी पर्वतीय स्थिति तथा बाहरी आक्रमणके विरुद्ध सुदृढ़ अजेयताके कारण इस देशकी सुरक्षाके इतिहासमें अद्भुत स्थान रखते हैं। सैनिक दुर्गोंकी रचनाके अतिरिक्त नगरोंकी सुरक्षाकी व्यवस्था तत्कालीन नगर निर्माण कलाका एक विशेष अंग थी। बाहरी आक्रमणोंसे बचनेके लिए सुरम्य राजधानियाँ और नगर दुर्भेद्य प्राचीरों-द्वारा परिवेष्टित किये गये थे। महात नगरकी विजयके लिए प्रयाण करते समय सुलतान उस नगरका वर्णन कर रहा है—"नगरके चारों ओर एक प्राचीर है, जिसकी ऊँचाई केवल गृध्रोंसे नापी जा सकती है। इसके रक्षक सैनिक यदि चाहें तो तारिकाओंसे बातें कर सकते हैं।....इसका शिखर उत्तुंगताम आकाशकी ऊँचाईके समान है और मीनराशिके समानान्तर है।"[1] इससे चन्देल शासकोंके समयमें नगर-निर्माण तथा उनकी रक्षाकी कलाकी एक झलक प्राप्त होती है।

कालंजर दुर्ग कला और महत्व

चन्देलोंके दुर्ग, जिनकी संख्या कम नहीं है, वास्तुकला और रक्षा-कौशलकी दृष्टिसे अत्यंत ही ऊँचा स्थान रखते हैं। चन्देलोंके जो आठ दुर्ग इतिहास-प्रसिद्ध हैं, उन सबकी अलग-अलग विशेषताएँ थीं। साधारण रूपसे सभी पर्वतोंपर बने थे। परन्तु कुछ तो अपनी वैज्ञानिक रचनाके कारण असामान्य हो गये हैं। कालंजरका दुर्ग मध्यकालीन भारतका सर्वोत्तम दुर्ग माना जाता था। उसकी स्थितिकी महत्ता इतनी थी कि उसकी विजय सम्पूर्ण मध्यभारतकी विजय मानी जाती थी। इसकी प्राचीनता, कालंजर शैलकी आध्यात्मिक महिमा, इसकी रचना और कौशल एवं इसकी सैनिक और ऐतिहासिक ख्याति सभी एकसे एक बढ़कर महत्त्वके हैं।

इस दुर्गकी धार्मिक महिमा तो और भी असाधारण है। अति पुरातन समयसे यह महातीर्थ माना जाता है। इसके ऐश्वर्यका विस्तृत वर्णन प्राचीन साहित्यमें स्थान-स्थानपर प्राप्त होता है। इस महातीर्थका उल्लेख रामायण,[2] महाभारत[3] और

---

१. मेम्वायर्स आव् महमूद आव् गजनी, ३२२।

२. उत्तरकाण्ड, ५६ स०।

३. वन प० ८५ अ०।

हरिवंशमें[1] प्राप्त होता है। पुराणोंने तो अपनी परम्परामें उसके माहात्म्यकी विस्तृत रक्षा की है। गरुड़, ब्रह्माण्ड, मत्स्य, पद्म आदि कई पुराण इसकी चर्चासे भरे हैं। पद्मपुराणमें कालंजर-माहात्म्यके प्रसंगमें वर्णन करते हुए उसकी स्थिति और उसके विस्तारका परिचय दिया गया है—'दो कोस विस्तृत वह क्षेत्र ही हमारे लिए (शिवका) मंदिर है। शिवसन्निधि-संयुक्त वही कालंजर मुक्तिदायक है। गंगाके दक्षिण भागमें कालंजर-क्षेत्र अवस्थित है। कालंजरके समान पवित्र क्षेत्र भूमण्डलमें दूसरा नहीं है। वहाँ सकल तीर्थोंका फल और अनन्त पुण्य मिलता है।'[2]

कालंजर दुर्ग-निर्माणका इतिहास भी अबतक विवादग्रस्त ही है। इतिहासकार फ़िरिश्ताके अनुसार इस दुर्गका प्रथमतः निर्माण सातवीं शताब्दीमें हुआ। निर्माता शासकका नाम केदार था। इसीने कालंजरकी स्थापना की थी। चन्देलोंके हाथमें आनेके पूर्व यह दुर्ग क्रमसे कलचुरी, प्रतिहार, भोज और राष्ट्रकूट शासकोंके हाथमें रह चुका था। राष्ट्रकूटोंसे चन्देल शासक भोजवर्मन्‌देवने कालंजरकी रक्षा की थी और कन्नौजके प्रतिहारोंका आधिपत्य क्षणमात्रके लिए उसपर पुनः स्थापित करा दिया। किन्तु यशोवर्मन् चन्देल (सन् ९३०–९५० ई०) ने दुर्बल प्रतिहारोंसे जीतकर इसे अपने साम्राज्यमें मिला लिया।[3] तबसे यह दुर्ग उस समय तक चन्देलोंके हाथमें रहा, जबतक कुतुबुद्दीन ऐबकने इसे जीतकर दासवंशके अधीन नहीं कर लिया। इससे यह निश्चित हो रहा है कि कालंजर दुर्गकी रचना और पुनःरचना बराबर होती रही, किन्तु चन्देलोंके समयमें ही यह एक अजेय दुर्गके रूपमें बनाया गया, जिसकी बनावट और मजबूती देखकर महमूद न केवल चकित रह गया बल्कि उसका साहस भी चंचल हो गया।

आज भी जो उस दुर्गका रूप मिलता है, वह उसकी महत्ताको घोषित करनेके लिए पर्याप्त है। वहाँके वर्तमान अवशेष, उसकी धार्मिक एवं कला-संबंधी गरिमा अमिट रूपसे प्रगट करते हैं। दुर्गके नीचे चरण भागमें स्थित कालंजर नगर प्राचीन समयमें बड़ा सुविशाल था और सुरक्षित नगरके रूपमें प्राचीर-वेष्टित था। उसमें चार विशाल द्वार थे। तीन द्वार, जो क्रमशः कामता फाटक, पन्ना फाटक और रेवा फाटकके नामसे ज्ञात हैं आज भी वर्तमान हैं। कालंजर दुर्ग नीलकंठ पर्वत पर अवस्थित है जिसकी ऊँचाई समुद्र सतहसे १२३० फीट है। यह विंध्याचलकी

---

१. अध्याय—२१।

२. अर्धयोजनविस्तीर्णं तत् क्षेत्रं मम मन्दिरम्।
कालंजरेति विख्यातं मुक्तिदं शिवसन्निधौ॥
गङ्गायाः दक्षिणे भागे कालञ्जर इति स्मृतः।
सर्वतीर्थफलं तत्र पुण्यञ्चैव ह्यनन्तकम्॥
(कालंजरमाहात्म्य—पद्मपुराण—१ अ०)

३. विस्तृत विश्लेषण—अध्याय ५ में।

ही एक तरंगित श्रेणी है और पावन चित्रकूट पर्वतमालाका अंग है। इसका शीर्ष मीलों चौरस है किन्तु इसका चढ़ाव बड़ा ही तीखा है। इसकी अजेयता इस पर्वतकी बनावटके कारण ही बहुत कुछ सम्भव हो सकी। इस दुर्गमें प्रवेशके लिए सात द्वार हैं। प्रथम द्वार जो इस समय वर्तमान है, 'आलम दरवाज़े'के नामसे प्रख्यात है। इसे सम्भवतः औरंगज़ेबने बनवाया था। उसपर मुहम्मद मुराद-निर्मित सन् १६७३ ई० का एक उत्कीर्ण लेख है। औरंगज़ेबने इस दुर्गकी मरम्मत कराई थी। इसकी बनावट है तो साधारण किन्तु मज़बूत है। यहाँ परकोटेकी दीवार बाहरसे ६–८ फीट ऊँची होकर आरम्भ हुई है। परकोटेका भीतरी भाग लगभग ८ फीट चौड़ा है। दूसरा द्वार 'गणेश फाटक' है। यह बनावटमें साधारण है, जो ऊँचे बुर्जसे मण्डित है। तीसरा 'चण्डीद्वार' है, जहाँ दो दरवाजे एक साथ ही बने हैं। इसके चारों ओर चार बुर्ज हैं। इसीसे इसे 'चौर-बुर्ज दरवाजा' कहते हैं। यहाँपर सन् ११६६, १२७२, १५८० और १६०० के उत्कीर्ण शिलालेख प्राप्त होते हैं। इसके पास ही एक विनष्ट गृहका अवशेष प्रस्तर-खण्ड है, जिसपर एक उत्कीर्ण लेख है। यह पढ़ा नहीं जा सकता।

चतुर्थ द्वारसे किलेकी ढाल और भी तीखी हो जाती है। इस द्वारका नाम 'स्वर्गारोहण' है। इसे 'बुध भद्रक' भी कहते हैं। यहाँ सन् १५३१ का एक उत्कीर्ण लेख विराजमान है। इसके पास ही भैरवकुण्ड है जिसका नाम पुराणोंमें गाधकुण्ड है। पुराणमें इसकी बड़ी महिमा बखानी गई है और इसके स्नानका महत्त्व बतलाया गया है। कुण्डसे बीस हाथकी ऊँचाईपर भैरवकी अति विशाल मूर्ति है। इस मूर्तिके अर्ध भागमें पर्वत तोड़कर गुहा बनाई गई है। गुहामें सन् ११३५ का एक उत्कीर्ण लेख वर्तमान है, जिसमें वारिवर्मदेव, भीष्मदेव और यशोधन आदिके नाम प्राप्त होते हैं। यहाँकी सभी वस्तुएँ कलाकी उत्तम कृतियाँ हैं। यहाँसे कुछ ही दूर और उत्तर बढ़नेपर पाँचवाँ 'हनुमान' दरवाजा स्थित है। यहाँ भी ऐतिहासिक महत्वकी वस्तुएँ तथा कलाके नमूने प्राप्त होते हैं। यहाँ हनुमानकुंड है और बगलमें पर्वत काटकर हनुमानकी मूर्ति बनाई गई है। इसके अतिरिक्त अन्य बहुत-सी प्रस्तर मूर्तियाँ यहाँ वर्तमान हैं किन्तु काल-प्रभावसे सभी रूपहीन होती जा रही हैं। इस स्थानसे थोड़े ही ऊपर चढ़नेपर काली, गणेश, नन्दी, चण्डिका, शिवलिंग, शिव-पार्वती आदिकी मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। यहाँ पत्थरपर चन्देल शासक कीर्तिवर्मा और मदनवर्माके नाम खुदे हैं।

छठा द्वार तो चन्देल इतिहासके लिए अत्यंत ही महत्त्वका है। इसे लाल दरवाजा कहते हैं। इसमें चन्देलोंके समयका एक बड़ा शिलालेख लगा है। इस गोपुरके पश्चिमी भागमें कम्भोरकुण्ड है। इसके ऊपर एक भैरवकी सुविशाल मूर्ति है तथा अन्य छोटी-छोटी मूर्तियाँ भी वर्तमान हैं। यहाँकी दो भारवाही मूर्तियाँ ग्यारहवीं सदीकी हैं जिनके कंधोंपर जलपूर्ण कलशका भार है। इसके पश्चात् अंतिम द्वार मिलता है। इस सप्तम द्वारको 'बड़ा दरवाजा' या 'नेमिद्वार' कहते हैं। यह जैसा ही

विशाल है वैसा ही मजबूत और कलापूर्ण है। इसके मध्य भागमें एक शिखर और दोनों ओर दो शृंग हैं। इसकी ऊँचाई भी सभी द्वारोंसे अधिक है। दुर्गका प्राचीर अधिकांशतः ठीक है। परकोटेका पिछला पुलपिट बहुत चौड़ा है। अंतिम द्वारके पश्चात् किलेका भीतरी भाग आरम्भ हो जाता है। यहाँ सैनिक शिविर है। पासमें पत्थर काटकर एक गृह बनाया गया है। उसके लिये यह किंवदंती है कि श्री राम-सीताने लौटते समय विश्राम किया था। इसके भीतर पत्थर काटकर अत्यंत ही सुन्दर चारपाई और बिछौना बनाया गया है। इस सीता-शय्याके भीतर जो उत्कीर्ण है उससे ज्ञात होता है कि वह चन्देलोंके आगमनसे एक शती पूर्व बनाया गया था।

सीता-शय्यासे आगे बढ़नेपर पाताल-गंगा मिलती है। इसे कालंजर-माहात्म्यमें बाणगंगा कहा गया है। यह दिव्य गुहा है। इसकी रचना चन्देल-युगके बादकी है, क्योंकि उसपर खुदे लेखोंपर १३३६, १५३४ और १६४० ई० सन् प्राप्त होते हैं। इसके पास ही सीताकुंड है।[1] दुर्गके प्राकारसे मिलाकर यह मनोहर ढंगसे बनाया गया है। यह चारों ओरसे सोपान-मण्डित है। इस दुर्गके प्रत्येक भागमें कुण्डोंका जो ऐसा जाल बिछा है, उसका महत्व पूर्ण राजनैतिक प्रयोजन भी था। उसी मार्गसे आगे बढ़नेपर एक निम्न जलाशय है, जिसे कालंजर महात्मामें बृद्ध दुर्ग कहा गया है। यहीं पाण्डुकुण्ड भी है, जिसमें चन्देलोंके समयकी एक शिला-लिपि वर्तमान है।

इस भागके दर्शनीय स्थानोंमें सर्वाधिक आकृष्ट करनेवाली कृति मृगधार है[2]। पहाड़ खोदकर सात मृगोंकी आकृतियाँ बनाई गई हैं। मृगधारमें भी एक सरोवर है जिसमें पर्वतसे दिनरात बूँद-बूँद पानी टपका करता है। यह जल उसमें कोटितीर्थसे जाता है।[3] कोटितीर्थ सरोवरकी धार्मिक महिमा बहुत बतलाई गई है।[4] सरोवरके

---

१. "गिरिमुत्तरमाश्रित्य जानकीस्थलमुत्तमम् ।
जानकीशय्यायास्तत्र दर्शयेच्च विचक्षणैः ।।
तत्रस्थं पूजयेत् भक्तया श्रीरामंप्रीतिदायकम् ।
तत्रैव कुण्डं सीताया लोकानां हितकारणम् ।। (कालंजर महात्म्य ५ म अ०)

२. इसके संबंधमें अनुश्रुति है कि किसी समय सात ऋषिपुत्र ऋषिकी आज्ञा न माननेके कारण शापग्रस्त हुये थे। प्रथम उन्होंने दशार्ण-बनमें कन्या होकर जन्म लिया था। दूसरे जन्ममें वे काल्जरके मृग बने। मृग जन्मके पीछे उन्होंने क्रयान्वयसे लंका द्वीपमें राजहंस और कुरुक्षेत्रमें ब्राह्मण होकर जन्मग्रहण किया। उससे ही वे मुक्त हुये। कालंजरकी ये मृगमूर्तियाँ उन्हीं की प्रतिकृति हैं।

३. मृगाणां दर्शनं कृत्वा गिरिदक्षिणामाश्रितः ।
तत्र स्नानं समाजातं पितृसंतुष्टहेतवे ।। (काल्जर म०–४ र्थ अ०)

४. नीलकण्ठो यत्र देवो भैरवाः क्षेत्रनायकाः ।
कोटीतीर्थ यत्र तीर्थं मुक्तिस्तत्र न संशयः ।।
कोटीतीर्थं जलेस्नात्वा पूजयित्वा महाशिवम् ।
कोटी जन्मार्जितात् पापान्मुच्यते नात्र संशयः ।
कोटीतीर्थेण संगम्य मंदाकिन्या महत् फलम ।। कालंजर महात्म्य। (१।३०–३२)

चारों ओर जो नाना प्रकारके पत्थर लगे हैं उनमें समय-समयके अनेक शिलालेख लगे हैं। जिनमेंसेबहुतसे अस्पष्ट हो गये हैं। इस सरोवरके समीप एक अत्यंत पुरातन भवन है जो बहुत ही महत्त्वका प्रतीत होता है। इसमें अनेक अभिलेख लगे हैं। अनेक प्रमाणोंसे प्रकट हो रहा है कि यह परमर्दिदेवके समयका निर्मित है।

इसी स्थानसे नीलकंठ महादेवका रास्ता जाता है। दुर्गका यह भाग सर्वाधिक सुन्दर और कमनीय है। यहाँ प्राचीरसे देखनेपर ऐसा नैसर्गिक दृश्य उपस्थित होता है जिसकी तुलना करना कठिन है। नीलकंठकी ओर प्रस्थान करनेपर क्रमसे दो द्वार मिलते हैं जिनकी दशा जीर्ण हो गई है। इस मार्गमें वैष्णव देवताओं तथा उत्तरकालीन बौद्धोंकी मूर्तियाँ मिलती हैं। निःसन्देह ये मुगलकालीन हैं। यहीं चन्देलकालीन कलाकी कई वस्तुएं प्राप्त होती हैं। जटाशंकर, शिवसागर और भैरवकी मूर्तियाँ उसी युगकी हैं। उनपर उत्कीर्ण लेख भी मिलते हैं लेकिन उनके अल्पांश ही पढ़े जा सकते हैं। यहाँकी वस्तुओंमें कीर्तिवर्मन्देव और उसके कर्मचारियों द्वारा बनाई हुई विशेष हैं।

धार्मिक दृष्टिसे नीलकंठ महादेवका मंदिर जितना महत्त्व का है, उससे कम उसकी रचनाकी दिव्य कलाका महत्व नहीं है। इसके स्तम्भोंकी रचना, उनके ऊपरी भागका अलंकरण और परिक्रमा आदि सभी इस तथ्यको प्रमाणित करते हैं। कि इसकी रचना चन्देल युगकी ही है। यह मंदिर कालंजर दुर्गके कटिभागमें ऐसे आश्चर्यजनक रूपसे अवस्थित है कि विदित होता है कि चुम्बकने इस सर्वांगीण अनिर्वचनीय रचनाको पर्वत भागसे चिपका दिया है। मंदिरका देवतायतन तो एक सुरम्य गुफामें है जो पर्वत काटकर बनाई गई है। परन्तु अष्टकोण महामंडप उसके पास ही बाहर बना है। ये स्तम्भ आठों दिशाओंमें स्थित हैं। स्तम्भोंका रचना-कौशल अत्यंत ही चमत्कारपूर्ण है। महामण्डपकी छत तो इस समय नहीं है किन्तु ज्ञात होता है कि स्तम्भोंके ऊपर क्रमसे और भी सौध बने थे। स्थानीय लोगोंका कथन है कि इनकी सात श्रेणियाँ थी। महामंडपके चारों ओर फेरी है। गुहा-द्वार और स्तम्भोंपर उत्कीर्ण मूर्तियोंकी बड़ी विशिष्ट कला है—खेद है कि उनकी अधिकांश शोभा विलीन हो गई है। प्रवेश-द्वारपर गंगा-यमुना और हर-पार्वतीकी मूर्तियाँ हैं। गुफाकी रचना तो और भी प्राचीन है। यहाँके शिवलिंगकी भी विशेषता है। वह गहरे नीलवर्णके प्रस्तरसे बना है। इस नीलकंठके तीन नेत्र हैं, जो उनके संहारक अवस्थाका दिग्दर्शन कराते हैं। इसकी महाकाय भव्यता सहज ही भक्तिका उद्रेक कराती है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि महादेव नीलकंठ ही कालंजरके अधिष्ठाता देव हैं और यह आदिकालसे ही तपश्चर्याकी पावन स्थली रूपमें चलता आया है। यहाँपर अनेक शिलालेख प्राप्त होते हैं और दशावतार, ब्रह्मा, हर-पार्वतीआदिकी बहुत-सी मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। इन मूर्तियोंकी कलाका विवेचन तो अलगसे इसी अध्यायमें किया जायगा। यहाँ तो इस महान् दुर्गका दिग्दर्शन मात्र कराना अभीष्ट है।

इस गुहा-मंदिरके शीर्षपर स्वर्गारोहण कुंड है। कालंजर-माहात्म्यमें इसे स्वर्गवापी कहा गया है।[१] यह भी पहाड़ तोड़कर बनाया गया है। इस कुण्डकी प्राकृतिक छटा देखते ही बनती है। उसके दाहिने भागमें जलपर खड़ी लगभग १६ हाथकी ऊँची एक महाकाय कालभैरवकी मूर्ति बनी है। इस मूर्तिके हृदय-देशमें नरमुण्डकी माला, कानमें सर्पके कुण्डल, हाथमें सर्पके वलय और गलेमें नागमाला बनी है। इस मूर्तिके बगलमें कालीकी मूर्ति है। कुंडके भीतर इन दोनों मूर्तियोंकी यह स्थिति पूरी परिस्थितिमें बड़ी गम्भीरताका संचार करती है। इन मूर्तियोंके पाससे सुरंगका मार्ग दिखलाई देता है—सम्भवतः उसके द्वारा देशी राज्योंतक पहुँचा जाता था। अंग्रेजोंके शासनमें वह सुरंग बन्द कर दी गई थी।

कालंजर दुर्गमें उपलब्ध होनेवाली अनेक मूर्तियोंमें भारवाही मूर्तिओंकी विशेषता है। पर्वत भागपर किलेकी उत्तर दिशामें वालकाण्डेश्वरके शिवलिंगके पास ही एक भारवाही मूर्ति है। वह भार लिये चली जाती है। ये मूर्तियाँ सभी गुप्तकालीन हैं। दुर्गके उत्तरी भागमें ही गंगासागर नामक सरोवर है। यह बड़ा ही प्रशस्त और सुन्दर है। वहीं आठ हाथ ऊँची अनन्तदेवकी विशालकाय मूर्ति है। इसके पास अनेक दर्शनीय वस्तुएँ वर्तमान है। उनमें चण्डी-भवन, शिवक्षेत्र, रतिक्षेत्र, मातङ्ग-वापिका, नारायण-कुण्ड और सौमित्रि-क्षेत्र विशेष उल्लेखनीय हैं। दुर्गके अग्निकोणमें श्रीरामचन्द्रका चरण-चिह्न वर्तमान है।[२]

कालंजर दुर्गके भीतर अवस्थित जिन भवनों, सरोवरों, मंदिरों, मूर्तियों और सैनिक शिविरोंकी चर्चा की गई है, वे एक ओर तो दुर्गकी धार्मिक और सांस्कृतिक महत्ता प्रदर्शित करते हैं; दूसरी ओर वे स्वयं कला-खण्ड भी हैं। दुर्ग-विन्यासमें ये अनिवार्य अंग रूप माने गये हैं। कालंजर दुर्गको सैनिक महत्त्वके साथ-साथ जो अध्यात्मिक गौरव प्राप्त है—वह इसका अद्वितीय स्वरूप है जो वेदोंसे लेकर आजतक-की उसकी दीर्घ परम्परा प्रकट करता है।

आज भी दुर्गका प्रांगण राजप्रासादों, सैनिक शिविरों, देवालयों और रक्षा-पंक्तियोंके भग्नावशेषोंसे पटा पड़ा है। वहाँके राजमार्ग आज भी सुन्दर दीखते हैं। दुर्गके परकोटेके पीछे लगभग पच्चीस फीट चौड़ा जो राजपथ बनता गया है, वह बड़े महत्त्वका है। उसपर दस घुड़सवार एक साथ दौड़ सकते थे। इस दुर्गकी अजेयता जहाँ पर्वतकी प्राकृतिक रचनाके कारण बहुत कुछ थी, वहाँ बनावटकी दृढ़ताके कारण भी। बाहरसे परकोटेकी ऊँचाई सामान्यतया ४०–५० फीट ज्ञात होती है। इसके प्रवेश-मार्गकी रचना बड़ी ही विलक्षण है। प्रवेशके समय क्रमसे परिवेष्टित होनेवाला दुर्गका प्राचीर कहीं

---

१. नीलकण्ठ समीपेतु स्वर्गवाप्याः समाश्रयः ।
स्वर्गवाप्याः नरः स्नायादेवरुपस्तदा भवेत् ।।—कालंजर माहात्म्य–(४।३२–३३)

२. अग्निकोणे गिरिस्तत्र श्रीरामचरणद्वयम् । —कालंजर माहात्म्य ४–१९ ।

दुहरा, कहीं तेहरा और कहीं-कहीं तो चौहरा दिखलाई पड़ता है। यों भी इसका प्रवेश बड़ा दुर्गम है---चितौड़ दुर्गसे भी अधिक विकट। दुर्गकी इस विशेषताका परिणाम यह रहा कि सदियोंतक वह उत्तर भारतका महानतम सैनिक गौरव बना रहा---आक्रमणकारी उसकी विजयको उत्तर भारतकी विजय मानते रहे।

कालंजर दुर्गकी रचना और उसके इतिहासको किसी वंश-विशेषतक ही सीमित नहीं किया जा सकता क्योंकि उसके इतिहासपर धार्मिक दृष्टिसे तो प्राचीन युगकी छाप है और सैनिक दृष्टिसे स्पष्ट रूपसे छठी शती-तकका प्रभाव है। फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि चन्देलोंके शासन-कालमें इसे सर्वाधिक सैनिक महत्त्व प्राप्त था। चन्देलोंकी तो यह बराबर एक राजधानी ही रहा। आक्रामक महमूदका संकेत उसके तत्कालीन गौरवका पर्याप्त परिचय दे रहा है।

चन्देलोंके दुर्गोंमें कालंजरके पश्चात् अजयगढ़का ही स्थान है। इसकी भी स्थिति और रचना वैज्ञानिक थी। देवगढ़का चन्देल दुर्ग भी ३०० फीट ऊँचे तरंगित भूमि-पृष्ठपर बना है। चन्देलोंके अन्य दुर्ग बारीगढ़, मनियागढ़, मारफा, मौधा, गढ, और मइहर हैं जिनके सब भग्नावशेष वर्तमान हैं और जैसा कि बतलाया गया है, ये सभी पर्वतपर अवस्थित थे।

अध्याय १५

कला–२

मंदिर और उनकी शैलियाँ

चन्देल शासकोंने स्थापत्यके जो विविध अवशेष छोड़े हैं, उनके देवालयोंका स्थान न केवल उनमें ही महत्त्वपूर्ण है वरन् वे मध्यकालीन भारतवर्षकी प्रतिनिधि वास्तु कृतिके रूपमें सर्वोत्तम हैं। भारतीय वास्तुकी रीतियोंका दर्शन सर्वाधिक रूपमें चन्देलोंकी कला-विशेषमें किया जा सकता है। आज भी अनेक स्थलोंपर उनके गौरव-स्मारक अच्छी दशामें वर्तमान हैं।

भारतीय आध्यात्मिक स्थापत्यकी तीन प्रमुख शैलियाँ हैं। उत्तर भारतमें आयताकार नागर-शैलीकी प्रधानता है। पूर्वीघाटपर––विशेषतया आंध्रके जिलोंमें––पाये जानेवाले गोलाकार बेसर-शैलीके मंदिरोंकी प्रमुखता है। सुदूर दक्षिण भारतमें भिन्न रचनाके मंदिर प्राप्त होते हैं। वे सामान्य आकारमें अष्ट-भुजी होते हैं और द्रविड़-शैलीके नामसे प्रख्यात हैं। प्रथम दो शैलियोंकी विशेषता यह है कि देवतायतनके सामने स्तम्भोंवाला खुला अंतराल अर्थात् पट-मंडप होता है। इसीमें पवित्र देव-मूर्तियोंके स्थान-स्थानपर निकेतन बने रहते हैं। देवता-विशेषका वाहन भी इसीमें प्रतिष्ठित किया जाता है। यहीं नृत्यशाला रहती है। किन्तु द्रविड़-शैलीके मन्दिरोंकी रचना भिन्न होती है। इसमें मंदिरके उन द्वारोंके ऊपर स्तूपाकार बृहत् शृंग-रचना हुई रहती है। यह क्रमसे पड़नेवाले मंडपोंको जोड़नेका काम करती है। वस्तुतः इस शैलीके मंदिरोंमें यही मंडप देवालयका अंतरावकाश बनाते हैं।

खजुराहो का शिल्प

खजुराहोमें चन्देलोंकी कृतियोंकी दृश्य राशि ही उपलब्ध है। वहाँ लगभग तीस मंदिर खड़े हैं, जो शिव, विष्णु और जैन तीर्थंकरोंकी उपासनामें बने हैं। इन सबका निर्माण सन् ९०० ई० और सन् १०५० ई०के बीच हुआ।[1] चन्देल शासकोंके कला-संबंधी गौरवको प्रदर्शित करनेके लिए कुछ प्रमुख स्मारक ही पर्याप्त हैं। उन्हींकी चर्चा यहाँ की जायगी। किन्तु उनके अवशेष तीस मंदिरोंसे अधिक संख्यामें खजुराहो और उसके पड़ोसी गाँव जातकरीमें फैले हैं।

खजुराहोके ये मंदिर एक विशेष कला-पद्धतिका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उनकी विशेषताएँ अद्वितीय हैं। अलंकरणकी गहनता और विविधतामें उनका दूसरा

---

१. हिन्दू टेम्पुल, भूमिका

उदाहरण इस देशमें अन्यत्र नहीं मिलता। अलंकरणकी मूर्तियों और पच्चीकारी-द्वारा जीवन और प्रकृतिके अनेक मार्मिक पक्षोंका प्रत्यक्षीकरण किया गया है। उनमें कल्पनाकी सूक्ष्मता, वृत्ति-वैभव और विश्लेषण जितना ही परम्परागत है उतना ही नूतन। उसके सम्मुख भुवनेश्वरकी मौलिकता बहुत पीछे छूट जाती है। सामान्य दृष्टिवालोंको यहाँके मंदिरोंकी दुःसाध्य रचना जहाँ स्तम्भित करती है, वहाँ असाधारण सुविज्ञोंके लिए जीवनके स्थूल-दृश्यों द्वारा अध्यात्मकी ग्रंथियोंका उद्घाटन भी करती है।

साधारणतया खजुराहोके मंदिर आयताकार नागर-शैली अर्थात् 'इण्डोआर्यन' शैलीपर बने हैं। फिर भी इनका कलात्मक ढंग मौलिकतासे आपूर्ण है। इसी कारण 'इण्डो-आर्यन' शैलीके मंदिरोंके सर्वोत्तम और आकर्षक उदाहरण यहीं मिलते हैं। ये सभी देवालय ऊँचे मंचपर बने हैं। देवतायतनके अग्रभागमें अंतराल, और फिर महामंडप बने है। महामंडपके आगे अर्धमंडप और मंडप भी मंदिरोंकी शोभा द्विगुणित करते हैं। देवतायतनके चारों ओर प्रदक्षिणापथ बने हैं—इनको प्रकाशित रखनेके लिए विशाल वातायन रखे गये हैं। बाहरी आकार-प्रकारमें शृंग, शिखर और विमान यहाँके मंदिरोंके प्रभावकारी लक्षण हैं। 'उरसिंघों'की बनावट तथा वितरण खजुराहोकी विशेषता है।'

खजुराहोके कुछ ही मंदिर 'पंचायतन' शैलीके हैं। ऐसे मंदिरोंके अलिंदके कोनोंपर चार गर्भगृह बने हैं जिनमें मंदिरके देवताके उप-देवताओंकी स्थापना की गई है। कहीं-कहीं मंडपके सामने देव-वाहनके लिए एक और गर्भगृह बना पाया जाता है।

मंदिरोंका विवरण

इन मंदिरोंके वास्तविक मूल्यांकनके लिए प्रमुख मंदिरोंका वर्णन अत्यंत आवश्यक है। सबसे विशाल भवन शिवका वह मनोहर मंदिर है जिसे कंधारियाका मंदिर कहा जाता है। यह दसवीं शतीका बना प्रतीत होता है। इसे देखते ही भुवनेश्वरके उत्तुंग शिखरकी रचनाका स्मरण हो जाता है। मंदिरका अलिंद और मंच बहुत ही ऊँचा है। अतः उस स्तूपाकारसे अधिक प्रभावशाली रूपमें प्रकाश आता है। मंदिरका विस्तृत मंच मूलतः पंचायतन शैलीका था, लेकिन कोनोंपर स्थित जो चार अंग-रूप मंदिर थे वे नष्ट हो चुके हैं। मंदिरके प्रवेश-द्वारपर विषाणयुक्त और समुज्ज्वल देवताओं तथा संगीतज्ञों आदिसे अलंकृत ऐश्वर्यपूर्ण तोरण तथा जयतोरणपर दृष्टि डालिये। अर्धमण्डप और मण्डपके उत्कीर्ण बड़े सघन हैं और उनकी छतें अत्यंत ही मूल्यवान् हैं। चतुःस्तम्भवाला महामण्डप एकमात्र दूसरी शैलीका है। वह अत्यंत ऊपर चढ़े हुए समकेन्द्रिक वृत्तोंसे बनकर पूरा हुआ है। परिक्रमाके भीतर ही मंदिरकी बाहरी भित्तिपर विस्तृत आकारका मंच

बना है। परिक्रमाके बाहर मंदिरके बाहरका जो मंच है वह मंदिर-स्थानके मंचकी भाँति ही बलिष्ठ और गहन आकारमें क्रमिक रूपसे ऊपर उठता चला गया है।

मंदिरके केन्द्रबिन्दुपर नौ इंचमें शिव, उनके पुत्र गणेश तथा हिन्दुओंकी प्रमुख देवियाँ, सप्त माताओंकी मूर्तियाँ बनी हैं। ये मूर्तियाँ हिन्दुओंके प्रमुख देव और देवियोंका प्रतिनिधित्व करती हैं। इनके ऊपर पुनः भित्ति-शृंगोंकी बहुत-सी पंक्तियाँ हैं जो प्रतिमाओंके समूहसे क्रमानुरूप सजी हुई हैं। उनके साथ ही सूक्ष्माकार-शिखर बने हैं, जो उसी रूपमें बनते-बनते चोटीके कूटतक पहुँचते हैं। इन अलंकारोंका सामूहिक दृश्य बड़ा हृदयहारी है। मंदिर के अतुलित और गह्वर नक्काशीको देखकर बी० एल० धामने बहुत ही उपयुक्त कहा है कि इन मंदिरोंपर खचित मूर्तियोंकी राशिका अनुमान इसी बातसे लगाया जा सकता है कि अखिल हिन्दू विश्व-देवालयका कदाचित् ही ऐसा कोई सदस्य छूटा हो जिसका प्रतिनिधित्व न हुआ हो। केवल कंधारिया महादेवके मंदिरपर अलंकार-रूपमें प्रतिष्ठित कमसे कम ८१२ मूर्तियाँ वर्तमान हैं।[1]

कंधारिया महादेवके शिखरके दिव्य दृश्यका यदि अवलोकन किया जाय तो अनुभव होगा कि किस विभवपूर्ण कल्पना शक्ति और यांत्रिक कौशलके साथ विष्णुके कमलध्वज रूपी चूड़ासे विभूषित शृंगके ऊपर शृंग देवतायतनके केन्द्रीय शिखरके चारों ओर संचित किये गये हैं! इसके देखनेसे प्रतिभासित होता है कि कैलास गिरिने मानों उच्च गगन धारण किया हो!! वह कौशल तो निश्चित ही सबको मात करनेवाला है, जिसमें अद्भुत चातुर्यसे विविध प्रकारके विरल और अस्त-व्यस्त खण्डोंको संकीर्ण दूरीमें परस्पर जोड़कर इस प्रकारसे विशालकाय रूप दे दिया गया है कि वह पूर्ण तथा संतुलित शिल्पकी एक ही संश्लिष्ट इकाई मालूम पड़ता है। एक बात अत्यंत ही महत्त्वकी है। कालक्रमकी दृष्टिसे मंदिरके चित्रोंकी रूपरेखा देखनेपर यह सम्भावना प्रगट होती है कि विविक्त स्थान और भीतरके चार स्तम्भोंवाले मण्डप किसी पुराने देवालयके अंग हैं। यह आश्चर्यजनक मंजूषासे परिवेष्टित है, जो अब दक्षिण भारतके प्रसिद्ध शिवमंदिरकी शैलीपर विस्तृत किया गया है।

अवशिष्ट मंदिरोंको तीन समूहोंमें विभक्त किया जा सकता है, जैसे पश्चिमी, पूर्वीय और दक्षिणी। कंधारिया मंदिर पश्चिमी समूहमें पड़ता है। सभी देवालय प्रायः एक ही शैलीपर निर्मित हैं। अतः कुछके ही वर्णनसे वहाँके सभी मंदिरोंकी कला-की विशेषताओंको हृदयंगम किया जा सकता है।

खजुराहोमें केवल चौंसठ जोगिनीका ही एक मंदिर ऐसा है जो कठिन ग्राव-वाले पत्थरोंसे बना है। खजुराहोके प्राचीनतम स्थापत्यका यह मंदिर एक नमूना

---

१. ए गाइड टु खजराहो, भूमिका।

है। इसकी छत लघु शिखरोंसे बनी है, जिसका निम्नभाग त्रिकोणाकार प्रसाधनों-से विभूषित है।

महादेवके भग्न मंदिरके बाद ही देवी जगदम्बिकाका मंदिर है जो विष्णुकी उपासनामें बना है। यह केवल चार कक्षोंवाला अर्ध-मंडपीय देवालय है। इसकी रूपरेखा बड़े मंदिरोंसे कहीं अधिक सुन्दर है। इसका अलंकार उनके समान ही गहन और विविधतापूर्ण है। यह चन्देलोंके सर्वाधिक अभ्युदयके दिनोंकी कृति है।

चित्रगुप्तका मंदिर सूर्यकी उपासनामें बना है। पश्चिमी समूहके मंदिरोंमें यह सबसे मनोहर है। देवालयके बीच लगभग ८ फीट ऊँचाईका एक विशालकाय शिल्प है। इसके महामंडपका विन्यास ग्यारहवीं और बारहवीं सदीसे भिन्न है।[1]

जैसा कि वी० ए० स्मिथका मत है, विश्वनाथ अथवा लालाजीका मंदिर धंगदेवके शासनकालके उत्तरार्द्धमें बना होगा।[2] इसके अतिरिक्त धंगदेव ने ही लक्ष्मणजी और चतुर्भुजके मंदिर बनवाये थे। इसका रूपालेख्य भी कंधरिया मंदिरके ही समान है। इसमें सुन्दर कोष्ठ हैं और विविक्त स्थानके चतुर्दिक् खुली परिक्रमा है। प्रवेश-द्वारके ऊपर केन्द्रपर नन्दीपर सवार छोटेसे शिव हैं। इसका आंतरिक प्रसाधन अत्यंत व्ययके साथ सुघटित किया गया है जो अलंकारोंकी अनेकतासे भरा है। शिखर-रचनाके अंतमें एक आमलक फल बनाया गया है और जिसके ऊपर घंटेके स्वरूपका एक आभूषण स्थापित किया गया है। मंडपके भीतर एक उत्कीर्ण लेख है जो शंकरके आवाहनके साथ प्रारम्भ होता है।

नन्दी और पार्वतीके कुछ छोटे-छोटे मंदिर स्तम्भोंपर बने होनेके कारण जैसे कलाके लिए महत्त्वके हो गये हैं। किन्तु इन सबमें सौंदर्यकी गुरुता रखनेवाला मंदिर लक्ष्मणजीका ही है। रूपरेखाकी प्रगल्भता और प्रलंब शिल्पकी तुलनात्मक रूपसे उत्कृष्टताने वहाँके मंदिरोंमें इसे प्रधानता प्राप्त करा दी है। इसके द्वार चारु तोरणोंसे सुशोभित हैं। इसके अधोभागके अलिंदकी रचनाएँ अन्य मंदिरोंसे अपेक्षाकृत अधिक गह्वर हैं। वे वाराह-आखेटों तथा विविध प्रकारके अस्त्रशस्त्रोंसे सुसज्जित अश्वोंकी शोभा-यात्रासे आच्छादित हैं। एक और खुला मंदिर है, जिसमें विष्णुके वाराह अवतारकी महाकाय मूर्ति है।

पूर्वी समूहमें तीन हिन्दू मंदिर हैं और तीन जैन। जैन मंदिरोंमें एक घंटाई मंदिर, दूसरा आदिनाथ का और तीसरा पार्श्वनाथका है। हिन्दू मंदिरोंमें एक ब्रह्माका, दूसरा वामनका और तीसरा जावराका है। ब्रह्माका मंदिर तो सूच्याकार छतसे बना हुआ छोटा-सा है। यह खजुरसागरके पूर्वी तटपर अवस्थित है। इसका सामान्य दर्शन इसकी प्राचीनता घोषित करता है। इसकी छत परम्परागत आमलक-

---

१. आ० स० रि०, भाग २. पृ० ४२१।

२. ई० ऐ०, भाग ३७. पृ० १३२–३३।

विहीन घंटेके स्वरूपके एक प्रसाधनसे आच्छादित भी है। जनरल कनिंघमका यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि यह मंदिर आठवीं और नवीं सदीसे भी पहलेका है।[१]

इस समूहका विशालतम और सुन्दरतम अवशेष जैन मंदिर हैं। मंदिरकी सम्पूर्ण रचना-कल्पना नूतन और विचित्र है। इसका भीतरी भाग तीन प्रकोष्ठोंसे बना है—मण्डप, अंतराल और गर्भगृह। आदिनाथका प्राचीन जैनमंदिर कलाके अवशेषोंका असामान्य स्थल है। इसमें सोलह अंकोंका एक चौंतीसा यन्त्र बना है जिसे हर ओरसे जोड़नेपर ३४ ही प्राप्त होता है—लम्बवत, समवत अथवा कर्णवत किसी भी प्रकारसे लिया जाय। अंक इसलिए महत्त्वके हैं कि उनकी बाईं ओर अतिरिक्त निर्घात लगे हैं। यह प्राचीनता प्रकट करता है। अंक नीचे लिखे अनुसार अंकित हैं:—[२]

७	१२	१	१४
२	१३	८	११
१६	३	१०	५
९	६	१५	४

पार्श्वनाथका मंदिर वहाँके जैनमंदिरोंमें सबसे बड़ा है। भीतरकी ओर मंदिरमें तीन आगार हैं, जैसा कि अभी बतलाया गया है। इस मंदिरमें खुले प्रग्रीव नहीं हैं। मंदिरकी अलिंद-स्तंभावलि मनोहर रूपरेखावाली अवकाशमें अड़ी हुई छतसे बनी है। सम्पूर्ण मंदिरको परिवेष्टित करनेवाली विशाल भित्तिपर जैन तीर्थंकर शृंगारके लिये बने हुए हैं। हिन्दू देवता ब्रह्मा, विष्णु, शिव (कहीं तो अपने वाहनके साथ हैं कहीं वाहन-विहीन), बलराम तथा दिक्पाल भी मूर्तियोंमें अलंकारके लिए रक्खे गये हैं। अलंकारके प्रयोजनसे विशुद्ध ब्राह्मण देव-मूर्तियोंका सम्मिलित किया जाना, महत्त्वका विषय है।

दक्षिण समूहके मंदिरोंमें दुलदेव, चतुर्भुज या जातकरीके मंदिर हैं। इनमेंसे दूसरेका दृश्य क्रमसे बने हुए तीन मण्डपोंका बाहरी प्रभाव प्रकट करता है। इन्हींके द्वारा अंतःके देवतायतनके पास पहुँचा जाता है। इस विष्णु-मंदिरका एक भाग भीतरी विन्यासका परिचय कराता है। चतुर्भुजका यह मंदिर पंचरत्न शैलीका है।[३] वह ताज-महलकी ही भाँति ईंटके ऊँचे मंचपर खड़ा हुआ है, जिसके चारों कोनोंपर छोटे-छोटे देवतायतन बने हुए हैं।

इन मंदिरों तथा इसी शैलीके अन्य मंदिरोंके मण्डपोंकी पहचान यह है कि उनके सुन्दर शिखर गोलार्ध आठ या उससे भी अधिक स्तम्भोंपर बने हैं और

१. वही।
२. वही. पृ० ४३४।
३. ए स्टडी आव् दी इण्डो आर्यन सिविलिजेशन. पृ० २१०।

वे त्रिकोण-मंडलके रूपमें इष्टिकान्याससे बने हैं। उनके भीतरके शिल्पमें सीमा-रहित विविधता और विस्तार है, किन्तु सभी हर दशामें पौराणिक कमल-पुष्पकी आकृति बनाते हैं। बाहरसे देखनेपर इष्टिका-रचनाका क्रम वर्ग-स्तूपके आकारमें बढ़ता गया है, जैसा कि शिवके देवतायतनके शिखरमें है।

सौभाग्यसे खजुराहो मुसलमानोंके आक्रमण-पथसे दूसरी ओर पड़ता था। इसीका परिणाम है कि आज उत्तर भारतवर्षके सुन्दरतम हिन्दू मंदिरोंको सुरक्षित प्राप्त किया जा रहा है। किन्तु चन्देलोंकी निर्माण-भावना खजुराहो-तक ही सीमित नहीं रही। उन्होंने अन्य कितने स्थानोंपर भी मंदिरोंकी रचाना कराई। खेद है कि उनमेंसे बहुत कम तुर्कोंके विनाशकारी साहस और कालके संकटसे उबर सके। परिचयके लिए उनका भी संक्षेपमें वर्णन किया जाना आवश्यक है।

उनके स्थापत्यका केन्द्र दुधही भी है। दुधहीके भग्नावशेषोंके प्रमुख समूहमें वाराह और बच्चा वाराहके मंदिर हैं। उनमेंसे सबसे बड़ा मंदिर बहुत ही अद्भुत योजनापर बना है। जनरल कनिंघमका कथन है कि इसके रूपालेख्यका दूसरा उदाहरण नहीं मिलता।[1] इनके अतिरिक्त कुछ जैन मंदिर भी हैं, जो यशोवर्म-देवके पौत्रद्वारा बनवाये गये थे। इन सभी मंदिरोंके निर्माण-काल के संबंधमें यही प्रमाणित होता है कि वे चन्देलोंके यशस्वी दिनोंमें बने थे।

चाँदपुरके अवशेष भी ग्यारहवीं और बारहवीं सदीके चन्देल शासकोंकी कृतियाँ हैं। उनमें जैन और ब्राह्मण दोनों के मंदिर थे किन्तु सभी नृशंमतासे धराशायी कर दिये गये हैं।

कनिंघमने देवगढ़के मंदिरोंके संबंधमें अपना यह निश्चय प्रगट किया है कि वे गुप्तकालीन हैं क्योंकि उनके अंगका विन्यास और रूपरेखा गुप्त-शैलीकी ही हैं।[2] किन्तु देवगढ़के मंदिरोंकी छतें स्तूपाकार हैं जहाँ गुप्तयुगीन साँची, एरण और तिगोवके मंदिर समतल छतोंके हैं। ऐसा प्रसाधन इन मंदिरोंको बादके समयका निर्धारित करता है। चन्देल युगके होनेके ही प्रमाण अधिक बलिष्ठ हैं।

उपर्युक्त वर्णनके पश्चात् उत्तर भारतमें उपलब्ध होनेवाले समस्त चन्देल मंदिरोंके आधारपर उनका एक सामान्य लक्षण निर्धारित किया जा सकता है। उनके प्रासादयुक्त मंदिरोंमें शिखर-वेष्टित विमान होता है। सामान्य रूपसे देवतायतन वर्गाकार होता है। इसमें चार प्रवेश अथवा फलक होते हैं क्योंकि भित्ति अवकाशवाले एक या अधिक कोण सुगठित रूपसे रचे गये हैं। लगभग इसी सिद्धान्तपर कोष्ठाकारके संकीर्ण मंदिरोंकी रूप-रेखाएँ बनती हैं। देवतायतनके सामने सामान्यतया एक या दो मण्डप होते हैं, जो अनेक कार्योंमें प्रयुक्त किये जाते थे। जिस प्रकार मंदिरोंकी कई रूप-रेखाएँ प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार

१. वही।
२. वही. पृ० १०५ ।

रूपांतरित शृंगोंकी भी। सबसे साधारण वर्गाकार देवतायतनमें हर एक भद्रके ऊपर एक सूक्ष्माकार शृंग रक्खा जाता है। उन सबके शीर्षपर एक सारवत पत्थरके वलिमंत वृत्ताकार खंडको, जिसे आमलक कहते हैं, छत्रवत् आरोपित किया जाता है। उसीके भारसे सभी शृंग परस्पर आबद्ध रहते हैं। सम्पूर्ण मंदिर एक सारगर्भ पीठ अथवा मंचपर खड़ा होता है। यही भीतरकी गृहभूमि बनाता है। बराबर प्रयोगमें आनेवाली विशिष्ट आलंकारिक रचनाओंमें मंद हाससे सुशोभित मुखवाले कीर्तिमुख और अश्वों, करियों तथा मनुष्योंकी शोभा-यात्राएँ हैं। इसके अतिरिक्त रत्नरूपों या क्षेत्रगत हीरक-प्रलम्ब-शिल्पोंसे मंडित अर्ध-वृत्ताकार कुछ उपधान-रचनाओंका प्रयोग भी अलंकारोंके लिये किया गया है। तात्पर्य यह कि चन्देल-मंदिर-रचना सुनिश्चित विशेषता और विलक्षणतासे भरी है।

मूर्ति कला

चन्देल-युगीन स्थापत्य और मूर्ति-कला अविभाज्य हैं। उत्तर और दक्षिण भारतके स्थापत्यका विकास वस्तुतः पाँचवीं सदीके गुप्तों और वाकाटकोंके राजप्रासादोंके काष्ठ-शिल्पसे ही हुआ। क्रमसे इसकी अपनी इकाई बनी। समयके साथ काष्ठ-शिल्पका विलोप ही होता गया। केवल अजंताकी भित्तिपर वह अवशिष्ट है, जहाँ भित्तिचित्रोंने उसकी विभुताको अब भी सुरक्षित रक्खा है।[1]

चन्देल मूर्ति-कलाके नमूने दो रूपोंमें प्राप्त होते हैं। एक तो हैं अलंकरणके रूपमें प्राप्त मंदिरोंके बाहरी और भीतरी भागोंमें। दूसरे हैं मंदिरोंके विविक्त स्थानोंमें प्रतिष्ठित मूर्तियाँ। चन्देल मूर्तियोंके रचना-सौष्ठव, भंगिमा, अंग-विन्यास, गठन तथा कला-पक्षमें अध्ययनकी प्रचुर सामग्री प्रस्तुत होती है। किन्तु उससे भी अधिक महत्त्वकी सामग्री उनके द्वारा निरूपित होनेवाला अध्यात्म-पक्ष प्रस्तुत करता है। उनके अध्यात्म-पक्षको लेकर विद्वानोंमें विभिन्न रूपसे विवाद खड़े हो गये हैं।

मान्मथ मूर्तियाँ

खजुराहोके मंदिरों-पर अलंकारकी जो मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं उन्हें मन्तव्य, प्रयोजन एवं उद्गम-परंपराकी दृष्टिसे तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। प्रथम तो वे मूर्तियाँ हैं जो पौराणिक आख्यानोंसे ली गई हैं। दशावतार, दिक्पाल, इन्द्र, अग्नि, यम, नैऋत्र, वरुण, वायु, कुबेर और ईशान आदिकी मूर्तियाँ मंदिरके भीतरी भागमें देवतायतनकी बाह्य भित्तिपर किन्तु प्रदक्षिणा-पथके भीतर पाई जाती हैं। दीवारोंके बीच-बीचमें स्तम्भवाले आलोंमें तो ब्रह्मा, विष्णु और शिवकी मूर्तियाँ ही प्रतिष्ठित की गई हैं। ऐसे ही देवतायतनके प्रवेश-द्वार-पर शिल्प-चित्रोंके बीचमें स्थान-स्थानपर तप-निरत साधकोंकी मूर्तियाँ बनाई गई हैं। द्वार-पार्श्वोंके आधारोंपर सामान्यतया सरिता-देवियोंके रूपमें अपने वाहनों-

---

१. आ० स० रि०, भाग २. पृ० ४२६।

के साथ गंगा-यमुना तथा अन्य जलचरोंकी मूर्तियाँ खचित हैं। जैन मंदिरोंके अंतः-भागमें भी ऐसे ही जैन आख्यानोंके आधारपर देवताओंकी मूर्तियाँ उपस्थिति की गई है। घंटाई मंदिरके प्रवेश-द्वारके ऊपर गरुड़-वाहना अष्टभुजी जैन देवीकी मूर्ति है जिनके सिरोंपर तीर्थंकरोंकी मूर्तियां हैं। खाली स्थानोंपर नवग्रहोंकी मूर्तियाँ विरचित हैं। आदिनाथके मंदिरके देवतायतनकी भित्तिके स्तम्भ-आलोंमें जैन देवताओंकी प्रतिष्ठा की गई है। ये अपने वाहनोंपर विविध अस्त्रशस्त्रों—ढाल, त्रिशूल, कृपाण, अंकुश, पताका, वाण, धनुष आदि से सुसज्जित हैं। पार्श्वनाथ मंदिरमें भीतर भी इस प्रकारकी मूर्तियाँ खचित हैं।

दूसरे प्रकारकी मूर्तियाँ वे हैं जो भीतर ही मंडप और अर्धमंडपके अलंकरण-के लिये प्रयोगमें लाई गई हैं। अर्धमण्डप, मंडप और महामण्डप परिपुष्ट और अलंकृत स्तम्भोंपर बने हैं। स्तम्भोंके नीचेका भाग तो सादा है किन्तु शीर्ष भाग बेल-बूटों, लता-वितानोंसे अलंकृत हैं। उसीके बीच-बीच यक्षिणियोंकी मूर्तियाँ हैं, जिनके पदोंके नीचे मनुष्य वामन रूपमें दबा है। इसकी मुद्रा बड़ी महत्त्वपूर्ण है। वामनकी कमर झुक गई है। और उस पदाक्रांत पुरुषकी आँखें और जिह्वा निकल आई है, मुखाकृति विकृत हो गई है—जैसे उसके प्राण निकलने वाले ही हों। ऐसी मूर्तियाँ प्रायः सभी जैन और हिन्दू मंदिरोंके भीतर—मण्डप-स्थलों और प्रवेश-द्वारों पर बनी हैं। देवताओंकी मूर्तियोंके प्रतिष्ठा-स्थलोंके सामने, देवतायतनके समक्ष—मंदिरोंके भीतरी भागमें इनकी स्थिति उद्देश्यसे खाली नहीं है। इनका प्रयोजन अलंकरण और रचनातक ही सीमित नहीं है।

तीसरे प्रकारकी वे मूर्तियाँ हैं, जो मंदिरकी बाहरी भित्तिपर कटिभागके ऊपर बनी हैं। इन मूर्तियोंकी क्रमसे तीन पंक्तियाँ—प्रत्येक चौड़ी पेटीमें—गई हैं। इनमें एक श्रेणी तो उन मूर्तियोंकी है जो हिन्दू देवताओं और देवियोंकी हैं। दूसरी श्रेणी दिक्पालों और स्त्री-पुरुष वेशमें नाग-देवोंकी है। तीसरी श्रेणी अप्सराओं और सामान्य नारियोंकी है। इस तीसरी श्रेणीकी मूर्तियाँ सभी प्रकार के मान्मथ और रतिविषयक हाव, भंगिमा और मुद्राओंका नग्न प्रदर्शन कर रही हैं। इनमें कामशास्त्रकी कितनी ही उत्कृष्ट, उद्दीपन-भरी मूर्तियाँ हैं। पवित्र देवालयोंपर इन मूर्तियोंकी साहसके साथ प्रतिष्ठा न केवल विस्मयका बल्कि एक गवेषणाका विषय बन गया है। उस युगमें धर्मके साथ ऐसी मान्मथ मूर्तियोंका संबंध एक युग-व्यापक प्रवृत्ति, विचारधारा अथवा मान्यताका भी प्रश्न खड़ा करता है। इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि होनी चाहिये।

यों तो इन प्रश्नोंका समाधान कुछ प्रसिद्ध कला-विशेषज्ञोंने चलते रूपसे कर दिया है। ऐसे प्रायः सभी समाधान सीधे और पृष्ठभूमि-विहीन हैं। कुछका मत है कि हिन्दू जीवनमें अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये सत्य-चतुष्टय हैं। जीवनमें सबकी स्थिति सहज है और इनकी महिमा भी सीमाके भीतर समान है। देवालयोंपर कामका प्रदर्शन ऐहिक जीवनमें अध्यात्मके समन्वयका संकेत है—यद्यपि अश्लील

माध्यम हो गया है। श्री बी० एल० धामने इन मान्मथ मूर्तियोंकी व्याख्या भिन्न की है। उनका कथन है कि ऐसी नारी-मूर्तियोंके सम्पर्कमें या निकट स्थापित तपस्वियोंके विमोहनके लिये ऐसी रतिप्रधान मूर्तियाँ बनाई गई हैं।[1] यूरोपीय विद्वानोंने तो अश्लील मूर्तियोंको देखकर कुछ दिन पूर्व हिन्दूधर्मके संबंधमें विकृत धारणाएँ बना ली थीं और हिन्दू-आचारके संबंधमें काल्पनिक निर्णय दे डाला। वस्तुतः स्थिति भिन्न है। विष्णु-मंदिर वास्तवमें प्रकृतिके सक्रिय सिद्धान्तोंका सजीव प्रतीक था। अलंकारकी ऐसी सभी मूर्तियाँ दार्शनिक मान्यता-संबंधी स्थूल भावनाओंका विश्लेषण करनेवाली लोकप्रिय कला-रूप थीं। "उनका शिल्प और उनकी कला हिन्दुओंकी दार्शनिक भावनाओंका आधिकारिक भाष्य होती थीं।"[2]

फिर भी मंदिरोंके बहिर्भागपर इस रूपमें मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा एक विशेष प्रवृत्ति और लोक-रुचिका परिचय देती है। भीतर तो आराधनाके लिये प्रतिष्ठित पावन मूर्ति है किन्तु बाहरकी देवालय-भित्तिपर कहीं कुत्सित और ग्राम्य मूर्तियाँ, कहीं अश्लील और वीभत्स नारी-पुरुष-मुद्राएँ और कहीं रति-विषयक और सांसारिक चेष्टामें निरत दुर्बल मानव खचित है। सामान्य रूपसे यह जीवनका केवल दो पहलू अथवा विरोधाभास नहीं है। बाहरका यह पुंजीभूत रूप 'संसार' का प्रतीक है। भीतरकी 'देव-प्रतिमा' अध्यात्म, कैवल्य अथवा धर्मका प्रतीक है। जब बाहरके संसारको पारकर प्राणी आगे बढ़ता है तभी वह धर्म-मूर्तिके पास पहुँचता है। यदि संसारके उस नग्न और विमोहक विषयोंने मानवको बाँध लिया तब उसका अध्यात्म और कैवल्यकी ओर अग्रसर होना तो दूर रहा वह उसी पंकमें संसार-कीट बन जायगा।

जैन-मंदिरोंके बाहर वामनकी मूर्तियाँ हैं। उनके ऊपर उन्हें अपने चरणसे दबाये नग्न यक्षिणियाँ खड़ी हैं। यक्षिणी पूर्ण यौवनमें है। वामन उसके चरण भारसे दबा जा रहा है—कमरसे झुक गया है, मुखाकृति विकृत हो गई है, आँखें निकल आई हैं। यह वासनाके समक्ष मनुष्यकी दुर्बलताका समर्पण है, हेय बन जाना है। वामन-रूप मनुष्यके झुकनेका प्रतीक है, अतृप्त वासना-रूप नारीके सन्मुख उसके नगण्य बन जाने का। यहाँ भी ऐसी मूर्तियोंका यही उद्देश्य है। ऐसी मूर्तियाँ बाहर इसलिये रक्खी गई हैं कि बाह्य रूपसे संसार ऐसा ही है। यह उसका प्रकट रूप है। इसके भीतर जीवनकी मूल धारा—अध्यात्मका प्रवाह है। कोई यदि उसी संसारमें उलझ पड़ा तो अध्यात्मतक नहीं पहुँच सकता। बाहरका मानव—दीन मानव सामान्यतया वासनामें भूला और अनुरक्त दीखता है। संसारके इस प्रकट रूपका तिरोहण देवालयके भीतरके अध्यात्ममें होता है। यही खजुराहोके मंदिरोंकी बाहरी भित्तिपर खुदी रति-विषयक मूर्तियोंका प्रयोजन है।

---

१. 'ए गाइड टू खजुराहो पृ० १०।

२. ए स्टडी आव् इण्डो-आर्यन सिविलजेशन, पृ० २१२।

इन मंदिरोंके एक सामान्य दर्शनार्थीकी अवस्थाको लीजिये। इन देवालयोंके पास पहुँचते ही वह बाहरी अलंकरणको देखना आरम्भ करता है। यदि वह मान्मथ मूर्तियोंमें अनुरक्त हो कुरुचिसे प्रभावित हो जाता है तो न तो उसमेंदेवालयकी सहज पावन भावनाका उद्रेक हो पायेगा और न देवतायतनकी धर्ममूर्तिमें उसकी अनुरक्ति हो सकेगी। यहाँ भी उसे भावनाओंके नियमन एवं इन्द्रिय-संयमकी ही पतवार पकड़नी होगी। भूमण्डलपरका प्रकीर्ण संसार मंदिरकी बाहरी भित्ति पर प्रतीक रूपसे उपस्थित उसकी अध्यात्म-प्राप्तिमें बाधक हो गया। लेकिन यह संसार जितना अवास्तविक है उतना ही अनित्यमें अनिवार्य और वास्तविक है। ऐसा विश्वास इस शतीतक कुछ सम्प्रदायोंमें प्रौढ़ हो चला था। उन्होंने इस संसारमें अनिर्लिप्त होकर अथवा उसका त्यागकर नहीं, उसका भोग कर ही अध्यात्म-की प्राप्तिमें विश्वास कर लिया था। संसार-संबंधी तृष्णा मारनेके लिये भोग-द्वारा तृप्ति उत्पन्न करनेमें उनका विश्वास हो गया था। मुख्य रूपसे इन्हीं विश्वासोंके आधारपर देवालयोंपर अश्लील और उत्कृष्ट मान्मथ मूर्तियोंकी रचनाका विकास हुआ।

इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या है? धर्मभावना और दर्शनकी ऐसी अभिव्यक्ति और इस प्रकारकी कलाके माध्यमसे, निःसन्देह कोई आकस्मिक घटना नहीं है। सतत विकसित होनेवाली धर्मपरम्पराओंमें इसका सूत्र देखा जा सकता है। इतिहासकार भगवतशरण उपाध्यायने इस संबंधमें जो समाधान प्रस्तुत किये हैं वे अधिक ऐतिहासिक तथ्योंसे सम्बद्ध और समीचीन हैं।[१] देवालयोंका ऐसा रूप केवल खजुराहो-तक ही सीमित नहीं है। इसका प्रादुर्भाव बौद्ध स्तूपोंसे हो जाता है। फिर क्रमसे भुवनेश्वर, कनारक, पुरीके जगन्नाथ, इलौराके कैलास और खजुराहोके मंदिरों तक पहुँचकर इस रूपमें आ गया। काशीके नेपाली मंदिरमें भी रतिविषयक उत्कृष्ट मूर्तियोंकी रचना उन्हीं आधारोंपर हुई है। इसका सूत्रपात बेसनगरकी यक्षिमूर्तिसे होता प्रतीत होता है। उक्त इतिहासकारकी गवेषणामें इस प्रकारके दर्शनका विकास दो स्वतंत्र साधनोंसे हुआ। प्रथम तो बौद्ध धर्मका माध्यम है। हीनयान जो बौद्धोंका मूल रूप है, उसका संबंध व्यष्टिसे था। यह प्रतीकात्मक और अमूर्त सत्तामें विश्वास करनेवाला था। इसमें बुद्धके शरीर, रूप और व्यक्तित्वसे अधिक उनकी शिक्षा थी। किन्तु इस अविकारी भावनाका विकास क्रमशः व्यक्तकी ओर होने लगा। यहीं वास्तवमें हीनयानसे दार्शनिक प्रस्थानका उपक्रम प्रारम्भ हुआ। तब तथागतके उष्णीष, चरण, धर्मचक्रप्रवर्तन-मुद्राके हस्त, चैत्य, बोधि-वृक्ष उनकी शिक्षाके प्रतीक रूप प्रस्तुत हुये और पूजे जाने लगे। निःसन्देह हीनयान सामान्य और सर्वग्राह्य मार्ग

---

१. दी जर्नल आव् दी बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, भा० ५ अ० २, १९४०, पृ २२७।
१. वही. पृ० २३४।

नहीं था। समष्टिके निर्वाणके लिये शकटकी आवश्यकता ज्यों-ज्यों प्रतीत हुई त्यों-त्यों मूर्त, स्वरूपधारी, लोकसापेक्ष रूपकी ओर बौद्ध अग्रसर होने लगे। फलतः बुद्ध जो प्रतीकोंमें अचित होते थे स्वयं मानव-मूर्तियोंमें भी प्रतिष्ठित हुये। गीताने ब्राह्मण-धर्मके भीतर भक्ति-मार्गके प्रादुर्भावके लिये उर्वरक्षेत्र बना ही दिया था। इसने भी बौद्ध धर्मके शीघ्रतासे परिवर्तित होनेवाले रूपको बल दिया। इस नवीन कलेवरवाले बुद्धके साथ उनके गण बोधिसत्वों और अर्हतोंने भी मानव-मूर्तियाँ ग्रहण कीं। यही महायान धर्मका स्पष्ट रूप हुआ। इसमें अर्हतने केवल अपने ही निर्वाणका ही नहीं लोक-का भी प्रतिनिधित्व किया। महायानने तथागतको एक ऐसा मूर्त रूप प्रदान किया कि बौद्ध धीरे-धीरे उसकी सीख और सूक्ष्म धारणा-को भूलकर इस व्यक्त सत्ताको अपना सर्वस्व समर्पण करने लगे। तात्पर्य यह है कि बौद्ध दर्शनने हीनयानसे महायानकी यात्रा की।[1] इस दार्शनिक परिवर्तनकी अभिव्यंजना—साहित्यमें नागार्जुनने की और कलाके क्षेत्रमें स्थान-स्थानपर हुआ।

बुद्धको इन मानव-मूर्तियोंके साथ ब्राह्मण-धर्मके अगणित देव-वृन्द भी प्रतिष्ठित किये जाने लगे। इन यक्षों और देवताओंकी प्रतिष्ठा ज्यों-ज्यों बौद्ध मंदिरोंमें बढ़ने लगी त्यों-त्यों एक ओर तो कलाका रूप बदलने लगा दूसरी ओर अनेक जटिल परिचर्यायें समाविष्ट होती गई। अंततोगत्वा महायानियोंका मानव-मूर्ति-बुद्ध सर्वशक्तिमान्, सर्वव्याप्तके रूपमें ग्रहण कर लिया गया। अब इसकी अर्चना रहस्यमय रूपसे होने लगी। मंत्रोंके प्रयोग बढ़े। यहीं बौद्धधर्म महायानसे बढ़कर मंत्रयानतक पहुँचा। मंत्रयानी बौद्धोंने सिद्धि-प्राप्ति करना आरम्भ किया। उन्होंने हठयोगका सहारा लिया। ऐसे सिद्धोंके रहस्यमय और चमत्कारपूर्ण आचरण-ने न केवल लोगोंको विस्मित किया बल्कि सरलचित्त नारी-समाजको आकृष्ट कर लिया। फलतः सिद्धोंने विहारोंमें मंत्र तथा हठयोगके साथ-साथ भक्तिके नामपर मैथुनको प्रश्रय दिया।[2] कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जब इस विचारणाने धर्म-को अच्छादित कर लिया, तब कलाने भी जो देवालयोंसे सम्बद्ध हो गई थी, उस भावनाका प्रत्यक्षीकरण किया।

उक्त भावनाकी विकृति होती ही गई। उस समयतक 'वैपुल्यवाद'' और 'अधकनिकायों' ने मैथुनको बढ़ावा दिया ही था, फिर सातवीं सदीमें उड़ीसाके 'श्री पर्वत' के सिद्धोंने स्पष्ट रूपसे रति-भावको बल दिया। यही वज्रयानियोंका पीठ बना। मंत्रयानका बीभत्स रूप ही वज्रयान बना, जिसमें मधु-महिला ही सिद्धों-की सिद्धि-साधिका बनी। वज्रयानियोंका साहित्य भी कम विस्तृत नहीं हुआ। गुह्य समाजतंत्रसे तो यहाँतक प्रकट होता है कि इन सिद्धोंने पत्नी, तथा माता, पुत्री

१. वही. २३०।
२. वही. पृ० २३१।

और बहनमें कोई भेद नहीं रक्खा था।[1] ग्यारहवीं सदीतक ऐसे सिद्धोंकी संख्या बहुत बढ़ गई थी—यही समय पुरी और खजुराहो आदिके मंदिरोंकी रचनाका है जिनपर रतिविषयक मूर्तियाँ दार्शनिक व्याख्याके लिये रची गई हैं। वज्रयानने अपना क्षेत्र विशेष रूपसे उड़ीसा बनाया।

श्री भगवतशरण उपाध्यायने इस बातको भली प्रकार स्पष्ट किया है[2] कि वज्रयानी बौद्ध सिद्ध जिस भोग और लिप्साकी भावनाका निदर्शन कर रहे थे ठीक उसी भावनाकी अभिव्यक्ति ब्राह्मण-धर्मके तांत्रिक उस समय कर रहे थे। किन्तु दोनोंका दो स्वतंत्र मार्गोंसे अपने क्रमसे विकास हुआ था।

ब्राह्मण-धर्ममें शक्तिकी पूजा वेदयुगीन है। आगम और तंत्र साहित्य-द्वारा ई० पू० प्रथम शतीतक उसका पर्याप्त विकास हो गया था। शाक्तोंने भी रहस्य और चमत्कारके मार्ग अपनाये। शाक्तोंके नवरूप तांत्रिक हुये जिन्होंने रहस्यके साथ नारी, भोग और तंत्रको खूब महत्व दिया। तांत्रिकोंका विकास जब कापालिकों और अघोरपंथियोंके रूपमें हुआ तब उनकी सभी चेष्टाओंमें वज्रयानियोंकी लिप्सा आदि दिखलाई पड़ी। अंतर यही था कि इनका क्षेत्र कामरूप और बंगाल-में था। सातवीं सदीके पश्चात् कामाख्या पर्वतसे इस भावनाका प्रयाण क्रमशः पश्चिममें हुआ। विंध्यमेखला और मध्यभारततक वज्रयानियों तथा तांत्रिक-कापालिकोंकी मान्यताका समवेत स्वर गूंज गया था। चन्देल मंदिरोंपर रति-विषयक और मान्मथ मूर्तियोंकी रचना वस्तुतः इसी पृष्ठभूमिपर हुई। जहाँ भी मंदिरोंकी कलामें इस प्रकारके दृश्य प्रस्तुत किये गये हैं—उनके पीछे यही ऐतिहासिक क्रम है।

जहाँतक कलामें नग्न मूर्तियोंके प्रदर्शनका प्रश्न है, यह भारतीय कलामें पुरातन मनोवृत्ति है। कलामें यक्ष और यक्षिणीकी परम्परा इस भावनाके मूलमें है। शुंगयुगीन जो यक्ष और यक्षिणियाँ साँची और भारहुतके तोरणोंसे लगी मिलती हैं वे अर्धनग्न हैं। कुशाण और गुप्त युगतक इसकी बहुलता हो जाती है। जैसेरीतिकालमें हिन्दी कवियोंने राधाकृष्णको नायिका-नायकके लिये पकड़ लिया, उसी प्रकार यक्ष-यक्षिणीको इन सम्प्रदायोंने अपनी लिप्साके लिये पकड़ा। स्तूपोंके साथ जो वैचित्र्यपूर्ण संबंध नग्न यक्षिणियोंका है, वही संबंध उन मान्मथ मूर्तियोंका देवालयकी पावन-पूज्य मूर्तियोंके साथ है। उसी मूलरूप भावनाका विकास है। एक विश्व है तो दूसरा अध्यात्मकी अलौकिक विभुताका संस्पर्श। खजुराहोकी मान्मथ मूर्तियोंका तात्पर्य इससे अन्यथा नहीं लिया जा सकता।

---

१. गुह्य समाजतंत्र. पृ० १२०–१३६।

२. दी जर्नल आव् दी बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, भाग ५. अंक २. सन् १९४० पृ० २२७–२३४।

गठन और अलंकरण

यह स्मरण रखनेकी बात है कि चन्देल मूर्तिकला और शिल्प निष्प्रभ और साधारण नहीं है, जैसा कि जेनरल कनिंघमका मत है।[1] हिन्दू-देवताओं और देवियोंका जो प्रतिनिधित्व भिन्न स्थिति और स्वरूपोंमें किया गया है, उसकी विशुद्धता और यथार्थताने बहुत अर्थोंमें मध्यकालीन सभी अन्य शिल्प-मूर्तिकलाको पीछे छोड़ दिया है। फिर उनकी अलंकरणकी रीति भी उससे कम चित्ताकर्षक नहीं है। बाहरकी मूर्तियोंमें रूप-लावण्यका ध्यान नहीं रक्खा गया है बल्कि कहीं-कहीं तो कुरूपताको स्थान दिया गया है। यह प्रवृत्ति लोक-सामान्यकी केवल एक धारणा प्रकट करती है कि कहीं कुदृष्टि न लग सके। भीतर विविक्तस्थानमें प्रतिष्ठित पावन मूर्तियाँ, जिनकी अर्चना की जाती थी, किसी भी प्रकारसे शोभाहीन या निष्प्रभ नहीं होती थी।

यह प्रकट है कि मूर्तिकला रचना और सौष्ठवकी दृष्टिसे चित्रकलासे अधिक दुरूह है। इसमें हस्तकौशल और शरीरव्यवच्छेद विज्ञानकी और गहरी जानकारी की आवश्यकता होती है। चन्देल मूर्तियोंका परीक्षण इस आधारपर किया जाय तो ज्ञात होगा कि पशुओंसे लेकर मानव और मानवेतर मूर्तियोंकी सुषमाके निर्माणमें उन कलाकारोंने अद्भुत नैपुण्यका उदाहरण दिया है। खजुराहोकी वाराह मूर्ति अथवा नन्दि-मंदिरके नन्दिको ही उदाहरणमें रखना पर्याप्त है। यह सौष्ठवकी बात रही। इन पत्थर-प्रतिमाओंके माध्यमसे साधक कलाकार जिस आध्यात्मिक सन्देशको उद्घोषित करना चाहता है, वह मूर्तिकलाकी वास्तविक विशेषता है। वस्तुतः वह नश्वर मानवके रूपमें देवताओंकी मूर्ति-प्रतिष्ठा करता है, किन्तु उसकी भावनामें निहित अलौकिककी छबि, गरिमा और निराकुलता उसे देवत्वकी ओर बढ़नेके लिये प्रेरित करती है। उसकी प्राप्तिके लिये उसे निरपेक्ष साधक बनकर समर्पण कर देना पड़ता है। वह साधना, मंत्र-कल्प और योगकी सीढ़ियोंसे सफलताके साथ चढ़कर मूर्तिकारके अधिकारपर पहुँचता है। वहाँ उस पूज्य देवके साथ, जिसकी मूर्ति-रचनाका संकल्प उसके मनमें है, उसका नैसर्गिक तादात्म्य हो जाता है। वह स्वयं देव हो जाता है। 'देवो भूत्वा देवं यजेत' की निरुपम रसमयता समस्त परिस्थितिको अभिषिक्त कर देती है। फिर उसकी मूर्तिके गठनकी कुरूपता और अंग-विन्यासकी शिथिलता यदि कहीं हो, तो महत्त्व नहीं रखती।[2] क्योंकि वह तो अपनी भावनामें स्थित सौंदर्यका ही प्रत्यक्षीकरण उस देव-मूर्तिमें करता है। यदि खजुराहोकी किसी मूर्तिमें यह शिथिलता प्राप्त होती है तो उसे कलाकारका प्रयोजन समझना चाहिये। श्री वी० ए० स्मिथकी

१. आ० स० रि०, भाग २. पृ० ४२९।

२. दी स्प्लेन्डर दैट वाज इण्डिया, के० टी० शाह. पृ० १३७।

मध्ययुगीन मूर्तिकलाके प्रति जो धारणा है[1] वह उचित नहीं। क्योंकि मूर्तिकलाके सभी ऐसे आलोचक देवमूर्तियोंकी अपने मनमें एक काल्पनिक सौंदर्य-धारणा बन जानेके कारण उसे कुरूप ठहराते हैं। उन्हें उस मूर्तिके पीछे निहित पौराणिक वृत्त अथवा कलाकारकी सौंदर्य-भावना भूल जाती है।

असामान्य रूपवाली जो भी मूर्तियां खजुराहोके मंदिरोंपर अलंकरण और अन्य प्रयोजनोंसे बनाई गई हैं उनमें अन्योंके अतिरिक्त अश्वमुखों और कार्तिकेय-की मूर्तियाँ ही अधिक है। ऐसी सभी मूर्तियोंका प्रयोजन भारतीय कलाकारोंके लिये वही है, जिसकी व्याख्या ऊपर की गई हैं। ऐसी मूर्तियाँ यहींके कलाकारों-की मनोवृत्तिका परिणाम नहीं हैं। यूनान और मिस्रके कलाकारोंने भी ऐसी रचनाएँकी हैं।[2] वस्तुतः कला तो भावनाकी अभिव्यक्ति है। रचनाके द्वारा जिस भावनाकी अभिव्यक्ति अपेक्षित है, यदि उस अंतर्वेगकी पूर्ण अभि-व्यंजना उस कलाखण्डसे हो जाय तो उसकी पूरी सफलता समझनी चाहिये।[3] इसीलिये दश-भुजी, महिष-मर्दिनी, चतुर्भुज, नटराज अथवा गणेश सभी एक सुन्दर कला-खण्ड माने गये हैं। ये अंतर्निहित भावनाको व्यक्त करनेमें पूरे सफल हैं।

मंदिरोंका पृष्ठभाग या तल बहुधा अनेकानेक अलंकारोंके प्राचुर्यसे भरा है। ये मूर्तियाँ पश्चिमी सौंदर्य-मीमांसाके प्रतिकूल कल्पनाओंपर विरचित हैं। यहाँ भारतीय शिल्पियोंने अपनी रीतिसे पुरुष पुरुषोत्तमकी प्रकृति तथा उन व्याप्त शक्तियों-का विश्लेषण किया है, जिनके आधारपर धर्मकी सत्ता अवलंबित है। देवगढ़के मंदिर भी अपनी मूर्ति-कलाकी उत्कृष्टताकी दृष्टिसे महत्त्वके है। इनमें अलंकारोंसे विभूषित क्रमिक रूपसे बने हुये फलक हैं और चतुर्दिक शिल्पसे आपूर्ण भित्तिवाली वीथिकाएँ हैं। मूर्ति-रूपोंका विन्यास और मुद्रा-सौष्ठव सामान्यतया कल्पनाओंसे भरा है। उदाहरणके लिये, सुप्त विष्णुकी रचनामें अंगविन्यास सरल नहीं है। वह जितना ही ललित है, उसकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही सुरुचिपूर्ण है। जिसने भी इन मूर्तियों और शिल्प-खण्डोंको एक बार भी देखा उनकी विभुताने उन्हें गहरे रूपसे प्रभावित किया।

चित्रकला

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि चन्देल चित्रकलाका कोई प्रभावकारी नमूना नहीं प्राप्त होता। मूर्तियों परके आलेखन ही केवल इसके उदाहरण हैं। भीतरकी मूर्तियाँ बड़े श्रम और वैभवसे नीले, हरे, लाल और पीले रँगोंमें रंगी गई हैं। आजकी उनकी अमलिन दीप्ति यही प्रकट करती है मानो हाल में ही उनपर

---

१. इम्पीरियल गजेटियर, भ २।

२. दी स्प्लेन्डर दैट वाज इण्डिया. पृ० १३४५।

३. 'ल्यूनार्डो डा विंसी' से उधृत--वही, पृ० १४५।

वार्निशका लेप किया गया हो। खजुराहोके जैन मंदिरोंमें भी केवल रंगलेप केही रूपमें चित्रकलाके उदाहरण मिलते हैं।

मुद्रा-पद्धति

चन्देल शासकोंकी मुद्रा पद्धतिके विषयमें कुछ विद्वानोंने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। उन सबका तात्पर्य यही है कि यह पद्धति चन्देलोंमें मौलिक नहीं थी। उनमें पूरा अथवा आंशिक अनुकरण था। मुद्राओंकी बनावट अथवा धातुके साम्यके आधारपर ही ऐसे मतोंको प्रोत्साहन मिला है, और कोई आधार नहीं है। एक मत तो यह है कि चन्देलोंके स्वर्ण-सिक्के पश्चिमी चेदि राजा गांगेयदेव तथा कलचुरीके हैहयवंशीय राजा दाहलके सिक्कोंसे मिलते-जुलते हैं। ज्ञात ऐसा होता है कि चन्देलोंके स्वर्ण सिक्के गांगेयदेवके सिक्केकी प्रतिकृति है, जो महमूद गजनवीका समकालीन था। एक दूसरे प्रकारकी धारणा जेनरल कनिंघमने व्यक्त की है। उनके अनुसार चौदहवीं सदीके आरम्भतक कश्मीर और पंजाबमें भारतीय-सीदियन ताम्र सिक्के चलते रहे और 'अश्वारोही' और 'नन्दि-शैली' के काबुलके सिक्के गजनवी और गोरी वंशके शासकोंमें तथा उत्तर-पश्चिमी भारतीय राजपूत शासकोंमें प्रचलित थे। उनका यह भी मत है कि चेदियों द्वारा भारतीय शैलीपर जो 'पार्वती' छाप के सिक्के प्रचलित किये गये थे वे भी महोबाके चन्देलों-द्वारा ग्रहण किये गये।[1] इन मतभेदोंके ब्योरेमें न जाते हुये भी ऐसे आरोपोंके तथ्यतक पहुँचनेका एक सीधा मार्ग यह है कि चन्देल मुद्राका विश्लेषण ऐतिहासिक प्रक्रियासे किया जाय।

गांगेयदेवने जिस सिक्केका प्रचलन किया वह इस अर्थमें मौलिक था कि उसने गुप्त सिक्केसे केवल 'लक्ष्मी' को लिया; अन्यथा, वह साधारण और कलाकी दृष्टिसे भद्दे थे। ये 'लक्ष्मी-शैली' अथवा 'गांगेयदेव शैली' के कहे जाते हैं।[2] जैसा कि अध्याय सातमें उल्लेख किया गया है, कीर्तिवर्मनने 'गांगेयदेव-शैली' के सिक्कों-का अनुकरण किया—उस समय जब, उसने अल्पकालीन चेदि-विजयको सर्वदाके लिये भंगकर फिर प्रभुसत्ता स्थापित की थी। उसने अनुकरण इसलिये किया था कि उसी शैलीके सिक्के जेजाभुक्तिमें कुछ पहलेसे ही प्रचलित हो चुके थे। पहले पहल जिस चन्देल शासकके सिक्के प्राप्त होते हैं, वह कीर्तिवर्मन् ही हैं। उसने सम्भवतः १०६० ई० में निर्माण आरम्भ किया। आकार और तौलमें कीर्तिवर्मनके सिक्के 'गांगेयदेव शैली' के थे। इसी शैलीके स्वर्ण-सिक्के कीर्तिवर्मनके पुत्र सल्लक्षणवर्मन्-ने भी प्रचलित किये। उसके भावी उत्तराधिकारी मदन-वर्मन्देव, परमर्दिदेव, त्रैलोक्यवर्मन् एवं वीरवर्मन्ने भी इसी शैलीको अक्षुण्ण रक्खा।

---

१. क्वायन्स आफ मेडिवल इण्डिया, भूमिका।

२. भारतीय सिक्के, पृ० १८२।

इन सिक्कोंके अग्रभागमें तीन पंक्तियोंमें राजाका नाम अंकित है। इसके पृष्ठ भागपर बैठी हुई लक्ष्मीकी मूर्ति है जिन्होंने एकके ऊपर दूसरा पाँव रक्खा है। इसमें रूप चतुर्भुजी लक्ष्मीका है, जो गुप्त-शैलीसे भिन्न है। ये सोनेके सिक्के द्रम (६२ ग्रेन) के तौलके होते थे। इनकेपृष्ठ भागपर बनी लक्ष्मीकी मूर्तिको जेनरल कनिंघम दुर्गा या पार्वती बतलाते हैं।[1] परन्तु यह तर्कपूर्ण नहीं।

सोनेके द्रमोंके अतिरिक्त चन्देलोंके चांदी और तांबेके सिक्के भी प्राप्त हुये हैं। पृथ्वीवर्मन और जयवर्मन्के केवल ताम्रके द्रम प्राप्त होते हैं। मदनवर्मन्के सोने, चाँदी और तांबे तीनोंके सिक्के प्राप्त होते हैं। वी० ए० स्मिथने इन सिक्कों-का विशेष विश्लेषण किया है।[2] कनिंघमने जयवर्मनके भी एक चाँदीके सिक्केकी चर्चा की है। डॉ० हुवेको मदनवर्मन्के लगभग २५ चाँदीके सिक्के प्राप्त हुये थे। चन्देलोंके तांबेके सिक्कोंके पृष्ठ भागपर 'लक्ष्मी' की जगह 'हनुमान' की आकृति मिलती है।

चन्देलोंके प्राप्त सिक्के अत्यंत नगण्य हैं, केवल पचास-साठके लगभग प्राप्त हुये हैं। ये सिक्के कीर्तिवर्मन्के युगसे आरम्भ होकर वीरवर्मन्देवके युगतकके प्राप्त होते हैं। वी० ए० स्मिथ इस बातपर आश्चर्य प्रगट करते हैं कि इतने लम्बे युगमें इतने कम परिमाणमें सिक्के तैयार किये गये। इसका कारण उन्होंने यह उपस्थित किया है कि चन्देलोंमें सिक्केका समारम्भ तभी हो सका जब वे चेदियोंके अधीन हुए।[3] तो क्या इसके पूर्वके चन्देल शासकोंका कोई अपना सिक्का नहीं था? इस संबंधमें स्मिथने कहा है कि 'कीर्तिवर्मन्के पूर्व शासकोंने सिक्केका उपयोग अवश्य किया। वे दूसरी शैलीके सिक्के थे। सम्भवतः भारतीय-ससैनियन द्रम थे।' लेकिन अभिलेखोंसे यह प्रमाण मिलता है कि उस समय भी नियमित सिक्के चलाये जाते थे। ये सिक्के मौलिक चन्देलोंके थे अथवा 'भारतीय-ससैनियन' थे—यह अब भी विवादपूर्ण प्रश्न है। कठिनाई इससे और भी बढ़ गई है कि उस युगका एक भी नमूना उपलब्ध नहीं हो सका है।

ऊपर वर्णित तीनों प्रकारके सिक्के एक परिपूर्ण मौद्रिक पद्धतिके द्योतक थे। इनके मूल्य भिन्न-भिन्न थे। सुवर्ण, चाँदी और ताम्रके कई तौल—द्रम, अर्द्ध तथा पाद—के बराबर सिक्के मिलते हैं।[4] सिक्कोंकी तौल—तत्कालीन प्रायः सभी राज्योंमें समान पाई जाती थी। तौलके कारण ही सुवर्ण द्रमके नामसे पुकारा जाता था। 'भारतीय-ससैनियन' सिक्के साठ ग्रेनके बराबर मिलते हैं।

१. क्वायंस आव् मेडिवल इण्डिया, भूमिका।

२. ई० ऐ०, १९०८, भाग ३७, पृ० १४६–४७।

३. वही।

४. भारतीय सिक्के, पृ० १८४।

चन्देलोंके यहाँ टकसालकी उत्तम पद्धति थी—इसमें सन्देह नहीं। यों तो मध्य कालीन सिक्के कलाकी दृष्टिसे गिर गये थे, फिर भी गांगेयदेवके सिक्कोंसे उत्तम सिक्के चन्देलोंने परिष्कृत कर तैयार कराये।

लिपि

जैसा कि पूर्वके अध्यायमें कहा जा चुका है, विभिन्न प्रांतीय भाषाओंके विकासके साथ साथ, स्वतंत्र लिपियोंका विकास भी हुआ। इन सभी लिपियोंका उद्गम-स्थान, इस देशकी प्राचीन राष्ट्रीय लिपि ब्राह्मी थी। चन्देलोंके अभिलेखोंमें सब ओर और सब समय एक ही लिपिका प्रयोग पाया जाता है। वह लिपि है मध्यकालीन नागरी लिपि। लेकिन अभिलेखकोंने उत्कीर्ण लेखोंके अंतमें अथवा शिल्पियोंने मंदिरोंके फलकोंपर अपने नाम कुटिल अक्षरोंमें अंकित किये हैं। परन्तु यह लिपि प्रचलित नहीं थी। नागरी लिपि ही वास्तवमें सर्वमान्य लिपि थी। इस लिपिकी लोकप्रियता अलबरूनीके विवरणसे भी प्रमाणित होती है।[1]

अभिनय और रंगशाला

इस युगके-नाटक गृहोंके विकास एवं अभिनय-कलाके संबंधमें समुचित ज्ञानके साधन उपलब्ध हैं। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक यशस्वी सम्राट् कीर्तिवर्मन्के राजभवनमें अभिनीत हुआ। इसकी योजना सामंत गोपालने की, जो इस कलाका मर्मज्ञ और एवं रसिक था। इस समयतक संस्कृत नाटकोंका उपयोग अभिनयके क्षेत्रमें आध्यात्मिक और लौकिक पक्षोंके लिये हो गया था। रंगमंचोंका विकास बहुत ही उत्कृष्ट था। अभिनय, वस्त्राभरण, रंग-व्यवस्था, प्रकाश-व्यवस्था, संगीत व्यवस्थाका वैज्ञानिक विकास हो चुका था। दस प्रकारके प्रकाश की व्यवस्थाके उदाहरण मिलते हैं। समय समयके वाद्योंका नियोजन भी बड़ा सराहनीय प्रतीत होता है। अभिनयमें नाट्य-नृत्यकी भी योजना रहती थी।

राजभवनमें रंगशाला तो थी ही, जनताके सामान्य विनोदके साधनोंमें भी रंगशालाओंका प्रयोग किया जाता था। बड़े-बड़े मंदिरोंमें निर्मित भव्य, सुविशाल महामंडप सार्वजनिक नृत्य और संगीतशालाके कार्यमें आते थे। खजुराहोके कंधारिया मंदिरमें उसका उत्तम उदाहरण वर्तमान है। देशमें राष्ट्रीय रंगशालाओंका उत्कर्ष चरम सीमातक पहुँचा था। जिनपर किसी भी प्रकारका बाहरी प्रभाव नहीं था। रंगशालाओंमें अलंकरणका सहारा परिस्थिति प्रस्तुत करनेके लिये लिया जाता था। आधुनिक नाटकोंके अभिनयमें प्रत्येक दृश्यके साथ रंगमंचपर जिस प्रकार स्थान-निर्देशकी योजना की जाती है वैसी उस समय श्लाघ्य नहीं मानी जाती थी। जंगल, उपवन, निर्झर, उद्यान, नदी-तट, पहाड़ी, वन-पथ, मरुभूमि, खेत, भवनोंके

१. अलबेरुनी, भाग २, पृ० ६१, अनु० सन्तराम, बी० ए०।

भीतर और बाहरके प्रकोष्ठ, युद्धक्षेत्र, आदि भारतीय रंगमंचपर पात्रों-द्वारा ही व्यक्त हो जाते थे। 'पात्र स्वयं अपने अभिनय और बातचीतसे उसका संकेत कर देते थे।'[1] रंगमंचोंका निर्माण, प्रेक्षकोंकी बैठक की जगह--सभी निर्धारित परिमाणसे बनती थी।

संगीत नृत्य

संगीत और नृत्यकलाके विकासके लिये चन्देल शासकोंने भरपूर आश्रय प्रदान किया। नृत्य स्वतंत्र कलाके रूपमें विकसित हुआ था। अभिनयके साथ उसका अंग-स्वरूप तो वह था ही। सार्वजनिक स्थान और गोष्ठी-गृहोंमें ऐसी कलाओं-का प्रदर्शन होता था। सार्वजनिक विनोदके रूपमें संगीत और नृत्य सबसे शिष्ट और उत्तम कला मानी जाती थी। संगीत सर्वाधिक लोकप्रिय कला थी। कलाकी दृष्टिसे संगीतके अनेक वर्गीकरण हुए थे। नाटकोंमें नृत्यके लिये प्रचुर अवकाश दिया जाता था।[2] इस युगमें इन कलाओंपर ग्रंथोंके रचे जानेकी भी सूचना मिलती है।

शिल्पकारी

तत्कालीन ग्रंथों और अभिलेखोंसे प्राप्त विवरण यही बतलाते हैं कि चन्देलों-के राज्य-कालमें विविध प्रकारकी शिल्पकारियोंका---स्वर्णकारी, लौहकारी, रत्न-कारी आदि--पूरा विकास हुआ था। उनके अनेक केन्द्र बन गये थे। लोगों-द्वारा प्रयोग होने वाले नाना प्रकारके वस्त्राभरण इस बातके साक्षी हैं। मूर्तियों और मंदिरोंके अलंकरणमें प्रयुक्त आभूषणोंसे इस कालकी अत्यंत उत्कृष्ट कलाका दर्शन होता है। किन्तु कुछ ऐसे शिल्प हैं जिनका इस साम्राज्यमें अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान पाया जाता है। यहाँ एक विशेष वस्त्रका व्यवसाय अत्यंत पुराना रहा है। वस्त्रोंके बेलबूटे, छाया और नक्कासी यहाँकी नैसर्गिक कलाभिरुचि प्रकट करती है। इसी प्रकार धातुओंके घरेलू पात्रोंकी तैयारी भी यहाँकी एक विशेष शैली थी। धातुओंकी मूर्तियोंका ढालना तथा उनसे खिलौनोंकी रचना बड़े ऊँचे दर्जेपर पहुँची थी।

पहाड़ी क्षेत्रोंमें तक्षण कलाका विकास इस युगमें निःसन्देह चरम सीमापर पहुँच गया था। आज भी मन्दिरोंके शिल्प-खण्डोंने विख्यात कलाविदोंको आश्चर्य-चकित कर दिया है। वहाँ के पत्थरोंसे अन्य गृहोपयोगी सामग्रियाँ भी तैयार की जाती थी। कुरंडम पत्थरसे बहुमूल्य वस्तुएँ बनाई जाती थीं। कालीन बनाने और रँगाईका काम करनेकी कला भी कम महत्त्वका स्थान नहीं रखती थी। तत्कालीन साहित्य-में स्थल-स्थलपर उसका मनोहर वर्णन मिलता है। चमड़ेकी कला यहाँकी अत्यंत प्राचीन देन है। चमड़ेसे सामग्री तैयार करनेकी यहाँकी एक विशेष शैली थी--उसके नमूने जहाँ-तहाँ आज भी दीखते हैं।

---

१. अभिनवनाट्यशास्त्र--पृ० १७३-१७४।

२. प्रबोधचन्द्रोदय, पृ० १२३।

काँच और लाखसे चन्देल साम्राज्यमें चूड़ियाँ आदि खूब बनाई जाती थी। यह कला आजकल प्रायः नष्ट हो चुकी है। यहाँके विख्यात अगेट पत्थरसे मूर्तियाँ, माला आदि भी बनाते थे—इसके भी प्रमाण मिलते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि शिल्प-कलाकी उत्कृष्टता और विविधताकी दृष्टिसे यह युग कम महत्त्वका नहीं था।

चन्देल वास्तु और शिल्प के गुण-दोष

विविध वास्तु और शिल्पोंका वर्णन-मात्र चन्देल-गौरव तथा उनकी कला-कृतियोंके एश्वर्यको पूर्णतः बोधगम्य रूपमें प्रकट करनेमें समर्थ नहीं है क्योंकि समय और राजसत्ताके परिवर्तनोंके व्याजसे उन कृतियोंके साथ विनाशका जो खेल खेला गया है, उस स्थूल अवगुण्ठनको पार करके आजकी दृष्टिका वास्तविकतापर पहुँचना सरल कार्य नहीं है। इस खोजमें तत्कालीन व्यक्तियोंके विचार अवश्य ही कुछ सहायक हो सकते हैं। उन सूत्रोंसे तत्कालीन कलाकी विभुताका संपूर्ण संस्पर्श किया जा सकता है। यशोवर्मन्‌के खजुराहो पत्थर अभिलेखमें उसकी कुछ वास्तु-कृतियोंका वर्णन उपलब्ध होता है।[1] उसने विष्णुके इस चित्ताकर्षक और भव्य सदनका निर्माण कराया—जो हिमवान्‌के शिखरसे प्रतिस्पर्धा करता है, जिसके स्वर्णशृंग नभमंडलको ज्योतिर्मान कर रहे हैं, और जिसपरके कमलदल उत्तुंग दण्डोंपर लहरते हुये ध्वज-समूहोंसे प्रसरित होते हैं; जिसको देखकर देवलोक-वासी उत्सवके लिये एकत्र होते हैं और हर्षातिरेकसे गद्‌गद हो उठते हैं। उनके आश्चर्यकी सीमा नहीं रहती।" यह कोई काव्य नहीं है। आज भी खजुराहोके कंधारिया महादेवके मंदिरपर दृष्टि डालनेपर इसके सत्यकी प्रतीति होती है।

भारतीय कला प्रतीकात्मक है। पश्चिमी मान्यताओंसे अभिभूत कुछ व्यक्ति समस्त हिन्दू कलाको अधोमुख और बीभत्स कहनेके आदी हो गये हैं। ऐसे व्यक्तियोंके समक्ष इस कलाकी श्रेष्ठता उपस्थित करना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। वे उसके प्राकृत और सुष्ठ रूपकी अनुभूति नहीं कर सकते। ऐसी अनभिज्ञता-पूर्ण आलोचना यह विवेक नहीं अपना सकती कि हिन्दू कलाके दोष ही उसकी श्रेष्ठताके द्योतक नहीं हैं। यह तो उनके उच्चतम आदर्शोंसे समझा जा सकता है। उपलब्ध अवशेषोंके समुचित और उदार निरीक्षण तथा अध्ययन-बिना वास्तविक अनुभूति भी सम्भव नहीं। चन्देलोंके वास्तु और शिल्प यद्यपि इस देशके पराभवके दिनोंके हैं, फिर भी मध्यकालीन हिन्दू वास्तुका सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व करते हैं।

फरगुसनका यह कथन पक्षपातपूर्ण है कि 'यह एक क्षणके लिये भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि भारतवर्ष कभी भी यूनानकी बौद्धिक महत्ता अथवा

---

१. ए० ई०, भाग १, पृ० १३४।

रोमकी नैतिक विभुता तक पहुँच सका था।'[1] ऐसी धारणाएँ खजुराहो-कलाके समझनेमें बड़ी बाधा डालती हैं। खजुराहोकी कला अनुभूतिको स्फुरण करने वाली है तथा उसने अपने मनोयोग और साधनाके बलपर अपनी कृतियोंमें देशकी मान्यताओंके साथ-साथ तत्कालीन रुचि-वैशिष्टयका विशुद्ध दर्शन कराया है। वास्तवमें भारतके सांस्कृतिक इतिहासमें यह वह युग था जब विदेशी सभ्यताओंके सम्पर्कसे उत्पन्न प्रतिक्रियाकी उर्मियाँ शान्त हो चुकी थीं अथवा निमज्जित होकर मौलिक बन गईं थीं। उस समय तुर्कोंके आक्रमण आरम्भ थे अवश्य किन्तु चन्देलोंके साम्राज्यमें न तो उनका प्रवेश हुआ और न आक्रमणकारियोंके पास यहाँके सांस्कृतिक जीवनको प्रदान करनेके लिये कोई सामग्री थी। कला, शिल्प, साहित्य और विज्ञानके माध्यमसे भारतीय जीवन अत्यंत प्रभावकारी रूपमें व्यक्त हो रहा था। उसकी नैसर्गिकताके विरुद्ध कोई आक्षेप नहीं दीखता। तत्कालीन इतिहासकार अलबरूनीका यह कथन सर्वथा समीचीन है कि "हिन्दुओंका यह विश्वास है कि यदि कोई देश है तो उनका और यदि कोई विज्ञान है तो उनका"। यह तत्कालीन गौरवमय सांस्कृतिक जीवनको व्यक्त करता है।

यह आरोप अधिकांश भ्रमात्मक है कि तत्कालीन हिन्दुओंकी सभ्यता और संस्कृति पतनोन्मुख हो चली थी और उसमें इतर संस्कृतियोंसे रचनात्मक संम्पर्क स्थापित करनेका सामर्थ्य नहीं था, ।[2] उस युगमें समाजके औदार्यमें संकोच अवश्य हो गया था किन्तु कला और शिल्पके क्षेत्रमें उनका उर्वर मस्तिष्क इस ऊँचाई-तक पहुँच गया था कि ब्राह्मण, बौद्ध और जैन कलाओंकी सीमाएँ ध्वस्त हो गई थीं और कलाके अवयवोंने भेद मिटा दिया था।

कला मनुष्यकी सापेक्ष शक्ति है। मानवकी अंतर्वृत्तियोंको स्वरूप देना उसका तात्पर्य है। अंतर्वृत्ति का ऐहिक और अलौकिक दोनों पक्ष उसके लिये समान प्रेरणा और सामग्री प्रदान करते हैं। जैसे साहित्य वैसे कला भी जन-जीवनका दर्पण है, प्रतिकृति है। यदि जीवनका सदाचार वारुणी-वनितामय हो गया है तो कलाकी सार्थकता उसीको मूर्त करनेमें है। वह उपदेश नहीं करती। उसका प्रयोजन भावनाओंका प्रत्यक्षीकरण है। कलाकी इस प्रशस्त कसौटीपर यदि चन्देल-कलाको परखा जाय तो ज्ञात होगा कि उसने अद्वितीय सफलता प्राप्त की है। उनके मन्दिरोंकी कलाने सामाजिक जीवनको इस सीमातक अपना आधार बनाया है कि दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। फिर उसकी रचनाकी उत्कृष्टता भी अपरिमित है।

खजुराहोकी कलामें कल्पनाकी गहनता और भावना तथा विचारोंकी सूक्ष्मता एक साथ ऐसी व्यक्त हुई है कि उसकी संश्लिष्ट छाप दर्शक को भावविभोर कर एक नवीन सृष्टिकी ओर खींच लेती है। शिल्पियोंकी दृष्टि कोमल भावनाओंके

१. ए स्टडी आव् इण्डो आर्यन सिविलजेशन, भूमिका।

२. एभ्यूल्यूशन आव् इण्डियन कल्चर—पृ० ३७३।

किस पहलू तक नहीं पहुँची है, नहीं कहा जा सकता। चन्देल-कलाका विकास युगके दार्शनिक विचारोंके समानान्तर हुआ था। फिर भी उसमें लोक-मंगलकी कामना बड़ी प्रबल थी। जब शैव और वैष्णवोंकी पारस्परिक स्पर्धा छत्तीसका रूप धारण कर चुकी थी तब शिल्पियोंने शैव मंदिरोंको विष्णुमय और विष्णु-मंदिरोंको शिवमय कर डाला। समन्वयकी यह धारा चन्देल-कलाकी विशेषता है। सौंदर्यके आदर्शकी प्रतिष्ठा, कलाकी अनिवार्य मान्यताओंका परिपालन, ललित और सूक्ष्मको पत्थर-पृष्ठोंपर मूर्त करने और प्रकृति और कल्पनाके संबंधको व्यक्त करनेमें मानवकी जिस दक्षताका परिचय मिलता है, उसका दूसरा उदाहरण उस युगमें अन्यत्र नहीं मिलता। इन सभी रचनाओंके पीछे धर्म-भावना थी।

मूर्तिकारोंकी छीनीसे जिस पत्थर-खण्डका स्पर्श हुआ कि उसने अनंत आकर्षण, विभव और सौंदर्यका रूप धारण कर लिया। उन्होंने न केवल अगणित हिन्दू देवी-देवों और जैन अर्हतोंको रूप प्रदान किया किन्तु तत्कालीन लोक-भावनाओंको भी कल्पना-नभसे खींचकर उसी कौशलके साथ मूर्तियोंमें अंकित कर दिया। भंगिमा और मुद्रामें तो यह कला गुप्तोंसे बहुत आगे बढ़ गई है। इसमें भारतीय कलाकारोंकी परिपक्व प्रतिभाकी पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। इसकी प्रत्येक मूर्तिसे एक आध्यात्मिक सन्देश प्रकीर्ण हो रहा है। अश्लील मूर्तियाँ तो मनुष्यकी सुरुचिको तुरत तौलने लगती हैं।

अलंकरणकी गहनताकी चर्चा की जा चुकी है। कलाकारोंने अलंकरणकी सामग्री जिस निष्ठासे देव-योनिसे ली है, उसी निष्ठासे प्रकृतिसे भी। कंधारिया मंदिरके मण्डपकी भीतरी छतका अलंकरण पत्थरकी पच्चीकारीका विरल उदाहरण है। वस्तुतः चन्देलोंकी समस्त कला कल्पनाको ऊँचे उठानेवाली है। इसमें प्रयुक्त अलंकारोंके सभी प्रतीक आर्योचित हैं। कल्पना, भाव-निरूपण, आध्यात्म-अभिव्यंजन, शिल्प और सुघटनकी दृष्टिसे यह कला मध्य-युगमें सर्वोत्तम है।

चन्देल कला का शैक्षणिक तात्पर्य

जिन्हें भारतीय कलाकी मान्यताओं, आदर्शों और रीतियोंकी जानकारी है तथा उसकी पृष्ठभूमिका परिचय है, उन्हें अनायास ही चन्देल-कलाके शैक्षणिक तात्पर्यका बोध हो जायेगा। पूर्वके वर्णनोंसे यह स्पष्ट हो चुका है कि भारतीय कलामें समाज, दर्शन, धर्म और विविध सांस्कृतिक कल्पनाओंकी अभिव्यक्ति होती है, जिसका समन्वय यहाँके निवासियोंमें है। कला-कृतियोंके माध्यमसे ऐसी सभी अभिव्यंजनाएँ जीवनको निर्देश देती हैं और प्रभावित करती हैं। चन्देल कलामें यही प्रगल्भता और विशेषता है। उसमें जीवनके सर्वांगीण सौष्ठवको उपस्थित करनेकी क्षमता निर्विवाद है। युगकी धार्मिक भावनाको वह बहुत स्पष्ट कर सकी है और उसके साथ लोकरुचिका समन्वय भी किया है। कलाके क्षेत्रमें वह एक परम्पराका बोध कराती है, जो जितनी ही विशुद्ध है उतनी ही मौलिक। लोक और अध्यात्म

दोनों परस्पर कैसे विरोधी हैं, फिर भी लोक एक अनिवार्य स्थिति रखता है, इसका सुन्दर निदर्शन खजुराहोमें प्राप्त होता है। देवालयोंके निर्माणकी बहुलताने चन्देलोंको यह अवसर अत्यधिक रूपमें प्रदान कर दिया।

शिल्पकार

यदि उस युगके कुछ कलाकारों, शिल्पकारों और स्थपतियोंकी निर्व्याज तपस्याके लिए उनके प्रति कृतज्ञता न प्रकट की जाय तो कला-वर्णनकी विशदता निःसन्देह अधूरी रह जायगी। यह सही है कि कलामें व्यक्तिगत छाप और स्वनिरूपण-अर्वाचीन उपक्रम है। भारतीय मान्यतामें कलाकारकी उत्तमताका परिचय उसकी कृति है। उसकी सत्ता कृतिमें अंतर्भूत है। इसी आदर्शके कारण प्राचीन कलाकारोंकी जीवनी कहीं नहीं मिलती। उस युगके कतिपय प्रसिद्ध कलाकारोंके नाम भर ज्ञात हैं। इनमें अच्युत, आसल, और इम-दराक युग-प्रतिनिधि थे। छिच्छा भी कितने ही मंदिरोंका कलाकार था। उसका विरुद था 'विज्ञान-विश्व-कर्त्तृ-धर्मधर-सूत्रधार।' प्रमथनाथका मंदिर उसीकी रचना है। ये सभी शिल्पी गुणग्राही चन्देल शासकोंके आश्रित थे।

अध्याय १६

उपसंहार

उस विस्तृत भूभागकी भौगोलिक रचना, बड़ी ही असामान्यताओंसे भरी है जिसपर चन्देल सम्राटोंने शासन किया था। उसका बोध आधुनिक बुन्देलखण्ड नामसे नहीं कराया जा सकता क्योंकि बुन्देलखण्ड अपने सुविस्तृत रूपमें भी उस समस्त भूभाग तक नहीं पहुँच पाता। यों तो इस भागके किसी-न-किसी अंगको लेकर प्राचीन समयसे अनेक नाम प्रयुक्त होते आ रहे हैं। लोक-प्रसिद्ध नामोंमें अवंति (दक्षिणी भागके लिए), वत्स (उत्तरी भागके लिए), चित्रकूट देश, दशार्ण, पद्मावती, युद्धदेश, कालंजर प्रदेश, कर्णावती, दाहल, पिप्पलादि, चेदि देश और जेजाकभुक्ति मिलते हैं। जेजाकभुक्ति नाम चन्देलोंने अपने साम्राज्यके लिए प्रयुक्त किया था, यद्यपि इस नामका प्रयोग भी उनके पूर्वसे ही होता आ रहा था। विविध प्रमाणोंके आधारपर जेजाकभुक्ति साम्राज्यके भीतर पड़नेवाला भाग बड़ा विस्तीर्ण है। उत्तरकी ओर गंगा और यमुनाके महानद इसकी सीमा बनाते थे और दक्षिणमें नर्मदा नदी—उसमें मालव देश भी सम्मिलित था। पश्चिममें इसकी सीमा सामान्य रूपसे चम्बल नदी थी, जो विंध्यमेखला तक पहुँचती है। जेजाकभुक्तिकी पूर्वी सीमा उतनी स्पष्ट नहीं रक्खी जा सकती। हाँ, प्रतिहारों-द्वारा पूर्वमें स्थापित सीमासे चन्देल-साम्राज्य काफी आगे बढ़ गया था। सोनभद्र नदी कुछ दूरतक सीमा अवश्य बनाती थी। भौगोलिक मानदण्डोंके अनुसार जेजाकभुक्ति २२ और २७ उत्तरी अक्षांश तथा ७५ और ८३½ पूर्वी भू-रेखाओंके मध्यमें पड़ता था।

इस सम्पूर्ण भागकी प्राकृतिक स्थिति अत्यंत ही विषमताओं किन्तु आकर्षणोंसे भरी है। इसका समतल भाग दक्षिणमें संकीर्ण और उत्तरमें विस्तीर्ण होता गया है। दक्षिणी भाग अनेक कन्दरों और जल-स्रोतोंसे छिन्न-भिन्न है और उत्तरी-भागमें जोतने लायक समतल भूमि कमसे कम है। इसका पठारी भाग कई आकार प्रकारकी समभूमियोंसे बना है और मध्यवर्ती भाग अत्यंत विकृत और अनुपयोगी है। समस्त भूमि काली मिट्टीवाली है। इन प्राकृतिक विभूतियोंके आधारपर जेजाकभुक्तिको तीन भागोंमें बाँटा जा सकता है। (१) उत्तरका मैदानी भाग, (२) मध्यका पठार, (३) दक्षिणका पहाड़ी भाग। उत्तरका मैदान निम्न भूमिसे बना है। मैदान ऊबड़-खाबड़ है। जगह-जगह पहाड़ी श्रेणियाँ अव्यवस्थित रूपसे निकल आई हैं। ऐसी अधित्यकायें बहुधा पाई जाती हैं, जो शिखरपर चौड़ी हैं। समुद्रकी सतहसे इसकी ऊँचाई ६०० फीट है। इसके मध्यका सम्पूर्ण भाग सुविशाल पठारका दृश्य

उपस्थित करता है। इसका स्थानीय नाम पाठ है। इसकी ऊँचाई १००० से १५०० फीटके भीतर पड़ती है। दक्षिणका पहाड़ी भाग विंध्याचलकी प्रमुख श्रेणियोंसे बना है जो उत्तर-पूर्वसे दक्षिण-पश्चिमकी ओर चले गये हैं।

यहाँकी प्रमुख पहाड़ियोंमें 'विंध्याचलकी पहाड़ियाँ' उत्तरमें फैली हैं। इसके दक्षिणमें 'पन्नाकी पहाड़ियाँ' हैं। दक्षिणकी पहाड़ियाँ तो प्रमुख रूपसे विंध्यकी मौलिक श्रेणियाँ हैं, जिनके भिन्न-भिन्न स्थानीय नाम हैं। इनमें महत्त्वपूर्ण नाम केवल कैमूरका है। पन्ना-पर्वत-श्रेणी जहाँ समाप्त होती है, वहींसे कैमूर आरम्भ होती है। इनके अलावा अनेक स्वतंत्र एकांतिक पर्वत हैं। ऐसे पर्वतोंमें महेश्वर श्रेणी, अजनर-कुलपहाड़, मालथौन, भाडला, बटियागढ़, सुनारकी घाटी आदि उल्लेखनीय श्रेणियाँ हैं। इन गिरिमालाओंकी गोदकोंमें कल-कल निनाद करके अपनी क्रीड़ासे मुखरित करनेवाले अनेक प्रपात भरे हैं। यों तो अपनी सुषमासे प्रकृतको निराली छटा प्रदान करनेवाले अनेक निर्झर हैं, किन्तु चचाई प्रपातने अपनी अलौकिक शोभाके कारण अमरत्व प्राप्त कर लिया है। इन विषम पर्वतोंको विदीर्ण करती हुई न जाने कितनी ही नदियाँ यहाँ बहती हैं। अधिकांश नदियाँ तो पहाड़ी ही हैं, किन्तु उनकी जालसे यह पूरा भूखण्ड ही पटा है। यमुना नदी उत्तरी भागमें सीमा बनाती हुई बहती है। उसके अतिरिक्त सभी नदियाँ विंध्यपर्वत-श्रेणियोंसे निकलकर यमुना अथवा उसकी सहायिकाओंमें आकर मिल जाती हैं। उनमें बेतवा नदी सबसे लम्बी और उपयोगी है। पश्चिमी सीमापर चम्बल नदी बहती है। शेष नदियोंमें सिंध, धसान, केन, पंसुनी, बाघेन है। नर्मदा तो जेजाकभुक्तिके दक्षिण सीमासे बहती है। नदियोंकी सहज प्रवाह-दिशा इस बातको स्पष्ट करती है कि इस भूभागकी ढाल दक्षिण-पश्चिमसे उत्तर-पूर्वकी ओर है।

जैसा कि उल्लेख हुआ है, प्रकृतिने यहाँ अपनी रचनाके सौष्ठवको विविध रूपोंमें प्रस्तुत किया है। प्राकृतिक कुल्या और सरोवरोंकी शोभा यहाँकी अपनी विशेषता है। रंग-बिरंगे पुष्पों और जल-जीवोंसे निनादित ये सरोवर कश्मीर घाटीकी याद दिलाते हैं। कहीं-कहीं तो इन सरोवरोंकी विशालता सागर-तुल्य दीखती है। इनमेंसे अधिकांशकी रचना चन्देल शासकों-द्वारा हुई थी। विजय-सागर, मदन-सागर, कीरत-सागर आदिने उनकी कीर्तिको अक्षय कर दिया है। जलवायुपर यहाँकी विचित्र प्राकृतिक दशाका पर्याप्त प्रभाव है। सामान्य रूपसे यहाँका जलवायु गर्मीमें अधिक गर्म और जाड़ोंमें अधिक ठंडा रहता है। वर्षा मध्यम श्रेणीकी होती है।

यहाँकी उपजको तीन भागोंमें विभाजित किया जा सकता है। प्रथम तो वानस्पतिक उपज है जिसका प्रधान स्वरूप यहाँ जंगल है—कहीं सघन और कहीं विरल। वनस्पतिकी उपजमें दूसरी श्रेणी झाड़ियों और नैसर्गिक उपवनोंकी है। झाड़ियोंमें काँटेदार और निम्न कोटिके वृक्ष पाये जाते हैं। यहाँकी वानस्पतिक

सुषमाको पराग और रूप-दानसे ऐश्वर्य प्रदान करनेमें सहस्रों प्रकारके कुसुमोंका बड़ा हाथ है। वन प्रदेशकी सीमापर सुविस्तृत चरागाह और घासके लम्बे मैदान प्राप्त होते हैं। उपजका दूसरा रूप अनाजोंकी पैदावार है। फसलें तीन श्रेणियोंमें होती हैं—शरद ऋतुमें कटनेवाली, वसंतमें कटनेवाली तथा इन दोनोंके अवकाशमें कटनेवाली। खेतीका अभी यहाँ उतना विकास नहीं हुआ है।

यहाँके जंगलों और मैदानोंमें नाना प्रकारके स्वच्छन्द विचरनेवाले और पालतू पशु-पक्षी प्राप्त होते हैं। नाहर, तेंदुवा, सूअर सरीखे हिंस्र पशु आदि भी यथेष्ट मात्रामें पाए जाते हैं। पालतू पशुओंमें कुछकी तो विशेष नस्ल यहाँ पाई जाती है। पक्षियोंका मनोहारी वृन्द भी यहाँके जंगलों, पर्वतों और सरोवरोंको निनादित करता हुआ पाया जाता है। खनिज पदार्थोंका महत्त्व यहाँके आर्थिक जीवनमें विशेष है। मिट्टी, गेरु, चूना और भवनोपयोगी पत्थरोंके अतिरिक्त हीरेकी उपज यहाँकी निराली देन है।

इस प्रकार प्राकृतिक छटासे परिपूर्ण भूभागमें अति प्राचीनकालसे मानव श्रेणियोंने रहकर एक विशिष्ट सभ्यता और असामान्य ऐतिहासिक परम्पराकी रचना की है। विकट प्राकृतिक रचनाने चिरकालतक यहाँ आदि-मानव श्रेणीकी काली जातियों—कोल, शबर, मुंडा और द्रविड़—ने अपना निवास बनाये रक्खा। आर्योंका प्रवेश आर्यावर्तके इस भागमें सबसे पीछे हुआ और वे सभी आर्य-सभ्यतामें सम्मिलित हो गये। आज जेजाकभुक्तिमें प्रधानतया हिन्दू हैं और उनका सामाजिक जीवन वर्ण-व्यवस्थापर आधृत है। वर्ण-व्यवस्थाकी जो शिथिल और जर्जर दशा अन्यत्र है, उससे विशेष भिन्न यहाँ उसका स्वरूप नहीं है। इस भूखण्डमें मुसलमान जातियाँ भी पर्याप्त हैं। यहाँका आदि धर्म तो प्रकृतिवाद था, जिसके छिटके हुए स्फुलिंग आज भी यहाँ देखनेको उपलब्ध हो जाते हैं। इस देशके धार्मिक इतिहासके विकासकी प्रत्येक कड़ी यहाँ आज भी सुरक्षित प्राप्त होती है। भूतवादसे आरम्भ होकर बहुदेववाद, एकेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद-तक उनका क्रमिक रूपमें अभियान हुआ। ब्राह्मण-धर्म तथा औपनिषदिक ज्ञान-काण्डने आगे बढ़कर पौराणिक युगमें पदार्पण किया और वैष्णव, शैव और शाक्त तीनों यहाँ प्रौढ़ हुए। संत-परंपराओंके अनुयायी भी यहाँ बिखरे—विशेष रूपसे कबीर-मतावलम्बी। जैन-धर्मकी परम्परा यहाँ आज भी प्रचलित है। बादमें इस्लाम और ईसाई धर्मके अनुयायी भी यहाँ हो गये।

जेजाकभुक्तिमें ऐतिहासिक और व्यापारिक कारणोंसे प्रसिद्ध बहुतसे नगर आज भी वर्तमान हैं—यद्यपि उनकी दशा आज अत्यंत सामान्य हो गई है। कई एक नगर तो चन्देल युगमें अंतरराष्ट्रीय ख्यातिके हो गये थे। ऐसे प्रमुख नगरोंमें कालंजर, खजुराहो, महोबा (महोत्सव नगर), देवगढ़, जैतपुर, दुधही और मदनपुर हैं। इन नगरोंके बीच यातायातके साधन तो थे ही—यहाँसे उत्तर-दक्षिण भारतमें प्रशस्त मार्ग गये हुए थे और उज्जैन, ग्वालियर, कन्नौजको सड़कें जाती थी। दक्षिण-

भारतसे भी इसका मार्ग संबंध स्थापित था। जबलपुरके पास एक संकीर्ण मार्गने दोनोंको जोड़ा था। जेजाकभुक्तिकी इस भौगोलिक स्वरूप-रचनाका प्रभाव यहाँके इतिहास-क्रमपर बड़ा स्पष्ट है। यहाँके पर्वतों और विषम भूमिने यहाँके निवासियोंके लिए स्थायी सुरक्षित आश्रय प्रदान किया। इस भूभागपर कभी भी सीधा आक्रमण संभव नहीं रहा—यदि हुआ भी तो अल्पकालीन ही। यहाँके पुष्ट और कठोर जलवायुने निवासियोंको दुष्कर श्रमके लिए बाध्य किया। यहाँकी भूमि बहुधा वनाच्छादित, पठारी और कृषिकर्मके लिए अनुपयुक्त है, इसलिए कठोर उद्यमसे ही जीविकोपार्जन सम्भव हुआ। अतः देशके इस भूभागने सर्वदा उपयुक्त सैनिक प्रदान करनका कार्य किया। यही नहीं, इस ऐकान्तिक भौगोलिक इकाईमें एक विशेष सामाजिकता, भारतीय संस्कृत-सरणीकी अनिर्लिप्त धारा, कलाके प्रति मञ्जुल दृष्टिकोण तथा परंपराके प्रति आडंबरविहीन सादगीसे पूर्ण आस्था पाई जाती है। यह निःस्सन्देह देशके और किसी भी भागमें दुर्लभ है। इसका एकमात्र कारण यहाँकी भू-प्रकृति है।

चन्देल वंश की उत्पत्ति

कतिपय अन्य राजपूत वंशोंकी भाँति चन्देलोंकी उत्पत्ति भी संदिग्ध विवादोंसे भरी थी। ऐतिहासिक क्रममें यहाँ अनेक मतोंका जन्म हुआ है। लोकप्रसिद्ध परम्पराके अनुसार चन्देल वंशकी उत्पत्ति काशीके गहड़वार राजा इन्द्रजीतके पुरोहित हेमराजकी कन्या हेमावती और चन्द्रमाके आलिंगनके फलस्वरूप इस कन्याके गर्भसे हुआ। इस कन्याके गर्भसे चन्द्रवर्मन्की उत्पत्ति हुई जो लोकमतके अनुसार इस वंशका प्रथम पुरुष माना जाता है। जनश्रुतिसे ज्ञात होता है कि चन्द्रमाने हेमावतीसे यह भी बतलाया था कि तुम्हारी संतान तबतक ऐश्वर्य करती रहेगी, जबतक वह—

(१) सुरापान नहीं करेगी।
(२) ब्रह्महत्या नहीं करेगी।
(३) अनुचित संबंध नहीं करेगी, और
(४) वर्मा नाम धारण करना नहीं छोड़ेगी।

किंवदन्तियाँ बतलाती हैं कि परमर्दिदेवने इन नियमोंका उल्लंघन किया और उससे ही इस वंशका ह्रास आरम्भ हो गया।

अभिलेखोंमें सुरक्षित परम्पराके अनुसार उपर्युक्त जनश्रुतिकी थोड़ी भी पुष्टि नहीं होती है। महाराज धंगके खजुराहो शिलालेखसे इस वंशकी उत्पत्तिका परिचय मिलता है। थोड़ेसे हेर-फेरसे इस वंशके पिछले कितने शिलालेखोंने उक्त कथनको परिपुष्ट किया है। शिलालेखोंसे प्रतिपादित तथ्यके अनुसार—विश्वसृज् पुराण पुरुष (विश्वके रचयिता), उनसे अत्रि मुनि, उनसे चन्द्रात्रेय और चन्द्रात्रेयके उत्तराधिकारी भूभुजाम हुये। इसी वंशमें नन्नुक हुआ, जिससे चन्देल-वंशका साम्राज्य-

स्थापन होता है। अधिकांश लेख तो 'चन्द्रात्रेय नरेन्द्राणाम्' की स्तुतिसे ही प्रारम्भ होते हैं। अत्रिके नेत्रसे चन्द्रमाकी उत्पत्ति, उनसे चन्द्रात्रेयका प्रादुर्भाव—ऐसी धारणा अभिलेखोंसे व्यक्त होती है। वंशके इस संस्थापक चन्द्रात्रेयसे ही चन्देल्ल, चन्द्रेल, चन्देल्ल और चन्देल शब्द निकले हैं, जो बादके शिलालेखोंमें आये हैं।

इस वंशकी उत्पत्तिका प्रश्न कतिपय इतिहासकारोंके लिए विवादपूर्ण हो गया था। उनमें कुछ तो ऐसे हैं, जिनकी दृढ़ धारणा है चन्देलोंकी उत्पत्ति निम्न जातियोंसे हुई। इतिहासकार वी० ए० स्मिथ का विश्वास है कि ये गोंड़ जातिसे उत्पन्न हुए। इसका आधार उन्होंने मनियादेवीको बनाया है। मनियादेवी चन्देलोंकी कुलदेवी हैं, जिसे स्मिथने गोंड़ोंसे संबंधित व्यक्त किया है। श्री डी० एल० ड्रेक ब्रौकमैनने भी इसी विचारकी पुष्टि की है। ऐसे विचारोंका खण्डन सहज ही अभिलेखोंसे प्राप्त तथ्योंसे हो जाता है। डा० हेमचन्द राय और चिन्तामणि विनायक वैद्यने चन्देलोंका संबंध आदिवासियोंसे न मानकर क्षत्रिय जातियोंसे प्रमाणित किया है। इन दो विचारधाराओंकी उपपत्तियोंकी परीक्षा यदि अलग-अलग की जाय तो ज्ञात होगा कि डा० स्मिथके मतमें कोई सार नहीं है। चन्देलोंके पूरे इतिहासमें यह व्यवहारमें प्रकट नहीं होता कि चन्देल और गोंड़ादि परस्पर संबंध भी स्थापित करते थे। उनका संबंध तो क्षत्रिय वंशोंसे ही प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त अभिलेखों और अन्य प्रशस्तियोंमें जो महत्त्व एवं उच्च गौरवकी उक्तियाँ मिली हैं, उनसे यही मानना पड़ता है कि चन्देल किसी निम्न उत्पत्तिके नहीं हैं।

यदि इस प्रश्नपर सहज रूपसे विचार किया जाय तो तुरंत प्रगट होगा कि चन्देलोंके निम्न उद्गमसे उत्पत्तिकी बात कुछ विद्वानोंको इसलिए जँच गई कि पूर्व-मध्यकालीन भारतके राजनीतिक और सामाजिक रंगमंचपर नूतन नामोंके साथ राजपूत जातियोंका एकाएक आगमन हुआ—वह भी अपरिमित नामों और विरुदोंके साथ। इन विरुदोंका प्राचीन क्षत्रिय वंशोंके साथ कोई स्पष्ट संबंध न होनेके कारण डा० स्मिथ प्रभृति विद्वानोंने ऐसे काल्पनिक आधार उपस्थित किए। लेकिन समस्त प्राचीन क्षत्रिय राजवंशोंका कहीं विलोप तो हुआ नहीं। वस्तुतः ये राजपूत वंश उन्हींके रक्त और पिंडसे विकसित हुए। जो जनश्रुतियाँ अभिलेखों और राजकीय परंपराओं में सुरक्षित हैं, उनका समन्वय भी इन्हीं ऐतिहासिक परिणामोंपर पहुँचता है। प्राचीन क्षत्रिय राजवंशोंमें इनका संबंध चन्द्रवंशसे था—ऐसा प्रमाणित होता है। अभिलेख तो कहते ही हैं, जनश्रुतियाँ भी पितृपक्षका संबंध चन्द्रमासे जोड़ती हैं। इस प्रकार चन्देलोंका संबंध चन्द्रवंशसे है यह सिद्ध है। इस वंशके शासकोंने चौहान आदि विशिष्ट क्षत्रिय राजवंशोंसे जो वैवाहिक संबंध स्थापित किये थे, वह भी यही प्रमाणित करते हैं। प्राचीन चन्द्रवंशसे इस वंशका संबंध वस्तुतः मनियादेवीसे प्रतिष्ठित संबंधसे ही विरोधमें पड़ता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि चन्देलोंकी मातृ या कुलदेवी मनिया है किन्तु चन्देलोंका संबंध मनियागढ़से पूर्व खजुराहोसे हुआ। कामिलसे भी यही प्रमाणित होता है।

अनुश्रुतियाँ चन्द्रवर्माको इस वंशका संस्थापक मानती हैं। जैसा कि पहले कहा गया है, अभिलेखोंसे चन्द्रात्रेय सिद्ध होता है, जो अधिक प्रामाण्य है। इस चन्द्रात्रेयको ही लोगोंने चन्द्रवर्मा बना कर ग्रहण कर लिया। इस वंशके स्थापनाकालके संबंधमें भी कम विवाद नहीं है। किन्तु इतना निर्विवाद है कि ई० सन् ८०० के लगभग चन्देलोंका उत्थान हुआ। इसीको केन्द्रबिन्दु मानकर इस महान वंशकी स्थापनाकी भी खोज हो सकती है। स्थापनाकी तिथियोंके संबंधमें अभिलेखोंके अतिरिक्त चार साधन, उपलब्ध हैं—चन्दबरदाईका महोबा खण्ड, श्री बहादुरसिंह, महोबाके प्रमुख चारण, कर्नल एलिस-द्वारा प्राप्त आख्यान। इन सभी साधनोंकी विस्तृत छानबीन करने तथा गवेषणाके पश्चात् अभिलेखोंके कथनसे निष्कर्ष संतुलित हो जाता है। जो तिथि इस प्रकार प्रतिष्ठित होती है वह है ई० सन् ७४०—इसमें सन्देह नहीं।

शक्ति का राजनीतिक उत्थान

महाराज हर्षके स्वर्गवास (सन् ६४७) के पश्चात् इस देशमें जिस इतिहासका प्रादुर्भाव हुआ, उसमें राजनीतिक संभ्रम, अस्त-व्यस्तता और विकेन्द्रीकरणकी भावनाका ही प्राबल्य हुआ। उस युगकी यही विशेषता रही। कोई भी सार्वभौम सत्ता नहीं रही, न था व्यापक राष्ट्रीयताका दृष्टिकोण ही। द्रुतगतिसे देश छिन्न-भिन्न होता गया। हर्षके पश्चात् उत्तरी भारतमें जिन राज्योंका प्रादुर्भाव हुआ उन्हें दो समूहोंमें विभाजित किया जा सकता है—(१) हिमप्रदेशके राज्य, जिसमें कश्मीर, नैपाल, तिब्बत व कामरूप थे। (२) आर्यावर्त के राज्य जिनमें प्रमुख रूपसे कन्नौज, गुजरात, मगध बंगाल, चेदी, मालवा, उत्तर-पश्चिम सीमा राज्य, मेवाड़ एवं साँभर थे। इन सभीमें कन्नौजके प्रतिहार ही सार्वभौम सत्ताकी गरिमासे आपूर्ण थे। किन्तु राष्ट्रकूट इन्द्रतृतीय ने उत्तरी भारतपर आक्रमण करके सन् ९१६ ई० में प्रतिहारोंकी शक्तिको चूर-चूर कर दिया। वह राष्ट्रकूट राज्य तो नहीं स्थापित कर पाये किन्तु उनके द्वारा भग्न प्रतिहारोंकी सत्तापर गहड़वाल चन्द्रदेवने सन् १०७८–१०९० के बीच अपने साम्राज्यकी स्थापना की।

उत्तरी भारतकी इस चंचल राजनीतिक दुरवस्थामें चन्देलोंने अपने राज्यकी स्थापना जेजाकभुक्तिमें की। चन्देलोंके राज्यकी स्थापना प्रतिहारों, गहड़वालोंके संरक्षणमें नहीं हुई। चन्देल एक स्वतंत्र राजवंशके रूपमें खजुराहोके ब्राह्मण राज्यको जीतकर समुपस्थित हुए। उनका प्रादुर्भाव स्वतंत्र राजवंशके रूपमें ही हुआ। सन् ७४० से ८३१ ई० तकके ९० वर्ष के समयमें इस वंशको क्रमसे चन्द्रात्रेय, नृपति भूभुजाम् और नन्नुकने अलंकृत किया। शिलालेखोंमें इनके शौर्यकी बड़ी प्रशंसा की गई है।

इस वंशकी मालिका अनेक प्रकाशमान नर-रत्नोंसे विभूषित है। वंशावलीकी यों तो अनेक सूचियाँ प्राप्त हैं, किन्तु खोजसे प्रामाणित नामोंको अब निश्चित रूपसे रक्खा जा सका है। जेनरल कनिंघम-द्वारा प्रस्तुत सूचियाँ कई स्थलोंपर भ्रामक हैं और चारणोंकी सूचियाँ तो अत्यंत दोषपूर्ण हैं। तृतीय अध्यायके अंतमें जो प्रामाणिक वंशावली प्रस्तुत की गई है उसका आरम्भ चन्द्रात्रेयसे हो रहा है।

चन्देल राज्य संरक्षण में

इस वंशका शासनकाल राजनीतिक गौरवके आधारपर तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—(१) प्रारम्भसे नृपति भूभुजामूलक स्वतंत्र सत्ताके रूपमें स्थापनाका युग; (२) नन्नुकसे राजा राहिलतक संरक्षित शासनका युग; (३) राजा हर्षदेवसे परमर्दिदेव तक गौरवपूर्ण युग। नन्नुकका राज्यारोहण महत्त्वका है। उसीके राज्यकालमें थोड़े दिनके लिए चन्देलोंकी स्वतंत्र सत्ता मेघाच्छन्न हो गई और खजुराहोमें स्थापित चन्देलोंका राज्य कन्नौजके प्रतिहार शासकोंके अधीन हो गया। प्रतिहार सम्राटोंकी सार्वभौम सत्तामें उनका जीवन संरक्षितके रूपमें व्यतीत होने लगा।

वंशके चौथे राजा नन्नुकने अपनी राज्य-सीमा उत्तरमें दूरतक फैलाई और महोबाको राजधानी बनाया। इस समयतक गुर्जरप्रतिहार द्वितीय नागभट्टने कन्नौज विजित करके राजधानी बना ली थी। सन् ८३८ में उसने जेजाकभुक्ति पर आक्रमण किया। नन्नुकको पराजित होकर अधिकृत होना पड़ा। किन्तु यह अधीनता पराधीन करदकी नहीं थी। वे केवल साधारण रूपसे अधीन थे और उन्हें अपनी शक्तिके संचय, संगठन और विकासका भरपूर अवकाश मिल गया। यहाँतक कि प्रतिहारोंके प्रति अपेक्षित सम्मान प्रकट करते हुए नन्नुक अपने राज्यका विस्तार भी करता गया। धंगदेवके शिलालेखसे तो यह भी प्रकट होता है कि उसके अनेक सामंत भी थे। नन्नुकका उत्तराधिकारी वाक्पति राज्यको और बढ़ाता गया। अभिलेखोंमें इसकी बड़ी प्रशंसा है। यह सब होते हुए भी वह प्रतिहार राजा मिहिरभोजके संरक्षणमें था। वाक्पतिके स्वर्गारोहणके पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र जयशक्ति सन् ८६० में गद्दीपर आया। इसका छोटा भाई विजयशक्ति भी उसी प्रकार प्रख्यात वीर था। शिलालेखोंमें इसके अनेक नाम आते हैं और कई स्थलोंपर इसीको वंशका प्रथम पुरुष माना गया है। जयशक्तिके संतानहीन होनेके कारण विजयने ही उसके उपरान्त शासनभार संभाला। इन दोनोंके समय संरक्षित चन्देल साम्राज्यकी सीमायें विन्ध्यपर्वतमें सुदूरतक फैलीं। दक्षिणमें राष्ट्रकूट शक्ति इस समयतक काफी दुर्बल हो गई थी—फलतः विजय शक्तिने इस परिस्थितिसे पूरा लाभ उठाया।

प्रतिहारोंके संरक्षणमें चलनेवाला अंतिम शासक राहिल था, जिसने अपने सन् ९०० से ९१५ ई० तकके शासनकालमें अपने सैन्य-बलके संगठन और महत्त्वशाली

नीतिसे राज्यश्रीको इस सीमातक बढ़ा दिया कि इसके उत्तराधिकारीने अल्प प्रयाससे ही इसे संरक्षणसे मुक्त कर लिया। राहिलने अजयगढ़का प्रसिद्ध दुर्ग जीतकर उसे सैनिक केन्द्र बनाया तथा अन्य महत्वपूर्ण विजय प्राप्त कीं। उसने कलचुरी शासकोंसे वैवाहिक संबंध स्थापित करके राजनीतिक महत्त्वका कार्य किया। इसने देवालय और जलाशयोंका निर्माण कराया, दुर्ग बनवाये। इसकी लोकप्रियता तो इतनी विश्रुत हुई कि तत्कालीन अन्य शासकोंमें उसकी मैत्रीकी स्पर्धा लग गई। उसके कार्योंका विवरण कई एक अभिलेखों और पृथ्वीराज रासोसे प्राप्त होता है।

स्वतंत्र शासन

राहिलके उपरान्त उसका पुत्र और उत्तराधिकारी हर्षदेव जब सन् ६१५ ई० में गद्दीपर आया तब प्रतिहारोंके गौरवशाली वंशका सूर्य प्रतीचीमें उतर रहा था। मिहिरभोजके सभी उत्तराधिकारी अयोग्य और दुर्बल सिद्ध हुए। उधर प्रतिहार सामंत प्रबल हो गये थे। दक्षिणसे राष्ट्रकूट तृतीय इन्द्रने जब उत्तरी भारतपर आक्रमण करके प्रतिहार साम्राज्यको रौंदना आरम्भ किया तब सामंतोंने मिलकर प्रतिहार साम्राज्यके कुछ भागको सुरक्षित लौटा लिया, किन्तु प्रतिहारोंके प्रति किसी राजभक्तिसे नहीं, स्वयं अपने बढ़ावके लिए और राष्ट्रकूटोंसे उत्तर भारत खाली कराना आवश्यक समझकर। हर्षने प्रतिहार क्षितिपालको खोई हुई गद्दीपर पुनः बिठलाया। तबसे प्रतिहारोंकी श्रीरक्षा अब चन्देलोंके हाथमें आश्रित हो गई। हर्षने प्रतिहारोंके आंतरिक मामलोंमें हस्तक्षेप करना आरम्भ किया और उनका राजनीतिक अस्तित्व ही चन्देलोंकी अनुकम्पा पर आ टिका। वह प्रतिहारोंसे सहानुभूति रखता था। उसके उपकारोंसे लदे हुए, दुर्बल प्रतिहारोंने हर्षकी स्वतंत्र सत्ता मान ली—शांतिमय संधिके माध्यमसे।

इसने परमभट्टारककी पदवी धारण की और अनेक नवीन विजयों द्वारा राजाओंको करद बनाया। इसके उदीयमान गौरवसे प्रभावित होकर चौहानोंने अपनी राजकुमारीका विवाह हर्षसे कर दिया। इस विवाहका राजनीतिक महत्त्व अधिक था। हर्षका उत्तराधिकारी यशोवर्मन्देव अपने पूर्वजोंमें सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ।

सन् ६३० ई० में गद्दीपर आते ही इसने भारतव्यापी साम्राज्य स्थापित करनेकी कल्पना की। अपने साम्राज्यको स्थायी आधार देनेके लिए इसने पिताकी नीतिमें क्रांतिकारी परिवर्तन किया। कन्नौजपर आक्रमण करके लड़खड़ाते प्रतिहार वंशको इसने समाप्तप्राय कर दिया और तत्पश्चात् कालंजरके प्रसिद्ध दुर्गको जीतकर अपने साम्राज्यको अजेय कर दिया। इसके साथ ही उसने हिन्दू सम्राटोंकी परंपरामें दिग्विजय आरम्भ कर दी, जिसका विस्तृत वर्णन खजुराहो अभिलेखसे प्राप्त है। यशोवर्मन्देवने इस प्रकार एक बार कश्मीरसे बंगालतक और हिमालयसे मालवातकके अधिकांश भागपर आधिपत्य स्थापित कर लिया और शेष भागको अपने प्रभाव-क्षेत्रमें ले लिया। उत्तर भारतमें सार्वभौमताने प्रतिहारों के गलेसे विजय-

माला निकालकर चन्देल शासकोंको पहना दी। सांस्कृतिक क्रिया-कलापोंमें भी वह उसी प्रकार अग्रणी हुआ। खजुराहो और अन्य स्थानोंपर उसने मंदिर और सागर-तुल्य जलाशय बनवाये। अपने शासन-कौशल, औदार्य, प्रजावत्सलता, साहित्य-कला-प्रेम और धार्मिक सहिष्णुताके कारण प्रजामें उसे अभूतपूर्व लोकप्रियता प्राप्त हुई।

साम्राज्य-विस्तार और उत्कर्ष

यशोवर्मन्‌का राज्यकाल संघर्षोंसे भरा था और उसकी विजयें भी स्थायी नहीं हो सकी। अस्तु, उसके यशस्वी पुत्र धंगदेवने राज्यसिंहासनपर सन् ९५० ई० में आते ही दिग्विजयके लिये प्रयाण किया। उसका लगभग बावन वर्षोंका लम्बा राज्य-काल विजय और सफलताओंके समवेत स्वरसे मुखरित है। उसने प्रतिहारोंके प्रति रहे-सहे प्रतीकात्मक राजनीतिक संबंधको सर्वदाके लिए भंग करके अपनी सार्वभौमता को और भी प्रभावकारी बनादिया। अपनी विजय-यात्रामें उसने गंगा-यमुनाके दोआब-पर स्थायी अधिकार किया—प्रयाग उसके साम्राज्यमें आ गया। फिर उसने कांची, आंध्र, राढ़ा और अंगके शासकोंको पराजित किया। उसने दक्षिण भारतपर भी धावा किया था और उत्तरमें कन्नौजको भी अधीन कर लिया था। यही नहीं अपने समकालीन सभी राजाओंको उसने खुली चुनौती दी।

महाराज धंगदेवने तत्कालीन अंतरराष्ट्रीय विपदाओंसे देशकी रक्षा करनेमें उत्कृष्ट राष्ट्रीयता और दूरदर्शिताका परिचय दिया। मुसलिम आक्रमणकारी सुबुक्तगीनने जब जयपालपर आक्रमण किया तब उसने इस महत्त्वको समझा और अपनी समस्त सामन्त-सेना-सहित उसकी सहायता और रक्षा की। जयपालपर जब दुबारा आक्रमण हुआ, तब भी धंगदेवने उसी उत्साहसे उसकी रक्षाका राष्ट्रीय महत्त्व समझकर सम्पत्ति और सेनासे सहायता की। किन्तु इस बार सफलता न प्राप्त हो सकी। मुस्लिम शक्तियोंके साथ चन्देलोंका संघर्ष इसी रीतिसे आरम्भ हुआ जो कुछ ही दिनोंके पश्चात् दोनोंका सीधा संघर्ष हो गया। मुसलमानोंसे हारके बाद चन्देल शासकोंके संकट अवश्य बढ़ गये, किन्तु उनके श्री-गौरवकी कोई हानि नहीं हुई। धंगदेवने अपने लम्बे राज्यकालमें शासन-व्यवस्थाको सुदृढ़ किया और लोकहितके विविध कार्यों-द्वारा प्रजाको सुखी बनानेमें अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत किया। खजुराहोंके आश्चर्य-चकित कर देनेवाले कितने ही मंदिरोंका निर्माण महाराज धंगदेव द्वारा हुआ। जिननाथ तथा लालाजीके मंदिर इसी कालके हैं। खजुराहोका वैभव इस समय उत्कर्षके शिखरपर पहुँचा था। राज्य-विस्तार, नीति-नैपुण्य, शासन और निर्माणकी दृष्टिसे धंगदेवका युग सर्वोत्तम सिद्ध हुआ। धंगदेवने अपने अंतिम दिनोंमें स्वेच्छासे राज्यभार अपने सुयोग्य उत्तराधिकारीको सौंप दिया। वह शिवका परमभक्त था, यद्यपि उसका पिता वैष्णव था।

गंडदेव लगभग १००२ ई० और सन् १००३ के बीच अपने पिताकी गद्दीपर आसीन हुआ, जब गजनीकी गद्दीपर महमूद गजनवी पहुंच चुका था। गद्दीपर आकर उसने अपने पूर्वजोंके राज्यकी रक्षा तो की ही, शासनको भी दृढ़ किया। अपने वैदेशिक नीतिके कारण उसने विशेष यश प्राप्त किया। मुसलमान आक्रमणोंका जो तांता लगा था, उससे अपने साम्राज्य और सम्पूर्ण भारतकी रक्षाका जैसा ध्यान गंडदेवको था वैसा तत्कालीन अन्य किसी भारतीय शासकको नहीं था। सन् १००८ में महमूदने जब लाहौरके राजा आनन्दपालपर आक्रमण किया तब दूरतम स्थानसे गंडदेवने प्रभावकारी सहायता पहुँचाकर उत्कृष्ट राष्ट्रीयताका परिचय दिया। यद्यपि इस प्रयासमें हिन्दुओंको पराजित होना पड़ा।

मुसलमानोंके साथ संघर्ष तीव्रतर होता गया। महमूदने आक्रमण करके जब कन्नौजके निकम्मे राजा राज्यपालको १००९ ई० में पराजित कर दिया, तब उसकी इस कापुरुषता और बिना किसीसे सहायता माँगे पराजय मान लेनेपर गंडदेव बड़ा क्षुब्ध हुआ। उसके नेतृत्वमें पड़ोसी राज्योंने उसपर आक्रमण करके उसका वध कर डाला और उसकी गद्दीपर त्रिलोचनपालको बिठलाया। इस संघीय सेनाका नेतृत्व गंड देवका पुत्र विद्याधर कर रहा था। गंडदेवकी इस नीतिसे महमूद बड़ा उत्तेजित हो गया और ग्वालियर होते हुए उसने सन् १०१९ में सीधे उसपर आक्रमण किया। महमूद इस समय भारतमें गंडको सबसे शक्तिशाली और अपना भयंकर शत्रु मानता था। प्रतिहिंसाके भावसे उसने आक्रमण किया था। गंडने लगभग दो लाख सेनाके साथ उसका सामना किया। पहले तो महमूदने आत्म-समर्पणका प्रस्ताव भेजा, जिसके उत्तरमें वीरप्रवर गंडदेवने युद्धकी चुनौती भेजी। महमूद जो पहले-सेही चन्देलोंके पराक्रम और शक्तिसे प्रभावित था, अतः उसका साहस डोल गया। सुलताननें कालंजर किलेपर घेरा डाला। लंबे दिनोंतक घेरा चलनेके कारण जल और खाद्यके अभावमें गंडदेव संधिके लिए उद्यत हुआ। महमूद तो थक ही चुका था—दोनोंमें सम्मानजनक संधि हुई। महमूद वापस चला गया। इस प्रकार की पराजय आखिर क्यों हुई—यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसमें हिन्दुओंकी तत्कालीन सामान्य दशा और गंडदेवकी राजनीतिक भूल अधिक दायित्व रखती है।

देशके भीतर अन्य राजपूत राजाओंसे वंशके गौरवको उसने थोड़ा भी मलिन नहीं होने दिया। हाँ, अपने प्रारम्भिक दिनोंमें कलचुरी शासक कोक्कलके आक्रमणसे वह प्रतिहत अवश्य हो गया था, किन्तु उसने शीघ्र ही इसका बदला ले लिया। गंडदेवकी शक्ति पश्चिममें निश्चित ही चम्बल नदीतक फैल चुकी थी। कच्छप-घाट और ग्वालियरके शासक चन्देलोंके करद थे। गंडदेवका शासनकाल इस देशके इतिहासमें हिन्दू-मुसलमानोंके प्रलम्ब संघर्षका काल था, जिस समय देशकी रक्षाका भार प्रमुख रूपसे चन्देलोंके कंधोंपर आ पड़ा था। गंडदेवने इस दायित्वको खूब निबाहा।

गंडदेवके पश्चात् जब उसका यशस्वी पुत्र विद्याधर सन् १०२५ ई० में गद्दीपर आया, तब मुसलमानोंके साथके संघर्षने रूप बदल लिया था। विद्याधर गद्दीपर आनेके पूर्व पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर चुका था। कई लड़ाइयोंमें अपनी सेनाके साथ-साथ संघसेनाओंका भी नेतृत्व कर चुका था। कन्नौजके विरुद्ध वही भेजा गया था। गंडदेवकी सफलताओंमें इसका पर्याप्त हाथ था। दाहल अथवा चेदिका शासक गांगेयदेव उसके अधीन सामन्त हो गया था। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि विद्याधरने अपने साम्राज्यके विस्तारमें रंचमात्र भी कमी नहीं होने दी। उत्बीके शब्दोंमें उसकी सेना विस्तीर्ण महासागरकी भाँति. . . .थी। इसने शासन-व्यवस्थाको सुगठित रक्खा। चन्देल इतिहासमें यशोवर्मन्‌देवसे विद्याधरवर्मन् तकका समय असाधारण रूपसे गौरवपूर्ण कहा जायेगा। इस समय चन्देल शासकोंने समग्र देशकी इकाईको रक्षित और अखंड रखनेकी भगीरथ-चेष्टा की।

अन्य शक्तियों से प्रतियोगता

विदेशी खतरा उस समय केवल गजनी साम्राज्यसे था। जब गंडदेवका वहाँसे दौत्य संबंध स्थापित हो गया और महमूदके आक्रमण मध्य-भारतसे समाप्त हो गये तब भारतीय नरेशोंमें बाहरी आक्रमणसे कुछ दिनोंके लिए निश्चितता आगई। फलतः अपने साम्राज्य-विस्तार और महत्वाकांक्षाओंकी पूर्तिके लिए वे परस्पर कलह और युद्धमें संलग्न हो गये। उनका ध्यान राष्ट्रिय गौरवकी ओरसे हट गया। वह इस हदतक हो गया कि उनके पड़ोसियोंपर विदेशी धावे हो रहे हैं और वे विनोद करनेवाले दर्शक बने रहे। चन्देलोंके प्रतिद्वंद्वी शासकोंमें कलचुरीवाले सबसे निकटके थे। कहनेकी आवश्यकता नहीं इस प्रकार अदूरदर्शितापूर्ण प्रतियोगिताका फल सभी शासकोंके लिए घातक हुआ।

विद्याधरदेवके पश्चात् ऐसे शासकोंकी शृंखला आरम्भ हुई जो कठिनाईसे कुछ दिनोंतक इस वंशकी सार्वभौमताकी रक्षा कर सके। विद्याधरके पुत्र विजयपालदेवने हाथमें लगभग सन् १०४० में राज्यसूत्र लिया। इसके राज्यकालकी कोई राजनीतिक महत्ता नहीं। लोकहितके कार्योंमें अवश्य ही उसने कीर्ति अर्जित की। उसके उत्तराधिकारी देववर्मन्‌देवके समयकी भी कोई महत्त्वपूर्ण घटना नहीं है, किन्तु इसका व्यक्तिगत चरित्र और व्यवहार प्रजामें लोकप्रियताका कारण बना। वह बड़ा ही विद्यानुरागी और विचक्षण बुद्धिका था। विद्याधरके बाद डाहलके शासक शक्तिशाली हुए और कर्णदेवने देववर्मन्‌देवको पराजित किया। चन्देलोंका यह बुरा दिन था, जो शीघ्र ही दूर हो गया।

देववर्मन्‌के छोटा भाई कीर्तिवर्मन्‌देवने, सन् १०६० में गद्दीपर आते ही सैन्य-संगठन किया। उसने चेदि-शासक लक्ष्मीकरणसे बदला लेकर हारे हुए भागको सन् १०६० ई० में लौटाया। अभिलेखोंसे प्रमाणित होता है कि उसने वंशकी

गिरती हुई दशाको बड़ी दृढ़तासे सँभाला। इसके यशस्वी शासनमें चन्देल-श्री एकबार फिर चमक उठी। उसको अपने कार्योंमें मंत्री गोपालसे बड़ी सहायता मिली। उसने सिर उठाये हुए सामन्तोंको ठीक किया, फिर शासनको सुदृढ़ किया जिससे साहित्य, कला और विद्याकी प्रचुर मात्रामें उन्नति हुई और साम्राज्यकी आर्थिक दशामें भी बड़ी उन्नत हुई। कहनेका तात्पर्य यह कि चन्देल शासक विभिन्न राजपूत शक्तियोंकी गहन स्पर्धाके बीच सफल निकले और उन्होंने अपनेको सर्वोपरि प्रमाणित किया। अगली एक शताब्दीतक चन्देलोंकी यह धाक कायम रही। सार्वभौम सत्ताके पदसे चन्देलोंका पतन कीर्तिवर्मन्के बाद ही आरम्भ हुआ।

साम्राज्य का ह्रास

सल्लक्षणवर्मन् या हल्लक्षणवर्मन्ने कीर्तिवर्मन्के उपरांत राज्यकी बागडोर अपने हाथमें ली। उसने मालवों और चेदियोंको पराजित करके अपना राज्य विस्तृत किया। वह अपनी उदारताके लिए लोकप्रसिद्ध था। किन्तु उसके पश्चात् उसके उत्तराधिकारी जयवर्मन्देव और पृथ्वीवर्मन्देवने कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किये। इन दोनोंका शासन प्रतिभाशाली नहीं था। जब पृथ्वीवर्मन्का पुत्र वीरवर मदनवर्मन्देव सन् ११२९ में राज्यासीन हुआ तब एक बार फिर चन्देल-वंशका गौरव चमक उठा।

मदनवर्माके राज्यकालमें चन्देलोंका तृतीय उत्थान हुआ। सन् ११२९ और ११६५ ई० के बीच उसने अत्यंत ही प्रभावकारी ढंगसे शासन किया। फलस्वरूप इस वंशका गौरव एक बार फिर चमक उठा। वह कालंजर, खजुराहो, अजयगढ़ और महोबाका निर्विवाद रूपसे स्वामी था। सागर, दमोह, जबलपुर, बाँदा और झाँसीके वर्तमान जिले उसकी सीमामें थे। ग्वालियर भी करद रूपमें अधीन रक्खा गया। मालवाके शासकपर आक्रमण करके उसकी बढ़ती उच्छृंखलताका भी उसने दमन किया। मदनवर्मन्देवने गुजरातपर महत्त्वपूर्ण आक्रमण किया और वहाँके शासक सिद्ध-राजको संधि करनेके लिए बाध्य किया। चन्देलोंकी इस दिशामें अभूतपूर्व सफलता मिली जो इस सीमातक पहुँच गई थी कि उनका संबंध अनिहलपाटनके चालुक्यों-से हो गया था। मदनवर्मन्की इस सफलताका कारण उसका विजय-कौशल और सैन्य-संगठन था। अनुश्रुतियोंके अनुसार उसके साम्राज्यकी दक्षिण सीमा विंध्य-मेखलाकी भनरार श्रेणीतक पहुँच गई थी। एक तरफ उत्तरमें यमुना और पश्चिममें बेतवा नदी थी। उसका कूटनीतिक संबंध काशीके गहड़वाल राजासे स्थापित था। मदनवर्माने सम्राज्यका सुशासन करनेका भी उसी प्रकारसे उद्योग किया। ताम्र-पत्रों और अभिलेखोंसे उसके लोकरंजक कार्योंकी बड़ी स्तुति मिलती है।

मदनवर्माके बाद उसके पौत्र परमर्दिदेवने राज्य-शासन हाथमें लिया। यह चन्देल वंशके यशस्वी शासकोंमें अंतिम कड़ी था। उसने उत्तराधिकारमें प्राप्त पूरे

साम्राज्यको अक्षुण्ण रखनेमें सर्वदा सफलता प्राप्त की। यद्यपि यह खेदका विषय है कि चन्देलोंके अभिलेखोंमें उसकी किसी भी राजनीतिक घटनाका समावेश नहीं है; किन्तु उसकी लोक-विश्रुत ख्याति की जनश्रुतियोंमें बड़ी चर्चा व्याप्त है। चन्दबरदाईने अपने कथाकाव्यमें उसकी पर्याप्त चर्चा की है। महोबा-खण्डमें चाहमानोंके साथके उसके संघर्षका पूरा विवरण है। इसके समयमें कलचुरियोंके साथ संघर्ष ताजा हो गया था किन्तु अंतमें उसने उनको पराभूत किया। उन दिनों चौहानोंका उत्थान हो रहा था। जब उनका प्रसार दक्षिणकी ओर होने लगा तब चन्देलोंके साथ उनका संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया। चाहमान शासक पृथ्वीराज और परमर्दिके बीच सन् ११८२–८३ के लगभग भयंकर युद्ध हुआ। परमर्दिकी सहायतामें उसके प्रसिद्ध सामंत आल्हा और ऊदल और गहड़वाल शासक जयचन्द्र डटे थे। किन्तु परमर्दिकी पराजय हुई और महोबापर कुछ समयके लिए पृथ्वीराजका कब्जा हो गया। चौहान सेनापति पज्जुन वहाँका शासक नियुक्त हुआ। किन्तु सन् १२०१ ई०के पूर्व ही महोबापर चन्देलोंका पुनः अधिकार स्थापित हो गया। पृथ्वीराज और परमर्दिके युद्धने चन्देल शक्तिको चूर-चूर कर दिया। फलस्वरूप देशकी एकमात्र सार्वभौम शक्ति अस्त होने लगी। चन्देलोंकी यह पराजय निःसन्देह राष्ट्रिय दुर्घटना थी क्योंकि उनका स्थान उतना शीघ्र कोई दूसरा न ले सका और गोरीवंशने अल्प प्रयाससे ही दिल्लीमें मुसलिम राज्यकी स्थापना कर ली।

परमर्दिके पश्चात् पतन रोका नहीं जा सका। सार्वभौम सत्ता समाप्त हो गई। जितने भी उत्तराधिकारी आये उनमें उल्लेखनीय नाम त्रैलोक्यवर्मा, वीरवर्मदेव और भोजवर्मनके हैं। पर सभी उस ह्रासको रोकनेमें असफल रहे, यद्यपि इस वंशका राज्य अकबरके समयतक किसी-न-किसी रूपमें स्वतंत्र शासकके रूपमें चलता रहा।

विदेशी नीति और शासन-व्यवस्था

चन्देलोंने उस संक्रमण-कालमें यहाँ शासन किया जो हिन्दू-शासनके क्रमिक पतन और मुसलमानोंकी भारतमें क्रमिक विजय एवं राज्य-स्थापनके बीचमें पड़ता था। उस समय देश विभिन्न छोटे-छोटे राजपूत वंशोंके राज्योंमें विकेन्द्रित हो गया था। आपसमें निरंतर वंशगत युद्ध ही इन राज्योंका स्वभाव बन गया था। एक राज्यका प्रसार और एक नवीन राज्यका उदय, दोनों पड़ोसी राज्योंके मूल्यपर होता था। यही नहीं, इन शासकोंकी राजनीतिक दृष्टिमें बड़ा संकोच आ गया था। राष्ट्रियताका सार्वभौम भाव लुप्त हो गया था। यदि किसीमें सार्वभौम और अधिराजेश्वरत्वकी भावना वर्तमान थी भी तो संघटनकी क्षमता, संघकी भावना और वैदेशिक संपर्क-की उदारतामें इतनी कमी थी कि किसीको स्थायी सार्वभौम सफलता नहीं मिल सकी। देशका यह सामन्य आदर्श था। इसमें चन्देल शासकोंने एक मध्यम मार्ग

अपनाया। उनके विदेशी सम्पर्ककी रीति-नीति दो भागोंमें बाँटी जा सकती है--

(१) भारतीय शासकोंके प्रति उनकी नीति।

(२) विदेशी आक्रमणकारियोंके प्रति उनकी नीति।

भारतीय शासकोंकी ओर उन्होंने हिन्दू राजनीतिक आदर्श चरितार्थ किया। उन्होंने उनका उन्मूलन न कर केवल अधीनता स्वीकार करा लेनेकी नीति अपनाई और इस प्रकार साम्राज्य-विस्तार किया। लेकिन दृढ़ केन्द्रीय राज्यसत्ताकी स्थापनाके लिए महाराज धंगदेवने समीपवर्ती दुर्बल राजाओंका उच्छेदन भी किया। अधिराजेश्वरत्वकी प्राप्तिके लिए चन्देलोंने बड़ी दृढ़तासे शत्रु और मित्रराष्ट्रोंके प्रति मंडल-सिद्धान्तको अपनाया। तुर्कोंके आक्रमणके प्रति चन्देल-शासकोंने अपने समयमें सर्वाधिक जागरूकताका उदाहरण रक्खा और उन्हें आततायीसे कम नहीं माना। उनके आक्रमणको सम्पूर्ण देशके गौरवके विरुद्ध भयंकर जेहाद माना और धंगदेव तथा गंडदेवने उनका सामना करनेके लिए उत्कृष्ट राष्ट्रियतासे ओतप्रोत स्पष्ट नीति अपनाई। देशके भीतर परस्पर युद्धमान राजाओंको ललकारकर उन्होंने एक संघ बनाया और उससे तुर्कोंको रोकनेकी चेष्टा की। भारतकी पश्चिमोत्तर सीमाकी रक्षाके महत्त्वको भी उन्होंने पूरा समझा था, फलतः मध्यभारतसे वहाँ पहुँचकर धंगदेवने सुबुक्तगीनको रोका।

दुर्बलताओंसे ऊपर उठकर सारे देशके हितके लिए उसने अपने स्वार्थोंका संवरण किया। यह दूसरी बात है कि संघोंके संगठनमें थोड़ी शिथिलता आ जाने तथा सुदृढ़ सीमा-नीतिकी कमीके कारण विदेशी आक्रमणकारियोंको कुछ समयके लिए केवल रोका ही जा सका परन्तु उन्हें सर्वदाके लिए पराजित नहीं किया जा सका। चन्देलोंने विदेशोंसे कूटनीतिक संबंध स्थापित किये। गंडदेवने गजनी-साम्राज्यसे दौत्य संबंध स्थापित किया था। इसके अतिरिक्त भारतीय नरेशोंसे वैवाहिक संबंध भी स्थापित किये थे, जिनका राजनीतिक महत्त्व था। कलचुरियोंके साथका संबंध बड़ा प्रभावकारी हुआ। कहनेका तात्पर्य यह कि चन्देलोंका विदेशी सम्पर्क मध्ययुगके इतिहासमें सबसे प्रभावकारी सिद्ध हुआ।

जिस समय इस देशके भीतर और बाहर दोनों ओरसे असाधारण संघर्षकी अवस्था बनी थी उस समय चन्देलोंने अपना शासन सुदीर्घ कालतक कैसे संचालित किया, यह एक रहस्यका विषय है। चन्देलोंके अभिलेख, दान-पत्र और उनके युगके साहित्यसे यह रहस्य उद्घाटित होता है। इस विस्मयकारी तथ्यका आधार था उनका उदार, सुरक्षित और लोकप्रिय शासन। उनकी यह सफलता तत्कालीन इतिहासमें अनोखी थी। राजसत्ता निःसीम राजतंत्रपर आधारित थी जिसके अवयव शक्तिशाली सामंत थे। किन्तु स्मृतियों द्वारा राजे आत्म-नियंत्रित थे और स्वेच्छा-चारितासे विरत थे। फलस्वरूप वे प्रजावत्सल बन सके और प्रजामें भी उनके प्रति भक्तिकी धारा उमड़ पड़ी। उनका सार्वभौम साम्राज्य केन्द्रीय, प्रांतीय और

स्थानीय शासनकी इकाईयोंमें विभक्त था। इन सभीकी व्यवस्था परम्परागत कर्मचारियोंकी सहायतासे की जाती थी।

शासन-व्यवस्था विविध विभागोंमें बटी हुई थी। ये विभाग पुरोहित, प्रतिनिधि, प्रधान, सचिव, मंत्री, प्राडविवाक, पंडित, सुमंत्र और अमात्य आदि मंत्रियोंमें बँटे थे। चन्देलोंकी अर्थ-व्यवस्था बड़ी विकसित थी। महाक्षपाटलक इसका प्रधान कर्मचारी था। राजकोष बराबर सागरके समान भरा रहता था—ऐसे संकेत मिलते हैं। आयके अनेक साधनोंमें भूमिकर, अन्य शुल्क और खनिज विशेष उल्लेखनीय थे। व्ययके स्रोत भी निर्धारित थे—सेना, दानधर्म, जन-हित, शासन-व्यय, आत्म-भोग ऐसे विशेष महत्त्वके विषय थे जिनपर राजकोष व्यय होता था। न्यायकी व्यवस्था प्राचीन आधारको लेकर ही चल रही थी किन्तु धर्म-शास्त्रोंने पहलेकी बहुत अधिक अपनी मान्यताएँ बदल दी थीं। ग्राम-पंचायतें न्यायकी अंतिम इकाइयाँ थीं। दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकारके अभियोग एक ही न्यायालयमें देखे जाते थे। राजा न्यायकी मूर्ति होता था। वहाँ न्यायका निर्देश पुरोहित करता था। दण्ड-विधान कठोर होता जा रहा था। शारीरिक दंड से ब्राह्मण भी मुक्त नहीं होता था। अलबरूनीसे पता चलता है कि सत्य-परीक्षा आदि विधियाँ भी न्याय-प्रणालीके काममें लाई जाती थीं।

इस युगकी सैनिक व्यवस्थामें दोष अवश्य आ गये थे किन्तु सैनिकोंमें शौर्य, अनुशासन, राष्ट्रप्रेम, उत्सर्ग और बलिदानकी भावना कादापि कम नहीं हुई थी। चन्देलोंके पास एक लम्बी स्थायी सेना रहती थी। मौकेपर सामंतोंकी सेना भी ले ली जाती थी और नवीन सेना भी भरती कर ली जाती थी। चन्देल शासक सैनिकों-की भरती स्थानीय लोगोंमेंसे ही करते थे। सेना बड़ी सुगठित थी। दुर्गविन्यास भी उसकी सैन्य-व्यवस्थाका एक विशेष अंग था। सेना पैदल, अश्व, और हस्ति श्रेणियोंमें विभाजित थी। नौ-सेना भी वर्तमान थी। सैनिकोंमें नैतिकता और युद्ध-संबंधी मर्यादा तुर्कोंसे कई गुना अधिक थी। सेनाके अतिरिक्त पुलिसकी व्यवस्था भी उस समय की गई थी। राजस्थानीय इस विभागका सर्वोत्तम कर्मचारी था। जनहितके कार्योंके लिए एक अलग विभाग ही था। इसके द्वारा सड़कोंका निर्माण, घाटोंका प्रबंध, सिंचाई, और शिक्षाका प्रबन्ध होता था। ज्ञात होता है कि चन्देलोंके यहाँ धार्मिक क्रियाओं और आचार आदिकी देख-भालके लिए एक अलग विभाग था। सार्वजनिक विनोदका प्रबन्ध भी सरकारकी ओरसे किया गया था। चन्देलोंकी शासन-व्यवस्थाके संबंधमें शिलालेखोंमें बड़े ही आकर्षक वर्णन मिलते हैं, यहाँतक कि इसकी तुलना स्वर्ण-युगसे की गई है।

सभ्यता और संस्कृति

मध्ययुगमें हिन्दुओंकी सामाजिक अवस्था विलक्षणताओंसे भरी थी। मुसलमानोंके आगमनके पूर्वतक समाजकी प्रकृति उदार बनी रही और बौद्धोंके साथ समीकरण

और निगरणकी प्रक्रिया जारी रही। किन्तु मुसलमानोंके आनेके पश्चात् उनकी गतिमें विलोमता और धारणामें अनुदारता आने लगी। प्रतिक्रिया-रूपमें वर्जनशील और संकीर्ण भावनाओंका आविर्भाव हुआ। समाजमें चारों वर्णोंकी प्रतिष्ठा पूर्ववत थी किन्तु उनमें संघटनकी दुर्बलता आ गई थी। भोजन और विवाहकी क्रियाओंमें अंतर्जातीयताका बहिष्कार रूढ़ होता जा रहा था। जन्मना जातिकी मान्यता दृढ़ हो गई थी। गुण विशेष अथवा स्थानीय विशेषता अथवा रक्त और गोत्रके आधारपर प्रत्येक वर्णमें तेजीसे वर्ग और उपजातियाँ बनती जा रही थी। क्षत्रियोंमें वंशकी श्रेष्ठताके आधारपर शाखा विस्तार विशेष रूपसे हुआ—वैश्योंका तो अभ्यासोंके आधारपर हुआ। तुर्कोंके सम्पर्कसे समाजमें संकोच और बहिष्कारकी प्रवृत्ति बढ़ती गई। यह एक सामयिक प्रतिक्रिया थी।

कतिपय संस्थाओंके रूपमें सामाजिक अवयवोंका विकास तत्कालीन समाजकी एक दूसरी विशेषता है। परिवार और उसका व्यावसायिक रूप महत्त्वका था। चारों वर्णोंके परिवारोंमें रीतियों आदिकी भिन्नताके कारण अपार भिन्नता आती जा रही थी। परिवारोंमें व्यावसायिक विपर्यय बहुत होने लगा था। विवाहको लोग सामाजिक कर्त्तव्य मानते थे। इस समयतक विवाह-पद्धतिमें गुरुतर परिवर्तन हो चले थे। वर्ण या जातिके बाहर विवाहकी प्रथा पूर्णतः समाप्त हो गई थी। इस युगके उत्तरकालमें बाल-विवाहका अभ्यास प्रचलित हो गया। सती-प्रथा सामान्य रूपसे लोक-प्रिय बन गई थी। विधवाओंके विवाहके लिए मनुने अनुमति प्रदान की है—किन्तु प्रौढ़ विधवाओंके लिए विवाहका प्रचलन नहीं था। बाल-विवाहके कारण बाल-विधवाओंकी संख्या समाजमें बढ़ रही थी। बहु-विवाह तो हिन्दुओंमें एक परम्परागत प्रथा हो गई थी। समाजमें स्त्रियोंकी अवस्था खेदजनक थी। स्त्रियोंके संबंधमें धर्मशास्त्रोंके आदर्श बदल चुके थे। पुरुषोंकी ओरसे स्त्रियों-पर कठोर अनुशासन लदता जा रहा था किन्तु वे सामाजिक कार्योंमें निर्बाध भाग लेती थीं। मुसलमानोंके सम्पर्कके पश्चात् हिन्दुओंकी धारणा अपनी कन्याओंके प्रति उपेक्षाकी होने लगी। इतना होते हुए भी स्त्रियोंमें शील, सतीत्व और पातिव्रत्यकी महिमा कम नहीं हुई। स्त्रियोंको शिक्षा भी दी जाती थी।

इस समय भारत वासियोंका भोजन और पेय बड़ा ही सौख्यपूर्ण था। आमिष भोजनकी ओर लोगोंकी प्रवृत्ति बढ़ रही थी। वे मद्यको हेय दृष्टिसे देखते थे। मध्य भारतमें वस्त्राभरणमें विलक्षणता पाई जाती थी। वस्त्रों और आभूषणों-पर वे पर्याप्त व्यय करते थे। तत्कालीन समाजकी एक विशेषता थी प्रचलित विश्वासोंके प्रति असाधारण आस्था। दैनिक जीवनसे संबंध रखनेवाले कितने ही अंधविश्वास सामान्य-जनोंमें घर कर चुके थे। समाजमें विनोदके अनेक साधन वर्तमान थे। सामाजिक उत्सवोंके अलावा अभिनय आदि भी होते थे।

इस युगकी धार्मिक अवस्था जाननेके लिए उसे दो भागोंमें विभाजित कर

देना होगा। पूर्वार्द्ध तो साधारण रूपसे सनातन ब्राह्मण-धर्मकी छत्रछायामें था। शिव, विष्णु, आदित्य, देवी, गणेश और कुछ वृक्ष-पशु भी पूजित थे किन्तु सभी उस धर्म-प्रवाहकी विविध तरंगें थीं। प्रथम आवलिके सभी चन्देल शासक साधारणतया विष्णुके भक्त थे। इस समय बौद्ध-धर्मका तिरोहण बड़ी तीव्रतासे हो रहा था। एक ओर तो वह शीघ्रताके साथ हिन्दू-धर्ममें विलीन हो रहा था, दूसरी ओर संघारामोंके भ्रष्ट जीवनके कारण वह लोगोंमें घृणित बनता जा रहा था। भारतसे इसके विलोपकी घटना अत्यंत ही आश्चर्य-भरी है। वह अपनी जन्मभूमिमें भी न टिक पाया। किन्तु जैन-धर्म अपनी सहज गतिसे चलता जा रहा था। हाँ, जैन पंडितोंने उत्तर भारतके राजपूत राजाओंके यहाँ अपना प्रभाव प्रतिष्ठित करनेका पूरा प्रयत्न किया था। उत्तर-भारतमें विशेष रूपसे श्वेताम्बर जैन ही प्रतिष्ठित माने जाते थे।

चन्देल युगके उत्तरार्द्धमें हिन्दू-धर्मका परिवर्तित स्वरूप समक्ष आया। उसकी विधि-पद्धति पूर्णतः भिन्न थी। सर्वशक्तिमान् देवदेवियोंके रूपमें विष्णु, शिव या शक्तिकी पूजा वैदिक मान्यतासे बिल्कुल अलग थी। वैदिक धर्मके सुपरिचित शब्द 'श्रद्धा' की जगह 'भक्ति' का प्रादुर्भाव हुआ। विभिन्न देवताओंके निमित्त बने देवालयोंमें मूर्तियोंकी व्यक्तिगत अर्चनाको प्रश्रय मिला। तात्पर्य यह कि हिन्दू देव-मंदिरोंका युग आरम्भ हो गया। वैष्णव और शैव सम्प्रदायोंने अनेक नूतन मान्यताएँ प्रतिष्ठित कर दीं। वैष्णव धर्मने अहिंसाकी व्यापक मान्यता तथा सांसारिक विभूतियोंके भोगका अनूठा मार्ग स्थापित किया। नव शैवमतने वीर-शैवोंके माध्यमसे अहिंसाके मूल सिद्धान्तको ग्रहण किया। उत्तरार्द्धके सभी चन्देल शासक शिवके अनन्य भक्त थे। शक्तिकी पूजाका आविर्भाव भी अत्यंत अभिनव रूपसे हुआ। इस समयतक इस सम्प्रदायमें रहस्यों और चमत्कारोंका जमाव हो गया था। तांत्रिकों और अघोर-पंथियोंके उदयके साथ मैथुन और मदिराका उसी प्रकार प्राबल्य हो गया जिस प्रकार वज्रयानियों और मंत्रायनियोंमें। हिन्दू-धर्ममें उपासनाके और अनेक माध्यम स्थापित हो गये थे। धर्म-यात्रा, तीर्थ, दान, त्योहार और व्रतोंकी मान्यता अत्यधिक हो गई थी।

चन्देल शासक धार्मिक उदारतामें विश्वास करते थे। सभी धर्मोंके प्रति उन्होंने सहिष्णुता बरती। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सभी तृप्त थे, सभी उनके दान-मानके पात्र बने थे। शैव-वैष्णवोंके सहज मिलनका खजुराहो तो केन्द्र ही बन गया था।

साहित्य और भाषाके क्षेत्रमें चन्देल-इतिहासका कम योग नहीं है। यह काल प्रदेशीय भाषाओंके उदयका था। आठवीं और नवीं सदीके आते-आते प्राकृत भाषाएँ बोल-चालकी भाषाएँ नहीं रह गईं। तत्सम शब्दोंको क्रमशः ग्रहण करके हिन्दीका युग चल पड़ा। पश्चिमी हिन्दीसे बुन्देलखण्डी भाषाका रूप निखरा। चन्देल साम्राज्यमें बुन्देलखण्डी भाषा अपनी अनेक स्थानीय बोलियोंके

साथ बारहवीं सदीतक पूर्ण विकासपर पहुँच गई। इस भूभागके पूर्वमें बघेल-खण्डी बोली जा रही थी। हिन्दी भाषामें सबल साहित्यकी रचना होने लगी थी—वीरों और शासकोंकी दानशीनलता, युद्धकौशल, शौर्य और पराक्रमका अतिशयोक्तिके साथ वर्णन ही काव्यका सामान्य विषय था। उस युगकी बची-खुची साहित्यिक कृतियोंमें पृथ्वीराजरासो, बीसलदेवरासो और खुमानरासो आदि हैं।

संस्कृत साहित्यकी धारा किसी भी प्रकार देशी भाषाओंके आगमनसे खंडित नहीं हुई। इस युगमें भी उत्तम श्रेणीकी मौलिक रचनाएँ अलंकार, काव्यांग, दर्शन, धर्मशास्त्र, न्याय, व्याकरण, जोतिष, आयुर्वेद और संगीत आदि विषयोंपर हुईं। साहित्यके विविध अंगोंपर भी रचनायें की गईं। तत्कालीन कृष्ण मिश्र-विरचित प्रबोधचन्द्रोदय युग-प्रतिनिधि नाटक है।

चन्देल शासकोंका साहित्य-प्रेम अनोखा था। विद्वानों और कवियोंको आश्रय दे कर उन्होंने साहित्यकी उन्नतिमें आशातीत बल पहुँचाया। गंडदेव तो स्वयं बड़ा कवि था। परमर्दिदेव और उसका संधि-विग्रहिक गदाधर दोनों उस युगके प्रसिद्ध हिन्दी कवि थे। लोक-काव्यका नेता जगनिक चन्देलोंका ही आश्रित था।

तात्पर्य यह कि चन्देल राजाओंने जीवनके विविध अंगोंके न केवल महत्त्वको समझा बल्कि उनके उन्नयनके लिये उदार और दानशील भावका परिचय दिया। विविध कलाओंको संरक्षण प्रदान करके उन्होंने परंपराकी रक्षा की। शास्त्रीय आधारपर उन्होंने वास्तु-विन्यास किया। इस युगके स्थापत्यके विविध नमूने हमें आज भी प्राप्त होते हैं, जो उनके गौरव और शालीनताके द्योतक हैं। उन्होंने कितने वैभवशाली नगर बसाए—खजुराहो, अजयगढ़, कालंजर और महोबा उनकी कृतियाँ हैं। जलाशयोंका जो जाल आज विंध्यप्रदेशके धरातल पर फैला है, वह देशमें अपना सानी नहीं रखता। इनकी रचना, महाकायता और पर्वत प्रदेशसे आवृत उनका नैसर्गिक दृश्य अद्वितीय है। महोबाके कीरत-सागर और मदन-सागर आज भी अपनी अपहृत विभुताके साथ दर्शकको विस्मित कर देते हैं। दुर्गोंके निर्माणमें चन्देलोंने अपनी कुशल व्यूह-रचना और सैन्य-प्रतिभाका परिचय दिया है। चन्देलोंके आठ दुर्ग आज भी अपने भग्नावशेषोंके साथ हमारी स्मृतिको उद्बोधित कर देते हैं। स्थिति और सुदृढ़ताके लिये उत्तर भारतमें उस समय कालंजरको तो सर्वोत्तम स्थान प्राप्त था। युग-युगसे अध्यात्मकी अक्षय प्रेरणा देने-वाले कालंजर गिरि पर इस दुर्गकी रचना की गई है।

कलाके जिस क्षेत्रमें चन्देलोंने मध्यकालीन इतिहासमें असाधारण स्थान प्राप्त किया है वह है देवालयोंकी रचना। खजुराहो और उसके पास-पड़ोसमें तीस से अधिक मंदिरोंके अवशेष आज भी मिलते हैं। सभी मिलकर एक विशेष कला-पद्धतिका उदाहरण रखते हैं। अलंकरणकी गहनता और विविधतामें दूसरा उदाहरण इस देशमें नहीं मिलता। अलंकरणकी मूर्तियोंमें कल्पनाकी सूक्ष्मता, वृत्ति-वैभव और विश्लेषण जितना ही परम्परागत है उतना ही नूतन और मौलिक। उनमें

संसार भी है लेकिन उनके माध्यमसे अध्यात्मकी ग्रंथियोंको व्यक्त करनेका निर्देश ही प्रमुख है। साधारण रूपसे सभी मंदिर नागरशैली पर बने हैं। कुछ ही मंदिर पंचायतन शैलीके हे। कंधारिया महादेवका मंदिर उनकी कलाका सर्वोत्तम प्रतिनिधि है।

चन्देल युगका स्थापत्य और मूर्तिकला अविभाज्य हैं। मूर्तियोंका रचना-सौष्ठव, भंगिमा, अंग-विन्यास, गठन तथा कलापक्ष अध्ययनकी प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करता है। मंदिरोंकी भित्तियोंपर खचित मूर्तियोंमें मान्मथ मूर्तियाँ दार्शनिक दृष्टिसे बड़े कामकी है। उनसे एक परंपरा, प्रवृत्ति और दर्शनका बोध होता है—इनकी रचनाका अश्लील तात्पर्य कदापि नहीं है।

मुद्रा-पद्धतिका भी इस समय विकास हुआ था। यद्यपि वे सर्वथा मौलिक नहीं हैं, परन्तु उनकी उत्कृष्टता स्पष्ट है। उनके स्वर्ण-सिक्के गांगेयदेवके अनुकरण पर बने हैं। चन्देल सिक्के अधिक प्राप्त नहीं हो सके हैं। कीर्तिवर्मन्से वीरवर्मन्के युगतकके सिक्के मिले हैं। और उनका ऐतिहासिक अस्तित्व अकाट्य हैं। ललित कलाओंके क्षेत्रमें भी चन्देलोंने अपनी सुखद स्मृति छोड़ी है। अभिनय, रंगशाला, संगीत और नृत्य सबकी सन्तोषजनक उन्नति हुई थी। विविध शिल्पोंकी भी यथेष्ट उन्नति हुई थी।

चन्देल इतिहासका जब सर्वांगीण चित्र समक्ष उपस्थित होता है तब यह स्वीकार करना पड़ता है कि अपनी सार्वभौम राजनीतिक कल्पना, वीरता, शासनका संघटन, साहित्य और कलाकी प्रचुर मात्रामें उन्नतिके कारण चन्देल मध्ययुगके महान् राजवंश थे।

परिशिष्ट

गिद्धौर राज्यका इतिहास

भौगोलिक वृत्त

तेरहवीं सदी और उसके परवर्ती युगमें चन्देलोंका राजनीतिक क्रीडास्थल प्रमुख रूपसे भारतका जो भाग बना वह उनकी पैतृक भूमिसे हटकर काफी पूर्व-की ओर चला गया था। यह वही भाग था जो प्राचीन युगमें अंग देशके नामसे प्रख्यात था। अपनी राजनीतिक इकाईको निर्लिप्त रखनेमें यह भूभाग सर्वदासे प्रयत्नशील पाया जाता है। यहाँका इतिहास सहज रूपमें विकसित होनेका उतना अवसर प्राप्त करता रहा है जितना बंग-बिहारके किसी अन्य भागको नहीं मिल सका।

चन्देल शासकोंने यहाँ जो राज्य स्थापित किया वह गृध्रकूट (आधुनिक गिद्धौर) नामसे विख्यात है। इस राज्यका यह नाम पुरा-विश्रुत गृध्रकूट पर्वतसे संबंधित है क्योंकि मौलिक रूपसे इसी पर्वतके अंचलमें इस राज्यका विकास और संचालन हुआ।

महाभारत और पुराणोंमें अनेक स्थलोंपर इस पर्वतकी बड़ी पावन चर्चा मिलती है। पौराणिक वृत्तके अनुसार इस पर्वतका यह नाम रामायण युगमें पड़ा और प्रसिद्ध गृद्ध जटायुके निवाससे इसका नाम गृध्रकूट पर्वत पड़ा।[1] महाभारतमें गया आदि तीर्थोंकी श्रेणीमें रखकर इसे धार्मिक तीर्थोंकी मर्यादा दी गई है।[2] संस्कृत साहित्यमें पहले यह गृध्र-वट होकर आया है। गृध्रवटका अर्थ है—गिद्धोंका वट-वृक्ष। सम्भवतः इसका तात्पर्य पर्वतपर स्थित उस वटसे है जहाँ गिद्ध रहा करते थे। बौद्ध-साहित्यमें यह गृध्रवट न रहकर गृद्धकूट हो गया। उस वृक्ष-विशेषने पूरेपर्वतको अपनी संज्ञा प्रदान कर दी। फ़ाहियानने भी इधर भ्रमण किया था।

---

१. पुराणोंमें विवरण है कि—नीलाचल पर्वतकी दो श्रणियाँ हैं—गंधमादन और गृद्धकूट। अयोध्याके चक्रवर्ती राजाने गृध जटायु और सम्पाती दोनोंके निवास के लिये इस पर्वतको प्रदान किया था। उनके निवाससे इस पर्वतका नाम गृद्धकूट पड़ा।

२. तब मनुष्यको गृद्धवर्त जाना चाहिये, वह भूमि जो त्रिशूलधारी शंकरके द्वारा प्रतिष्ठापित है। इस देवताके पास पहुँच कर, जिसके चिह्न स्वरूप नन्दी वर्तमान है, भस्म मलना चाहिये। अगर वह ब्राह्मण है तो १२ वर्ष अनुष्ठान करनेका फल प्राप्त करता है और यदि किसी अन्य वर्णका है तो अपने समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है। —महाभारत।

उसके युगमें भी इस पर्वतकी धार्मिक मान्यता वैसी ही थी। आज भी यह पर्वत जिन देवी-देवताओंका वासस्थान माना जाता है उनकी पूजा अत्यंत प्राचीन समयसे होती चली आ रही है। इसपर गृद्धेश्वर शंकरका स्थान है। यहाँ शक्तिके रूपमें अत्यंत लोकप्रिय बगला देवीकी अर्चना अति प्रसिद्ध है। इस देवीसे यहाँके राजवंशोंका संबंध तो बहुत कुछ कुलदेवी का सा पाया जाता है।

इन अनेक धार्मिक स्मृतियोंका संवहन करता हुआ यह पर्वत अपनी प्राकृतिक विभूतियोंके साथ दूर तक विस्तृत है। चन्देलोंके इस उप-साम्राज्यको दक्षिण-पश्चिमकी ओरसे मुख्य रूपसे संरक्षण प्रदान कर रहा था। विंध्यपर्वतकी अन्य श्रृंखलाओंने इस भू-भागको चतुर्दिक्से घेरा था—पूर्वमें मंदारगिरि, पश्चिममें गिरिव्रज, उत्तर-में चन्द्रशैल और दक्षिणमें मरुभकूट। ये सब विंध्यकी राजमहल श्रेणी की श्रृंखलाएँ हैं। इन पर्वतोंकी ऊंचाई किसी-किसी स्थल पर डेढ़ हजार फीटतक पहुंच गई हैं। इस अंचलमें प्रवाहित होनेवाले अनेक नद-नालोंने इसकी शोभा और द्विगुणितकी कर दी है। उत्तरी सीमाकी ओर गंगा नदी दूरतक इस भू-भागको सिक्त करती हुई बहती है। कटहारा नदी साधारणतया उत्तरी भागमें ही बहती है और गंगामें जाकर मिल जाती है। पश्चिमकी ओर क्यूल नदी बहती है। बर्नर नदी वर्तमान गिद्धौरसे केवल दो मील दक्षिण दिशामें अधिकतर विषम भूमिसे होकर बहती है। दो छोटी और नदियां उलाम और नागी गिद्धौरके सन्निकटसे होकर प्रवाहित होती हैं।

मध्ययुगमें यह भाग अपेक्षाकृत अत्यधिक वनोंसे व्याप्त था। भूमिकी बनावट भी सामान्यतया विषम ही है। जगह-जगहपर पठारी भूमि अव्यवस्थित ढंगसे निकल आई है। कितनी ही अधित्यकाएं मनहूस रूपसे अवस्थित है। इस भू-भागका दक्षिणी-पश्चिमी भाग इस प्रकारके बहुतसे दृश्य उपस्थित करता है। जहां कहीं मैदान प्रारम्भ हुए हैं वे भी अधिकतर अव्यवस्थित रूपसे निकले हुये पर्वत-कूटोंसे छिन्न-भिन्न हो गए हैं। कुछ भाग तो ऐसे जल-स्रोतोंसे छिन्न-भिन्न हो गये हैं जो दो-दो चार-चार मील बहनेके पश्चात् किसी नदीमें मिल जाते। समतल भूमिका सिलसिला केवल उत्तर-पश्चिममें अबाध रूपसे गया मिलता है।

पर्वत प्राचीरोंसे आवेष्टित और ऊबड़-खाबड़ भूमिसे बने हुये देशके इस भागने जहां यहाँके राज्योंको राजनीतिक सुरक्षा प्रदान की वहाँ विविध विभूतियोंने ऐश्वर्यके साधन भी प्रस्तुत किये। पहाड़ी जल-स्रोतोंके कूलोंपर जो हरियाली-से गह्वर पट और निकुंज छाये हुये हैं, उन्हें चित्ताकर्षक बनानेमें प्रकृतिने बड़े मनोयोगसे काम किया है। कहीं-कहीं लम्बे वन-प्रांतर और उनकी समवेत हरीतिमा दर्शकोंका चित्त सर्वदाके लिये बाँध लेती है। ध्यान देनेकी बात यह है कि पर्वतोंसे प्राप्त वानस्पतिक और अन्य उपादान पुराने समयसे ही मूल्यवान् तथा कामके रहे हैं। खेद है कि इन साधनोंका अभी भरपूर विकास नहीं हुआ है,

अन्यथा साम्पत्तिक दृष्टिसे भारतका यह भाग बहुत ही समृद्ध बन जाता। यहाँकी भूमि भी समान्यतया उपजाऊ है और कहीं-कहीं तो मिट्टीकी बनावट तथा उपज की दृष्टिसे सर्वोत्तम भूमि भी मिलती है।

चन्देलसे पूर्वका युग

यों तो इस भागमें प्राचीनतम इतिहासके ऐसे अवशेष प्राप्त हुये हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि इस भागके इतिहासका गौरव चिर-कालीन है। बौद्ध-कालीन बौद्ध विहारका एक विस्तृत भग्नावशेष गृद्धकूट पर्वतके चरणमें मिलता है। वहाँसे थोड़ी ही दूरपर एक वृक्षके नीचे कुछ बौद्ध मूर्तियाँ एकत्र कर ली गई हैं। इन्हें छोटी जातियोंके हिन्दू आजकल पूजते हैं। पर्वत श्रेणीसे लगभग पाँच मीलकी दूरीपर एक बौद्ध-कालीन स्तूप प्राप्त होता है। यह तत्कालीन भव्य अवशेष है।

सातवीं सदीके बाद इस भू-भागका इतिहास काफी चंचल रहा है। यहाँकी व्यवस्थापर विभिन्न सत्ताओंके बदलनेका कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता ही रहा। सन् ६४७ ई० के पश्चात् और ११वीं सदीके पहले राजपूत शासकोंके विजयोंके आरोह-अवरोहमें यह अंचल अनेक बार पदाक्रांत तो हुआ पर शासन सर्वदा स्थानीय ही बना रहा। यहाँ की प्राकृतिक बनावटका संरक्षण प्राप्त करके यहाँका दुर्बल राजा भी विजेताओंके लौटते ही सिर उठाने लगता था और थोड़े समयके भीतर ही अपनी स्वतंत्र सत्ता बना लेता था। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि प्रभाव-कारी विजेताओंने इसे बुरी तरह पराजित किया तब भी उसे वे अपने राज्यमें सीधे सम्मिलित नहीं कर पाये। करद बनाकर अथवा अधीनता स्वीकार कराकर उन्हें शासन-भार लौटा देना पड़ा। लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि बंगाल आदि प्राच्य देशोंके मार्गमें पड़नेके कारण यहाँ देशके प्रत्येक राजनीतिक परिवर्तनका अक्षुण्ण रूपसे प्रभाव पड़ता रहा और संघर्ष अविराम रूपसे चलता रहा।

समुद्रगुप्तने विन्ध्यमेखलाके जिन अनेक आरण्यक राजाओंको पराजित करके करद बनाया उनके साम्राज्यका यह पूर्वी भाग था। बीचमें यदा-कदा शृंखला अवश्य भंग हुई किन्तु आरण्यक राजाओं-द्वारा शासित होनेका अवसर बारहवीं सदी तक आता रहा—जब चन्देलोंने इसे हाथमें किया।

चन्देलोंके पहले यहाँके शासक किरात-वंशीय राजा थे। अनुश्रुतियोंसे ज्ञात होता है कि वे बहेलिया-वंशीय दुसाध थे। इस वंशके संबंधमें विशेष ज्ञात नहीं है। यह भी प्रमाणित नहीं होता है कि इस वंशके अधिकारमें यह राज्य कबसे आया था। लेकिन निश्चित है कि सातवीं सदीके बादकी ही इसकी स्थापना है।[1]

---

१. एक अनुश्रुतिके अनुसार यह ज्ञात होता है कि मगधका राजा इन्द्रद्युम्न जब संतान रहित हो गया तब उसे तीर्थ यात्रा करनेकी इच्छा हुई। अपने कर्म-चारियोंको राज्य भार सौंप कर उसने पुरीके लिये प्रस्थान किया। इसी

इस वंशके राजाओंने गृद्धकूट पर्वतके अंकमें गृद्धावती नगरी बसाकर अपनी राजधानी स्थापित की। इस वंशके जिस राजाके संबंधमें ज्ञात हो सका है वह है राजा हरेवा। स्थानीय लोगोंमें इसके राज्यकालके संबंधमें अनेक किंवदंतियाँ आज भी प्रचलित हैं। उनसे उनके शौर्य, विभुता और राज्य-विस्तारका परिचय प्राप्त होता है। गृद्धकूट पर्वतके चरण-भागमें एक प्राचीन दुर्गके भग्न प्राचीर आज भी वर्तमान हैं। इसे लोग 'गढ़ राजा हरेवा' कहते हैं। दुर्गके भग्न भागोंको देखनेसे भी यह अनुमान होता है कि यह दुर्ग बड़ा ही दृढ़ और मजबूत था।

राजा हरेवाका उत्तराधिकारी कौन था, इस प्रश्नका उत्तर संदिग्ध है। उसका पौत्र निगोरिया हुआ जो तेरहवीं सदीके उत्तरार्धमें यहाँ शासन कर रहा था। इसने अपने पूर्वजोंकी ख्याति, साम्राज्य और धाकको अपेक्षाकृत अधिक बढ़ाया। अनुश्रुतियोंसे ज्ञात होता है कि वह शैव था और दुर्गाका बड़ा भक्त था। किन्तु प्रजाके साथ उसका व्यवहार उचित नहीं था। असंतुष्ट प्रजा किसी ऐसे अवसरकी प्रतीक्षामें थी जब उसके साम्राज्यके विरुद्ध विद्रोह करके वह मुक्त होती। वह धार्मिक प्रतिक्रियाका युग था। लोगोंको उससे जितना राजनीतिक असंतोष नहीं था उससे अधिक असंतोष उसके सामाजिक आचरणसे था। वर्णाश्रम धर्मके विपरीत उसकी गतिने क्रमशः लोगोंमें असंतोष बढ़ा दिया। ऐसे ही समयमें उत्तर-पश्चिमसे चन्देलोंका आक्रमण हुआ।

दिल्लीमें ऐबकका राज्य सन् ११९३ तक प्रतिष्ठित हो चुका था। उसके पश्चात् उसके सुयोग्य सैनिक इख्तियारुद्दीन बिन बख्तियार खिल्जीने बिहार-पर आक्रमण किया और विख्यात नगर उदन्तपुरीको लूटा, अनेक बौद्ध मठा-धीशोंका वध किया, पुस्तकालयोंको उठाकर दिल्ली लाया और कुछको जलवा भी डाला। इस विनाशकारी प्रभंजनका प्रभाव इस गिद्धौर राज्यके ऊपर स्थायी नहीं पड़ा। किरात-राज्य अविच्छिन्न वर्तमान रहा। उसी प्रकार बंगालके सेनोंके प्रभावसे भी यह राज्य मुक्त रहा। बिहारपर जब सन् १२२५ में अल्तमशने सैन्य-संचालन किया तब उसे अधीन करके उसने बिहार और अवधके बीच कड़ी ठीक कर ली। लेकिन बिहारके मुसलमान शासनके अधीन आनेके बाद भी गिद्धौरके इतिहासका अध्याय स्वतंत्र ही चल रहा था।

बंगालमें सेनोंके बाद महत्वाकांक्षी मुसलमान शासकोंका आधिपत्य चलना आरम्भ हुआ। उनकी भगीरथ चेष्टा दिल्लीकी अधीनतासे स्वतंत्र होनेकी बनी

समय उसका एक अति निकृष्ट कर्मचारी दुसाध, जो अत्यंत महत्वाकांक्षी, प्रतिभा-शाली और शौर्यवान था, षड्यंत्रसे मगधकी निर्बल सत्ताको हस्थगत कर लिया। उसने अपने वंशके राज्य की स्थापना की। इन्द्रद्युम्न कालीन राज्य भवनके भग्नावशेष जमुई स्टेशनके निकट अब भी वर्तमान है।

रही। दिल्लीके बादशाहोंको सर्वदा बंगाल विद्रोहको काबूमें करनेके लिये दौड़ना पड़ता था। सेनाओंके इस आरोह-अवरोहमें अपनी स्वाधीनता बनाये रखनेमें निगोरियाने बड़ी दृढ़तासे काम लिया। इतना अवश्य हुआ कि उसका राज्य सिमिटकर पहाड़ी भूमि-मात्रमें रह गया।

कालंजर से गिद्धौर

जैसा कि आठवें अध्यायमें बतलाया गया है, भोजवर्मन्देवका राज्य पश्चिममें कालंजरतक फैला था। अजयगढ़के आसपास उसकी सत्ता बड़ी दृढ़ थी। पूर्वमें चन्देल राज्यकी सीमा मिर्जापुरको पहाड़ियोंतक विस्तृत थी। पश्चिमी भागमें राजधानी रखना सुरक्षित नहीं था अतः मुसलमानोंके निरंतर आक्रमणसे बचनेके लिये भोजने अपनी उप-राजधानी बरदीमें बना ली। किन्तु कालंजर और अजयगढ़को सैनिक दृष्टिसे वही प्रतिष्ठा प्राप्त थी। इस समयतक चन्देलोंके उप-राज्य—राजाओंके छोटे भाइओं द्वारा स्थापित—इसीके पड़ोसमें अगोरी, बड़हर और विजयगढ़में स्थापित हो चुके थे। वे वास्तवमें मूल राज्यवंशकी छत्रछायामें संचालित हो रहे थे। भोजदेव स्वयं कालंजर और अजयगढ़से राज्य-शासन कर रहा था। अपने छोटे भाई वीरविक्रमको पूरा अधिकार देकर उसने बरदीका राज्य भार सौंप दिया था।[1] भोजवर्मन् अपने वंशका चौबीसवाँ राजा था। उसका राज्यकाल सन् १२८२ से प्रारम्भ हुआ।

अपने बीस वर्षके शासन-कालमें—सन् १२६६ से ८८—बलबनने ऐसे क्रूर और नृशंस तरीकोंका प्रयोग किया कि इस देशके लोगोंमें न केवल आतंक छा गया बल्कि यहाँके शासकोंमें प्रतिहिंसाकी भावना जल उठी। राजपूत शासक केवल अवसरकी ताकमें थे कि हम कब विदेशी शासकोंसे मुक्त हो जायें।[2] फिर भी यह ऐसा झंझावात था जिसका साहसके साथ प्रतिरोध करना दुष्कर था। उसने

१. गिद्धौर राज्य द्वारा प्रकाशित एक छोटेसे स्मारक ग्रंथमें (अंग्रेजी भाषा में १६०६ में) यह प्रगट किया गया है कि परमर्दिके बाद उसके दो पुत्र परिमल और बारिमलने तीन राज्य, अगोरी बड़हर, विजयगढ़ और बरदी स्थापित किया। किन्तु यह धारणा भ्रामक है। इसका निराकरण अध्याय ८ में किया गया है।

मदनमाधवीय ग्रंथ में जो मत इस संबंधमें व्यक्त किया गया है वह नितांत काल्पनिक है।

२. बलवन इत्यादि मुसलमान शासकोंने अनेक बार विद्रोहियोंको ऐसे दण्ड दिये जिनकी मिसाल इतिहासके पृष्ठोंसे कठिनाईसे मिलती है। बच्चों बूढ़ों, स्त्रियों-सबको काट डाला गया, हजारोंका जीते जी खाल खिचवा लिया गया। परन्तु सब व्यर्थ। वे स्वाधीनताके सैनिक इतनी भीषण यातनाओंसे तनिक भी भयभीत नहीं हुये...मध्यकालीन भारत, ७, पृ० ८२। फुटनोट, डा परमात्माशरण।

तत्कालीन राजपूतोंके साम्राज्यको बराबर बिगाड़ा और राजपूतोंने उनकी महत्त्वाकांक्षाको उनके लौटते उनके सामने ही रौंद डाला। स्वतंत्रताका यह प्रयास यहाँके शासकोंके मनमें बराबर प्रज्वलित विद्रोहके रूपमें चारों ओर ऐसा प्रकट होता रहा कि सुलतानोंके शासनके विद्रोह, युद्ध और षड्यंत्रोंके समवेत दृश्यसे तत्कालीन इतिहासमें इतिहासके अन्य तत्त्व विलुप्त हो गये हैं। पूरे सुलतानी शासनमें हिन्दुओंका प्रतिरोध जारी रहा। उन्हें सदा अपनी खोई हुई स्वाधीनता प्राप्त करनेकी धुन बनी रहती थी।

यह निश्चित है कि उनके प्रयासमें अनेक दुर्बलतायें थीं—दूरदर्शिता सहयोग, और राजनीतिक संघटनके अभाव में उनकी योजना बराबर असफल होती गई। परन्तु अगणित राजपूत राजाओंने पृथक्-पृथक् स्वतंत्र होनेका महनीय उदाहरण उपस्थित किया। व्यक्तिगत वीरता, कष्ट-सहिष्णुता आत्मत्याग और उनके संकल्पने तात्कालिक जगत्को चकित कर दिया था। यदि परिस्थितिवश कहीं उन्हें घुटने टेकने भी पड़े तो भी उन्होंने अधीनता ठहरने नहीं दी।[1]

मुसलमानोंके ऐसे ही आक्रमणके दबावसे भोजके कनिष्ठ भ्राता वीरविक्रमने और पूर्वमें अपने लिये राज्य स्थापित करनेकी बात निश्चित की। उसके साथ जो सेना थी, उसके अतिरिक्त विजयगढ़से भी कुछ सहायता लेकर उसने पूर्वकी ओर सैन्य-प्रयाण किया।[2] कुछ अनुश्रुतियाँ भी इस संबंधमें प्रचलित हैं, जिनका निष्कर्ष तो संगत है परन्तु कथानक प्रमाण्य नहीं।[3] इन अनुश्रुतियोंमें अतिरंजनके साथ-साथ कल्पना अधिक है।

---

१. यूरोपके इतिहासकारोंने हिन्दू शासकोंके इस प्रतिरोध को राजद्रोहकी संज्ञा दी है और इसकी निन्दा की है। उनकी यह धारणा सर्वथा अनुदार है। क्योंकि वे किसी वैधानिक रूपसे गृहीत शासक का विरोध नही कर रहे थे। विदेशी विजेताओंके विरुद्ध स्वतंत्रता के इस युद्धको विद्रोह कहना मिथ्या प्रचार है।

२. बरदी छोड़नेके कारणोंको अनुश्रुतिकारोंने अनेक प्रकारसे प्रमाणित किया है। एक अनुश्रुतिके अनुसार...दिल्लीके दरबारमें कवि इन्द्रसेन था। उसने वीर विक्रमके काव्य प्रेम और दानशीलताकी अनेक बार प्रशंसा की। ईर्ष्या वश सुलतानने उसकी परख करनेके लिये इन्द्रसेनको भेजा। इन्द्रसेन के काव्य पर मुग्ध होकर वीर विक्रमवर्मनने अपना समस्त राज्य दे डाला। तत्पश्चात् पूर्वकी ओर प्रस्थान किया और विजयगढ़में अपने भाईके यहाँ ठहर गया। रात्रिमें वैद्यनाथ शंकरने अपने स्वरूपका आभास देकर स्वप्न दिखलाया। आदि.....।

...श्री गृद्धकूटाधिपति वंशावली, तथा श्रीरावणेश्वर कल्पतरु।

३. भोजवर्मासे विक्रम वर्मकी न पट सकी और वह विजयगढ़में जाकर रहने लगा। वहाँ अधिक दिन ठहरना उचित न समझ कर पूरबकी ओर उसने प्रस्थान किया।

वैद्यनाथ महादेव द्वारा स्वप्न दर्शन और निगोरिया की विजयका संकेत किया.....

इस आशयका विवरण गिद्धौर राज्य स्मारक ग्रंथ—१६०६—में पाया जाता है।

इस समय गिद्धौरके बहेलिया-राज्यमें आंतरिक दुर्बलता आ गई थी। प्रजामें निगोरियाके अधार्मिक आचरणसे बड़ा असंतोष था। लोग उससे मुक्त होना चाहते थे। वीरविक्रमने निगोरियापर आक्रमण करनेके पूर्व कूटनीतिक साधनोंसे राज्यमें षड्यंत्र करा दिया। निगोरियाके राज्यके विश्वस्त पंडित रमानाथ, जो सम्भवतः उसके मंत्री भी थे, और अपने राज्यमंत्री गिरीश्वर शुक्ल की सहायता-से अपनी योजनामें अत्यल्प साधनोंके होते हुये भी सफल हुआ। उसी अंचलमें महादेव वैद्यनाथ-धाम था, जहाँ जाकर उसने उनकी आराधना की। अवसरसे लाभ उठा कर बिना विशेष युद्धके विक्रमवर्मने गिद्धौरपर विजय प्राप्त कर ली।[1] इसमें निगोरिया ससैन्य मारा गया और गिद्धौरका शासन-सूत्र विक्रमवर्मके हाथमें आया। इस प्रकार उसने गिद्धौरमें चन्देल राज्यकी पूर्ण प्रतिष्ठा की।

गिद्धौरमें स्थापित इस चन्देल राज्यमें उसने शैव चिह्नोंसे विभूषत मुद्रा प्रचलित कराई। यही ऊर्ध्वमुख त्रिशूलवाली मुद्रा, जिसके मूलमें 'शिव' अंकित है तथा राजाका नाम अंकित है, राजवंशकी मुद्राके रूपमें सर्वदा गृहीत रही। वीर विक्रमवर्म दिल्ली सुलतानके अधीन रहा अथवा नहीं, यह विचारणीय प्रश्न है। दिल्लीका शासक उस समय बलबन गयासुद्दीन था। उसने पूर्वमें ढाकातक देशका भाग अपने अधीन कर लिया था। गिद्धौर उसके झोंकेको देरतक न रोक सका और विक्रमके शासनके पिछले दिनोंमें उसे दिल्लीकी अधीनता मान लेनी पड़ी। परन्तु यह अधीनता थी नाम मात्रकी। वस्तुतः था वह पूर्ण सत्ता धारी।

वीरविक्रमवर्मका स्वर्गवास सन् १२९८ में हुआ। वह बड़ा प्रतापशाली और शौर्यवान् था। शासनमें कुशल होनेके कारण उसने शीघ्र ही राज्यका संघटन कर लिया। और राज्यमें पूरी शान्ति स्थापित की। वह बड़ा उदार और लोकप्रिय था। थोड़े ही समयमें उसने जनहितके अनेक कार्य आरम्भ कर दिये। उसकी उदारताके सम्बधमें अनेक किंवदंतियां आज भी वर्तमान हैं। वह परम शैव और शंकरका उपासक था तथा कलाकारों, कवियों और विद्वानोंका आश्रयदाता था।

---

१. अनुश्रुतिओंके अनुसार—वैद्यनाथ महादेवने स्वप्नमें वीरविक्रमको निगोरिया राज्य जीतनेके लिये प्रेरणा दी। स्वप्नमें ही उन्हें तिलक दिया। सबेरा होते ही वह अपने विश्वास पात्र पं० गिरीश्वर शुक्लके साथ पूरबकी ओर चल पड़े। प्रथमतः वैद्यनाथ धाम पहुंचे, जिन्होंने स्वप्न—दर्शन दिया था। वहाँ उनकी आराधनाकी और गृद्धकूट विजयके लिये वरदान प्राप्त किया। फिर गृद्धकूट पर्वत निवासिनी बगला देवी, जो निगोरयिाकी इष्ट देवी थी, की पूजा कर प्रसन्न किया। और चमत्कारिक ढंगसे उसने युद्ध जीत लिया।

राज्य का विकास और स्वतंत्रता के लिये संघर्ष

चन्देल इतिहासमें यह युग विश्रृंखलनका था। किन्तु बुन्देलखंडसे कूच करके पूर्वमें चन्देलोंके क्षीण होनेपर भी एक ऐसे राज्यकी स्थापना उनके विलुप्त दुर्दमनीय शौर्यका स्मरण दिलाती है। यहाँ भी एकके बाद एक ऐसे विजेता, शासक, और कलाप्रेमी आये जिन्होंने असाधारण वीरताके साथ सुलतानोंके विरुद्ध मोरचा लिया। इतिहासकी व्यापक पृष्ठभूमिमें उसकी इकाई भले ही न दीखे किन्तु उनके संकल्प और कार्यमें किसीको भी सन्देह नहीं है। उनकी अधीनता समस्त सुलतानी राज्यमें केवल लाक्षणिक ही बनी रही। अनेक बार उन्होंने अपने राज्यको मुक्त करके स्वतंत्र राज्य स्थापित किया।

शुकदेव वर्मन

विक्रमवर्मके बाद उसके पुत्र शुकदेववर्मन् राजगद्दी पर आया। आते ही उसने राज्यको और विस्तृत बनानेकी योजना बनाई। प्रमाणोंसे स्पष्ट होता है कि उसने अपने बाहुबलसे राज्यको पश्चिमकी ओर लगभग सोलह मील और बढ़ाया और साथ ही अपने शत्रुओंसे साम्राज्यकी रक्षा भी की। वीरभूमिके शासकने गिद्धौर राज्यपर आक्रमण तो किया परन्तु वह बुरी तरहसे पराजित होकर लौट गया। अलाउद्दीन खिलजीने (सन् १२९६ से १३१६) गिद्धौरपर आक्रमण किया। शुकदेववर्मन् इस बार अपनी रक्षा करनेमें असफल रहा। फलतः गिद्धौर अधीन बना लिया गया परन्तु शुकदेववर्मन्की इस वीरतापूर्ण हारने खिलजीको बहुत प्रभावित किया और उसने उसे 'शाह' की उपाधि दी।

शुकदेववर्मन् धर्मनिष्ठ और जनहितकार्यमें अनुरक्त रहनेवाला आदमी था। गृद्धकूट पर्वतके काकेश्वरमें उसने १०८ शिवका और १ दुर्गाका मंदिर बनवाया।[1] इस स्थानके भग्नावशेष आज केवल एक विशाल टीलेके रूपमें मिलते हैं। ऐसी भी चर्चा मिलती है कि उसने बहुत-सी सड़कें, तालाब, और महल बनवाये तथा एक रम्य वाटिका भी लगवाई।

सन् १३३९ में शुकदेव वर्मन्के निधनके बाद इस राजवंशमें वर्षोंतक ऐसे शासकोंका आगमन होता रहा, जिन्होंने अपने राज्यकी प्रतिष्ठा और ख्याति और भी बढ़ाई तथा उसे अक्षुण्ण भी रखा किन्तु उनके संबंधमें ऐतिहासिक सामग्रीका सर्वथा अभाव है। ये शासक क्रमशः देववर्मन्, रामनारायणसिंह, राजसिंह, दर्पनारायणसिंह और रघुनाथसिंह हुये। अनेक बार दिल्लीकी दुर्बलताका लाभ उठाकर इन शासकोंने अपनी स्वतंत्र सत्ता प्रतिष्ठित की। किन्तु अंतिम शासक रघुनाथसिंह विजयी शेरशाह (सन् १५४० से १५४५) का आक्रमण न रोक सका तथा उसे अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। शेरशाहने रघुनाथसिंहको अपने यहाँ आमंत्रित किया था।

---

१. पौराणिक कथानकों से ज्ञात होता है कि काकभुशुण्डिका यहीं आश्रम था।

पूरण सिंह

सन् १५४७में रघुनाथसिंहकी मृत्युके पश्चात् उसका लड़का बरियारसिंह सिंहासनारूढ़ हुआ। बरियारसिंहका एक अत्यंत यशस्वी पुत्र पूरण सिंह हुआ। बरियारसिंहके स्वर्गगामी होनेके बाद सन् १५७२ में वह राजगद्दीपर आया। यहींसे चन्देल शासनके मेघाच्छन्न आदित्यका फिर दर्शन होता है। इतिहास एक बार चमक उठा। अकबरके सु-व्यवस्थित शासनने भी पूर्वी भारतमें अफगानोंके षड्यंत्र और विद्रोहोंका सर्वथा उन्मूलन नहीं किया। बड़े संघर्षके उपरांत १५७५ ई० में बंगाल मुगल-साम्राज्यमें अकबर-द्वारा मिलाया गया। साथ ही अफगानोंके नेता दाऊदका पूर्ण दमन कर दिया गया। परन्तु मुजफ्फरखांकी नृशंस नीतिके कारण बंगालमें सन् १५८० में विद्रोहका बबूला फिर फूटा। सारा बंगाल और बिहार विद्रोहियोंके हाथमें आ गया।

ध्यान देनेकी बात यह है कि बंगालके अनवरत विद्रोहके कारण पूर्वी भारतमें न केवल शासन ही ढीला हो गया बल्कि सामन्तों और जागीरदारोंने स्वतंत्र होनेकी कामनासे दिल्लीसे संबंध विच्छेद कर लिया था। पूरणसिंहने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली। किन्तु थोड़े ही समयके उपरान्त अकबरने अजीज कोकाको भेजकर बंगाल-बिहारको फिर मुट्ठीमें कर लिया। दाऊदके पश्चात् अफगानोंका दूसरा नेता उसमान हो चुका था। उसने सन् १५९९ में बंगालमें फिर व्यापक विद्रोह आरम्भ कर दिया। अवसर पाते ही बंगाल-बिहारके राजाओंने भी शस्त्र ग्रहण किया। वस्तुतः गिद्धौर इस बार काफी अग्रसर हुआ। अकबरने इस बार बंगालको काबूमें करनेके लिए एक विशाल सेनाके साथ राजा मानसिंहको भेजा। मानसिंहने बड़ी कठिनाईके साथ बंगालको काबूमें करके सामन्तोंकी ओर दृष्टि डाली। गिद्धौरपर उसने भयंकर आक्रमण किया। पूरणसिंहने परिस्थिति विपरीत पाकर तत्काल संधिका प्रस्ताव किया। राजाके शौर्य तथा साहससे प्रभावित होकर मानसिंहने राजाका बड़ा आदर किया। पूरणसिंहने पूर्ववत् दिल्लीकी अधीनता मान ली। मानसिंहमें ऐसे प्रतापशाली राजासे संबंध करनेकी तीव्र अभिलाषा हुई। फलस्वरूप पूरणसिंहकी कन्याकी उनसे शादी हो गई। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस संबंधने चन्देलोंके साम्राज्यकी महत्ता और ऊँची कर दी।[1]

उसमानने जहाँगीरके समयमें सन् १६१२ ई० में एक बार फिर विद्रोह किया। इसके परिणाम स्वरूप पूर्वके सामन्तोंको जूआ-फेंकनेका एक बार और भी मौका मिला। जहाँगीरने इस्लामखाँके द्वारा सेना भेजकर बंगालको अधीन किया

---

१. कुछ अनुश्रुतियोंके अनुसार मानसिंहके इस संबंधका समय जहाँगीरके राज्य कालमें बतलाया जाता है। यह मत भ्रामक है।

और पूरणसिंहपर विद्रोहका आरोप लगाकर उससे धनकी माँग की। जब उसने धन देना अस्वीकार किया तब उसपर भीषण आक्रमण किया गया। पूरणसिंहने उसका सामना करनेके लिये सेना सुसज्जित की और लछवाड़में एक नया और दृढ़ दुर्ग बनवाया। वहाँ उसने रक्षाकी पूरी व्यवस्था की। उधर जहाँगीरकी सेनाने गृद्धकूट पर्वतपर मोर्चा बनाया। जहाँगीरके साथ इस संघर्षका परिचय कई किंवदंतियोंसे भी मिलता है। इनमें टेढ़े-मेढ़े ढंगसे यह चिरकालीन घटना व्यक्त की गई है।[1] स्थिति प्रतिकूल देखकर गिद्धौरके शासकने संधि कर ली और अधीनता भी स्वीकार कर ली।

पूरणसिंहने अपने राज्यको और विस्तृत किया—इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। उसका राज्य-काल बड़ा प्रभावशाली था, जिसमें उतार-चढ़ावकी घटनाएँ भरी पड़ी हैं। दीर्घ कालतक राज्य करनेके पश्चात् वृद्धावस्थामें अपने पुत्र हरिसिंहको उसने राज्यभार सौंप दिया और स्वयं तीर्थ-यात्राके लिये चल पड़ा। तीर्थयात्रासे लौटनेके पश्चात् सन् १६२५ में उसका शांतिमय स्वर्गवास हुआ।

---

१. किंवदन्ती है...दिल्ली बादशाहके दरबारका कवि रुद्रराय बादशाहके सामने पूरणसिंहकी दानवीरताकी प्रशंसा बराबर किया करता था। दिन रातकी प्रशंसा सुनकर जहांगीरने रुद्रराय पर व्यंग्य किया। रुद्रराय रंज होकर दिल्ली छोड़कर गिद्धौर आया। रुद्रके काव्य पर पूरणसिंह बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसने रुद्ररायसे कहा कि जो चाहे मांग सकते है। राजाके पास एक पारस मणि थी। रुद्ररायने अपनी इच्छा प्रगट की कि पारसमणि यदि उसे मिल जाय तो वह कृतार्थ हो जाय। राजाने सहर्ष उसे मणि देकर तृप्त किया। रुद्रराय विह्वल मन उसे लेकर दिल्ली गया। मणिको उसने यमुनामें एक नौका पर रखा। जहाँगीरको जब यह खबर लगी तब उसने रुद्ररायको बुलाया। और उसे देखनेकी इच्छा प्रगट की। जहाँगीर नौकापर पहुँचा और उसे पारसमणि दिखलाई गई। किन्तु दिखलानेके साथ ही रुद्रने पारसको नदीके प्रवाहमें फेंक दिया। राजासे उसने समझाया कि पारसका आपके साथ रहना बड़ा अशुभ था। बादशाह क्षण मात्रके लिये तुष्ट तो हो गया किन्तु उसके लिये उसके मनमें हाय बनी रह गई और उसने पूरणसिंहके पास दूसरा पारस भेजनेके लिये सन्देश भेजा। परन्तु राजाके पास दूसरा पारस तो था नहीं, भला देता तो कैसे। बादशाहको इस कथन में विश्वास नहीं हुआ और उसने इसको राजाकी अवज्ञा समझी। जहांगीरने तत्काल उसपर आक्रमण करनेके लिये एक सेना मानसिंहकी अधीनतामें भेजी। स्वयं भी गया। लड़ाई घनघोर हो जाने पर जब जहाँगीरको विश्वास हो गया कि पूरणसिंहके पास वास्तवमें दूसरा पारस नहीं है तब उसने संधि कर ली।

फिर गिद्धौर का दिल्लीसे संबंध पूर्ववत् स्थापित हो गया।

पूरणसिंह जैसा बलशाली, प्रतिभाशाली और उदार था वैसा ही धार्मिक और कला-प्रेमी भी। वह शिवका अनन्य भक्त था। उसने सन् १५८६ में वैद्यनाथके वर्तमान मंदिरका निर्माण कराया। यह मंदिर अपनी कला और मूल्यवान् निर्माणके लिये विख्यात है।[1] इसमें काशीके सुप्रसिद्ध कलाकारोंने काम किया। मंदिरके पास ही एक मनोहर वाटिका और विशाल तालाब भी बनवाया गया। राज्यके भीतर भी कई एक सड़कें बनवाई गईं। इस मंदिरके द्वारपर एक उत्कीर्ण लेख है जिससे इन बातोंका परिचय मिलता है।[2] एक दूसरा शिव-मंदिर भी उन्होंने सीमिरियामें सन् १६०५ में बनवाया, जिसमें वैद्यनाथकी ही प्राणप्रतिष्ठा की गई। उसने लछवाड़के अतिरिक्त एक साधारण दुर्ग चकाई स्थानमें भी बनवाया। वह संस्कृत और नागरीका विद्वान् था तथा गुणियों और विद्वानोंका आश्रयदाता था।

हरिसिंह

अल्पायुमें ही हरिसिंहके हाथोंमें राज्य-सूत्र आ गया। अभी जहाँगीरका भाव बदला नहीं था। हरिसिंहका पिता पूरणसिंह जिस समय तीर्थाटन करनेके लिये गया, तब मौका देखकर जहाँगीरने उसपर फिर आक्रमण किया। स्वतंत्रताभिलाषी चन्देल मुगलोंकी अधीनतामें स्वेच्छासे और सर्वथा प्रणतशील नहीं थे। यही बात जहाँगीरको खटकती थी। दुर्भाग्यवश हरिसिंह बुरी तरह पराजित हुआ और रौंद डाला गया। फिर भी जहाँगीरने उसे सामंत स्वरूपमें ही रक्खा। उसने इस आशय-का फ़रमान भी जारी किया था। उसने हरिसिंहके सम्मानके लिये मुगलकालीन पदवियाँ भी प्रदान की थीं।

अनुश्रुतियोंसे ज्ञात होता है कि दिल्ली जाते समय हरिसिंहने अपने कनिष्ठ भाई विश्वम्भरसिंहको राज्य सौंप दिया था। दिल्लीसे लौटनेपर उसके सामने यह बड़ी मार्मिक समस्या खड़ी हो गई कि छोटे भाईको जिसे एक बार राज्य सौंप दिया गया, कैसे हटाया जाय। उसने उदारतापूर्वक आधा राज्य विश्वम्भरसिंहको देकर इतिहासमें बहुत ऊँचा आदर्श उपस्थित किया। विश्वम्भरसिंहने अपनी राजधानी खैरामें बनाई।

दलन सिंह

हरिसिंहके पश्चात् सन् १७४६ में उसका पराक्रमी पुत्र दलनसिंह गिद्धौरकी राजगद्दीपर आसीन हुआ। मुग़ल राज्यकी दुर्बलताओंने इसके युगमें एक बार फिर

---

१. वैद्यनाथ महादेव रामायण गुर्गीन हैं। पुराणोंसे यह ज्ञात होता है कि अंग देशमें हरितपट-वेष्टित, गह्वर पर्वत श्रेणियोंसे आवृत गंगा तटके ऐसे मनोहर अंचलमें स्वयं रावणने विप्र रूपसे इस शिवलिंगकी स्थापना भगवान रामचन्द्र के हाथोंसे कराई थी। इसकी मान्यता तबसे अबतक अक्षुण्ण रूपसे बनी है।

२. अचलशशिसायकोल्लसित भूमि शाकाब्दके वलति रघुनाथकेबहल पूजके श्रद्धया।
विमलगुणचेतसा नृपति पूरणे नाचिरं त्रिपुरहरमन्दिरं व्यरचि सर्वकामप्रदम्॥

गिद्धौरको राजनीतिक महत्वाकांक्षा चरितार्थ करनेका अवसर प्रदान किया। ६ सितम्बर सन् १६५७ को जब शाहजहाँके घातक रोगसे आक्रांत होनेकी सूचना उसके पुत्रोंके पास दूरस्थ प्रांतोंमें पहुंची तब मुराद, औरंगजेब और शुजाने अपनेको स्वतंत्र घोषित कर दिया और उत्तराधिकारके लिये सभी दिल्लीकी ओर ससैन्य विजय करते हुए चल पड़े। दाराशिकोह जो अपने पिताका सर्वप्रिय और बड़ा पुत्र था, वहीं शाहजहाँके पास था। वह इस आकस्मिक रूपसे उत्पन्न परिस्थितिका सामना करनेके लिये स्वयं आगरे आगया। राजा जसवंतसिंहकी अधीनतामें उसने औरंगजेब और मुरादके सम्मिलित बढ़ावको रोकनेके लिये एक विशाल सेना मालवाकी ओर भेजी। अपने पुत्र सुलेमान शिकोहके साथ उसने शुजाका सामना करनेके लिये एक सेना भेजी।

शुजा बंगालका सूबेदार था। अपने पिताकी बीमारी सुनकर वह एक सेनाके साथ दिल्लीके लिये चल पड़ा था। उसके संग एक नौ-सेना भी थी। उसने गिद्धौरके राजा दलनसिंहको इस आशयका पत्र लिखा कि मुगल दरबारके राज्यारोहणमें हमारी ओरसे सम्मिलित होनेके लिये एक सेनाके साथ तुरत चल पड़ो।[1] शुजा जब राजमहल नामक स्थानपर पहुँचा तब उसने अपनेको मुगल साम्राज्यका स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया। वह बड़ी तेजीसे बिहार पार करता हुआ बनारस आ पहुँचा।

दारा शिकोहने उसी समय दलनसिंहसे सहायता मांगी कि सुलेमान शिकोहकी सहायता करके शुजाको पराजित करें। इस संदिग्ध अवस्थामें दलनसिंहने बड़ी दूरदर्शितासे काम लिया। वह शुजाके विरुद्ध अपनी पूरी सेना लेकर जनवरी सन् १६५८ में बनारसके पास आ धमका। सुलेमानकी सहायतामें राजा जैसिंहका कछवाहा भी पहुँच चुका था। तीनोंकी सम्मिलित शक्तिने शुजाको बुरी तरहसे पराजित किया। शुजा पीछे लौटा और उसने बंगालमें आश्रय लिया। उत्तराधिकारकी इस कूटनीतिक दौड़में यदि सफलता औरंगजेबके हाथ न लगी होती तो इस राजवंशका इतिहास सचमुच और उज्ज्वल हुआ होता। सफलताके बाद दलनसिंहकी सहायताके लिये दाराने उसके पास धन्यवाद और कृतज्ञताका पत्र लिखा।[1] दाराको यह आभार सर्वदा स्मरण रहा। मई सन् १६५८ में दारा और शुजाके बीच परस्पर संधि हुई और यह निश्चित हुआ कि औरंगजेबसे निपटनेके बाद शुजा पूर्वी भारतका सत्ताधारी शासक रहेगा। तब भी दाराने गिद्धौरका ध्यान रक्खा अतः शुजाको मुंगेरके पूर्वका भाग ही दिया गया और गिद्धौर राज्यको दाराने अपने साथ रक्खा।

औरंगजेबके शासनारूढ़ होनेपर गिद्धौर राज्य उसके सामंतके रूपमें रहा। लम्बे कालतक शासन करनेके बाद सन् १६८१ में दलनसिंहका स्वर्गवास हो गया।

---

१. शुजाका पत्र तथा दाराका धन्यवादपत्र दोनों गिद्धौरके वर्तमान राजकीय रेकार्डमें सुरक्षित हैं।

दलनसिंहके पश्चात् गिद्धौरके रंगमंचपर कुछ कालतक ऐसे शासकोंका आगमन हुआ जिनके संबंधमें विशेष ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। मुगलोंके पतनके बाद देश फिर अनेक छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्योंमें विभक्त हो गया। बंगाल और बिहारमें नवाब अलीवर्दी खांका आधिपत्य हो गया था। लेकिन उसके बाद उसके उत्तराधिकारियोंने, अन्य विदेशी उपनिवेशोंको अपने राज्यमें पनपने न देनेके संकल्पमें सफल होने पर भी, अंग्रेजोंका बढ़ाव रोकनेमें सफलता नहीं प्राप्त की। गिद्धौर राज्य यद्यपि बंगालकी नवाबीका एक अंग था किन्तु अंग्रेजोंके प्रति उसकी धारणा स्वतंत्र थी। वे उनके विरुद्ध विद्रोहात्मक शक्तियोंकी सहायतामें निरत थे। बंगालके नवाबोंको मुंगेरके दक्षिणी-पश्चिमी भागकी राजनीतिक महत्ता मालूम थी और उन्होंने वहाँके सहयोगको अंग्रेजोंके विरुद्ध बराबर प्रयोग किया।[1]

इस बीच क्रमशः श्रीकृष्णसिंह (सन् १६८१–१७१७), प्रद्युम्न सिंह (१७१७–१७२५), श्यामसिंह (सन् १७२५–१७४१) और राजा अमरसिंहने शासन किया।

सन् १७५४ के आरम्भमें ही कर्नल स्कौटने बंगालके असंतुष्ट हिन्दू राजाओं और निवासियोंके साथ मिलकर नवाबके विरुद्ध क्रांति करनेका षड्यंत्र किया था।[2] परन्तु इस धोखेमें गिद्धौर न फँस सका। केवल नदियाके महाराज कृष्णचन्द्रके समान कुछ हिन्दू जागीरदारों, रईसों और बैंकरोंने ही भाग लिया।[3] इसके अतिरिक्त मीरजाफ़र, यारलतीफ़खाँ और दुर्लभरायके समान नवाबके कुछ संबंधियों और कर्मचारियोंने भी उनका साथ दिया। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि प्रतिभाशाली अलीवर्दीखाँके बाद, जिसने बंगाल, बिहार तथा उड़ीसाके स्वतंत्र सूबेपर बलपूर्वक वास्तविक अर्थमें अधिकार कर लिया था और अनेक कठिनाइयाँ आनेपर भी अधीन बनाये रक्खा उसे उसके पोते सिराजुद्दौलाने अप्रैल सन् १७५६ में मसनदपर बैठनेके बाद खो दिया।

पलासीकी लड़ाई और उसमें सन् १७५७ में देशी शक्तियोंका पराजय एक बड़ी ऐतिहासिक घटना है। फिर भी हिन्दू राजाओंका साहसिक सहयोग देखकर अंग्रेज आश्चर्य चकित रहे। उन्हें नवाबको बंगालकी गद्दीपर बैठाना पड़ा—भले कठपुतला मात्र ही रह गया हो। गिद्धौरके राजा अमरसिंहने अपना भाग्य बंगालके नवाबके साथ लगा दिया था।

२३ अक्तूबर सन् १७६४ में जब बक्सरके मैदानमें भारतवर्षके भविष्यका अंतिम निर्णय होनेवाला था, नवाब वज़ीर–अवध, मीर क़ासिम और अन्य देशी

१. लास्ट डेज औफ़ मारकासिम–प्रोसिडिंग्स आफ दी इण्डियन हिस्टारिकल रेकार्डस, भाग १०, पृ० ११६–१३०।

२. हिल, बंगाल १७५६–५७, भाग ३, पृ० ३२८।

३. कलकत्ता रिव्यू, १८७२, पृ० १०७–११०। राजीव लोचन विरचित कृष्ण चरित, पृ० ७३–७५।

शक्तियाँ अंग्रेजोंके प्रतिरोधमें विशाल सेनाके साथ डटी थीं। किन्तु उनकी हार हुई। मुगल बादशाह विजेताओंसे जाकर मिल गया। इसमें सन्देह नहीं कि बक्सरके युद्धका जितना महत्त्व था उसी गरिमासे देशवासियोंने तब युद्ध किया। चन्देलोंने अपनी राष्ट्र-भावनाका खुलकर परिचय दिया। सम्भवतः यह उनके इतिहासमें विदेशी अंग्रेजोंके विरुद्ध अंतिम मोर्चा था। पलासीकी अपेक्षा बक्सरके फल अधिक निर्णायक थे। इसने अंग्रेजोंको अवसर दिया और वे बंगालपर अपना अधिकार मजबूत करनेके अतिरिक्त बिहार हथियानेके फेरमें पड़ गए। महाशय रैमले मोरने बतलाया है—'बक्सरने अंतमें कम्पनीके शासनकी बेड़ियोंको बंगालपर जकड़ दिया।'[1]

गिद्धौरके इस आचरणको अंग्रेज बड़ी कड़ी नजरसे देख रहे थे और उन्हें धर दबोचनेके अवसरकी प्रतीक्षा करने लगे। अमरसिंहका स्वर्गवास जब सन् १७६५ में हुआ, तब उनको मौका हाथ लगा। अमरसिंहका पुत्र गोपाल सिंह अभी नाबालिग था। कम्पनीके शासकोंने अपनी प्रतिहिंसा इसीके व्याजसे पूरीकी। गिद्धौर राज्य कम्पनी-द्वारा जब्तकर लिया गया।

गोपालसिंह

गोपालसिंहने नाबालिग अवस्थामें गद्दी ग्रहण की। उस समय गिद्धौर सीधे कम्पनीके शासनमें था। बिहार-बंगालकी समस्त राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाएँ ध्वस्त हो चुकी थीं। प्रश्न केवल अवसरसे अधिकाधिक लाभ उठानेका था। गोपालसिंह जब वयस्क हुआ तब उसने वारेन हेस्टिंग्ससे अपना राज्य लौटानेका दावा प्रस्तुत किया और अपनी ऐतहासिकताका प्रमाण रखा। अतः कुछ विशेष शर्तोंके बाद राज्य लौटा दिया गया। गिद्धौरने सभी शर्तें मान ली। तभीसे गिद्धौर राज्यके इतिहासका नया अध्याय आरम्भ होता है। अंग्रेजोंके पंजे नित्य इस देश पर जमते गये। बड़ी-बड़ी शक्तियाँ घुटने टेकती गईं। और अंतमें उनके अधिनायकी आदेशोंके विपरीत कोई भी भारतीय सत्ता कुछ अन्यथा न कर सकी। देशी राज्योंकी जो मान्यता, अंग्रेजों ने ठहराई यहाँके नरेश, रईस और भूमिपति अपनी स्थिति कायम रखनेके लिये अंगीकार करते गये। इस प्रतियोगितामें गिद्धौरने भी दौड़ लगाई।

गोपालसिंह धर्मनिष्ठ और महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था। धार्मिक भावनासे प्रेरित होकर उसने कालिकाका मंदिर निर्मित कराया। अपने राज्यमें व्यापार और आर्थिक उन्नतिकी ओर पर्याप्त ध्यान दिया। व्यापारकी दृष्टिसे ही उसने जमुई नामक नगर भी बसाया।

सन् १८१२ में गोपालसिंहके स्वर्गवासके पश्चात् उनके पुत्र यशवंतसिंहको गद्दीमिली किन्तु उसको कोई पुत्र नहीं था। अतः उसके छोटे भाई नवाब सिंहके पुत्र जयमंगलसिंह ही यशवंतसिंहके वास्तविक उत्तराधिकारी घोषित हुआ। किन्तु

---

१. मिल, भाग ३, पृ० ३५४।

नवाबसिंहने सन् १८२० में कुछ कालके लिये संरक्षक रूपमें शासन-भार ग्रहण किया। इस प्रकार उसे लगभग सत्रह वर्षतक शासन करनेका अवसर मिला।

जयमंगल सिंह

सन् १८३६ में जयमंगलसिंहने स्वयं राज्यकी बागडोर अपने हाथमें ली। विलक्षण प्रतिभा तथा अभूतपूर्व दूरदर्शितासे सम्पन्न इस व्यक्तिके गिद्धौरकी गद्दी-पर आते ही राज्यकी काया-पलट हो गई। देशमें राजनीतिक अवस्थाका यह वह समय था जब अधिकांशतः यहाँके नरेशों और जागिरदारोंसे राजनीतिक महत्वाकांक्षाएँ विलीन होती जा रही थीं। हाँ, जिनकी स्वाधीनताके अपहरणका घाव अभी ताजा था उनमें प्रतिहिंसाकी आग अब भी सुलग रही थी। वे अपनी कामना संचित करके दुर्भेद्य परिस्थितियोंके कारण हाथ मल रहे थे। किन्तु अंग्रेजोंके प्रति देशके उन राजोंकी ज्वाला, जिनके स्वदेशाभिमानका बिरवा अंग्रेजोंके आगमनके प्रथम प्रभंजन-द्वारा वर्षों पहले धराशायी कर दिया गया था, शीतल हो गई थी। अंग्रेजोंके भारी दबाव पड़नेपर वे उनको बल देते थे और बादमें तो उनकी रक्षामें अपनेको सच्चाईसे लगा देते थे। गिद्धौरने भी यही राजनीतिक सूत्र ग्रहण किया।

जिस समय लार्ड डलहौजी गवर्नर जनरल था, दक्षिणी बिहारमें संथालोंका उपद्रव और विद्रोह हुआ। इसके अनेक कारण थे। राजा जयमंगलसिंहने बड़ी दृढ़तासे अंग्रेजोंकी मदद की और अपनी ही सेना लेकर इस विद्रोहको पूर्णतया दबा दिया। सन् १८५७ में जब देशमें अंग्रेजी शासनके विरुद्ध क्रांतिकी आग जल उठी तब गिद्धौरको अपनी पूर्वकी संधियों और वादोंके अनुसार अंग्रेजोंकी सहायता-में शक्ति लगानी पड़ी। जयमंगलसिंहने अनेक स्थलोंपर काम किया। ३२ नेटिव इन्फ़ेन्टरी, जो बगावत करके उत्तर-पश्चिमी भारतकी ओर बढ़ रही थी, उसे गिद्धौरकी सेनाने रोका।[1] सेनाकी ५३२ रेगुलर कैवेलरीने विद्रोह किया था। उसके बढ़ावके मार्गमें इन्होंने अपने गुप्तचर रक्खे।[2] इसके अतिरिक्त देवघरमें जो अंग्रेज सैनिक थे, उनकी रक्षाकी पूरी व्यवस्था महाराजा जयमंगलसिंहने की।[3] साथ ही उसने अपने हाथी और सेना अंग्रेजोंकी इच्छापर सौंप दिये। अंग्रेज शासक राजा जयमंगलसिंह के उपकारसे बहुत दबे थे। जब उनके सुदिन लौटे और विद्रोह हर तरफ पूरी तरहसे दब गया तब गिद्धौरकी सहायताके प्रति उन्होंने अनेक पत्रोंमें निजी रूपसे आभार प्रकट किया।[4] इस मैत्रीपूर्ण सहयोग-

---

१. फोर्ट विलियम, कलकत्ताकी ता: १७ दिसम्बर १८५७ का पत्र सं० २७८, महाराज जयमंगल सिंहके नाम।

२. वही।

३. वही।

४. वही, पटनाके कमिश्नरका पत्र सं० २४६ ता: ३०, १८६१।

के बदलेमें लार्ड कैनिंगने जयमंगलसिंहको लगभग ३००० रु० वार्षिककी जागीर प्रदान की।[१]

अपने इन कार्योंके कारण जयमंगलसिंह अंग्रेजी सरकारमें बड़ा लोकप्रिय हो गया था। १ जनवरी सन् १८७७ को गवर्नर जनरलने इसे के० सी० एस० आई० की उपाधि से विभूषित किया। बिहार प्रदेशमें इन्हें प्रथम नागरिकके रूपमें यह उपाधि प्राप्त करनेका अवसर मिला। जयमंगलसिंहको महाराजाकी भी उपाधि मिली।

जयमंगलसिंहकी लोकदृष्टि बड़ी उदार थी। जनहित और समाज-सेवाके कार्योंमें उसने जो उदाहरण रक्खा है वह आदर्श है। इसी रूपमें वह आदर्श तत्कालीन बिहारमें ग्रहण हुआ। सन् १८७४ के दुर्भिक्षके समय उसकी तत्परता और सेवा अत्यंत सराहनीय हुई। ईस्ट इण्डिया रेलवेके लिये उसने अपने पूरे राज्यमें बिना मूल्य भूमि प्रदान कर दी। प्रथम श्रेणीके मजिस्ट्रेट-पदसे भी उसने समाजकी उत्तम सेवा की। उसका व्यक्तिगत जीवन ऐसे ही कार्योंसे भरा पड़ा है। वह छोटे-बड़े सबमें समान लोकप्रिय था। वह कर्मशील, कर्त्तव्य-परायण और राज्य-कार्यमें सिद्धहस्त था।

सन् १८८१ में अपने पिताके स्वर्गवासके बाद शिवप्रसादसिंह राज्यासीन हुआ। इसे अल्प कालतक ही राज्य-संचालनका अवसर मिल सका। फिर भी इसके भीतर ही उसने अपनी प्रतिभा, उदारता और राष्ट्र-प्रेमका उत्तम परिचय दिया। स्वयं विद्वान् और विद्या-प्रेमी था। वह संस्कृत, हिन्दी, फारसी और अंग्रेजी अच्छी जानता था तथा कला-प्रेमी, गुणग्राही और संगीतका जानकार था। उसने कठोर श्रम करके थोड़े ही समय में राज्यकी आर्थिक दशा और आंतरिक व्यवस्था सुधारोन्मुख कर दी। वह धर्म-भीरु भी था। उसके राज्य-कालमें वैद्यनाथका प्रसिद्ध मंदिर देखनेके लिये तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड डफरिन आया था। उसके राज्य-काल की कितनी ही सुखद स्मृतियाँ आज भी जनतामें कही और सुनी जाती है।

रावणेश्वरप्रसाद सिंह

रावणेश्वरप्रसादसिंह शिवप्रसादसिंहके पुत्र थे। इनका जन्म सन् १८६० ई० में हुआ था। अपने पिताके निधनके बाद इन्होंने सन् १८८६ ई० में राज्यकी बागडोर अपने हाथमें ली। अपनी विलक्षण प्रतिभा, उत्कृष्ट लोक-भावना और असाधारण कर्मशीलताके कारण उस युगमें भी, जब देशी राजाओं एवं रईसोंके हाथ बँध चुके थे, इन्होंने ऐसी कीर्ति स्थापित की, जो सहज में ही उनको उस युगके प्रथम श्रेणीके व्यक्तियोंमें प्रतिष्ठित करती है। रावणेश्वरप्रसादसिंह बंगाल विधान परिषद्के क्रमसे सन् १८९३, १८९६ और १९०२ में तीन बार सदस्य बनाये गये थे। बंगाल-बिहारके शासनमें उनका बराबर उचित हाथ रहा है।

१. अंडर सेक्रेटरी, बंगाल सरकारका पत्र सं० ४५६४, ता: ३१ अक्टूबर १८६०

बंगाल टीनेन्सी ऐक्ट सुधार कमेटीके भी वे सदस्य थे। आजीवन भारत-धर्म-महामंडल, काशीके कर्मठ कार्यकर्त्ता थे।

भारत सरकारने उन्हें—महाराजा बहादुरकी पदवीसे अलंकृत किया। तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड एलगिनने सन् १८९२ में उन्हें के० सी० आई० ई० की उपाधि दी। अपने राज्य-कालमें इन्होंने गिद्धौर राज्यकी कायापलट कर दी। उन्होंने राजधानी गिद्धौरको आधुनिक ढंगसे बसाया। सड़कोंका सुधार, अस्पतालका निर्माण और विद्युत प्रबंध, ये सभी उनकी लोक-भावनाके उत्तम उदाहरण हैं। राज्यकी माली हालत भी रावणेश्वरप्रसादसिंहने सुधारी, उत्तमोत्तम भवनोंका निर्माण कराया तथा घंटाघर और विश्राम भवनके अतिरिक्त उन्होंने एक अत्यंत रमणीय तड़ाग तथा उसके तटपर एक मंदिर बनवाया।

रावणेश्वरप्रसादसिंह साहित्य और कलाके परम उदार भक्त थे और आश्रयदाता भी। वे स्वयं भी कवि थे तथा संस्कृत, फारसी और अंग्रेजीके पूर जानकार थे। इनकी धार्मिक वृत्ति भी ऊँची थी। अपनी वंश-परंपराके अनुसार वे शंकरके भक्त और वर्णाश्रमी थे। उनकी प्रजावत्सलता एवं उनके लोकप्रिय व्यक्तित्वका दृश्य आज भी नयनाभिराम रूपसे गिद्धौर राज्यके अंचलोंमें प्राप्त होता है। वस्तुतः उन्होंने इस राज्यके विगत वैभवमें जीवनी शक्ति डाल दी और हर प्रकारसे उसे आधुनिकता प्रदान की। रावणेश्वरप्रसादसिंहका स्वर्गवास सन् १९२३ में हुआ और इस प्रकार बिहार-बंगालका एक अनमोल व्यक्ति खो गया।

चन्द्रमौलेश्वरप्रसाद सिंह

अपने पुत्रमें समस्त गुणोंका समुचित विकास देखकर तथा उनमें देदीप्यमान आर्ष वृत्तियोंको देखकर महाराज रावणेश्वरप्रसादसिंहने चन्द्रमौलेश्वर प्रसाद सिंहको १७ मई सन् १९११ को तिलक कर दिया। इस समयतक उनकी शिक्षा-दीक्षा पूरी हो चुकी थी। विभिन्न भाषाओंकी शिक्षाके अतिरिक्त समाजोचित विविध शिक्षा प्रदान की गई थी। भारत सरकारने उन्हें –'महाराजा बहादुर'की पदवी प्रदान की। लोक-मंगलकी उनकी भावना बड़ी ऊँची थी यही कारण था कि उन्होंने अल्पायुमें ही बड़ी लोकप्रियता प्राप्त करली थी। तीन बार तो उनको लोगोंने बिहार-उड़ीसा-कौंसिलका सदस्य निर्वाचित किया। इनकी मान्यता एक ओर सामान्य लोगोंमें थी तो दूसरी ओर आत्मवर्गीय रजवाड़ोंमें भी। बिहार 'जमीन्दारी संस्था' तथा 'रिलिजस एण्डाउमेंट' के सभापति पदों–पर रहकर उन्होंने वर्षोंतक कार्य संभाला।

चन्द्रमौलेश्वरप्रसादसिंह अनेक भाषाओंके मर्मज्ञ थे। संस्कृतकी ओर उनका प्रबल आकर्षण था। साहित्यमें भी उनकी गति थी और वे आश्रयदाता थे। संगीत और कलाकी निष्ठा भी उनकी बड़ी ही सराहनीय थी। उनकी प्रबल इच्छा थी कि देशका प्राचीन मान्यताओंके आधार पर उत्थान हो। सहृदय होनेके कारण प्रजावत्सलता और उदारता जैसे गुण भी उनमें निवास करते थे।

उन्हें सुयोग्य संतानके रूपमें सन् १९१८ ई० में पुत्र उत्पन्न हुआ। शीघ्र ही चन्द्रचूड़सिंहके नामसे उनकी यशःचन्द्रिका फैलने लगीं। महाराजाने राजकुमारका विवाह टेहरी-गढ़वाल राज्यके सुविख्यात राजवंशके तत्कालीन शासक हिज हाइनस, मेजर महाराज सर नरेन्द्रशाह बहादुर, के० सी०, आइ० ई० की कुमारीसे किया। इन दोनों राजवंशोंका संबंध शक्ति-वर्धक सिद्ध हुआ। चन्द्रचूड़सिंहकी शिक्षा-दीक्षा शुद्ध भारतीय वातावरणमें सम्पादित हुई। काशी हिन्दू विश्वविद्यालयसे उनकी शिक्षा समाप्त हुई। महाराजाबहादुर चन्द्रमौलेश्वर प्रसाद सिंहका स्वर्गवास जब सन् १९३७ के मार्चमें हो गया तब चन्द्रचूड़सिंहका राज्याभिषेक सम्पादित हुआ। भारत-सरकारके प्रतिनिधि, विहारके तत्कालीन गवर्नर सर मौरिस हैलेटने महाराज—बहादुरकी पदवीसे इन्हें अलंकृत किया।

जीवनके अनेक अर्ध-मुकुलित और अवगुण्ठित कामना-कलियोंका पुंजीकृत उनके निराले व्यक्तित्वने अभी राज्य-सूत्र हाथमें लिया ही था कि दुर्दैवने ऐसे कीर्तिमान शासककी सुखद सेवासे समाजको वंचित कर दिया। दैव भी ऐसे नररत्नोंका वियोग देरतक नहीं सह पाता। सन् १९३८ में जब यह शोकसागरमें निमज्जित करनेवाली घटना हुई तब वर्तमान राजकुमार चिरजीवी प्रतापसिंहने केवल तीन वसंत देखे थे।

राजकुमारका जन्म नवंबर १९३५ ई० में हुआ था। उनके लालन-पालनका दायित्वपूर्ण कार्य उनकी पितामही और माताने टेहरी-नरेश, महाराज सर नरेन्द्रशाह-के संरक्षणमें किया। थोड़े दिन भारतवर्षमें उनकी शिक्षाका क्रम चलता रहा, फिर इंगलैण्डके केम्ब्रिज विद्यालयमें केम्ब्रिज परीक्षातक पूरा हुआ। आज भी उनके जीवनके निर्माणका महत्त्वपूर्ण समय बीत रहा है। उनकी शिक्षा जारी है। होनहार बरवेकी भाँति सबकी दृष्टि विश्वासके साथ उनकी ओर लगी है। प्रजातंत्र और देशके एकीकरणके युगमें आप अपने महनीय और प्राचीन वंशकी सामंत व्यवस्था-की ऐतिहासिक कड़ी हैं।

यों तो १९३८ ई० से राजकुमार कुमारके अल्पीयस् होनेके कारण गिद्धौर राज्य कोर्ट औफ़वाड्सके अधीन हो गया, किन्तु उसकी वंश-परंपराकी रक्षाका दायित्व वर्तमान महारानी राजमातापर आ पड़ा। शिक्षाके अतिरिक्त देश-विदेशकी यात्राओंने राजमाताके व्यक्तित्वका असाधारण विकास कर दिया है। राज-महिला सुलभ सभी गुणोंका परिचय उनके जीवनसे प्राप्त हो रहा है। लोक-मंगलकी भावनाके संग्रह तथा अपनी राजवंश-परंपराके संरक्षणमें वे बड़ी सतर्कतासे आगे बढ़ रही हैं। अब जब प्रजातंत्रके प्रवाहमें भारतवर्ष अवगाहन कर रहा है, तब राजकुमार प्रतापसिंह बहादुरसे लोगोंको यह पूरी आशा है कि जनसेवा-द्वारा वे शासन और सेवाके अपने वंशके विश्व-विश्रुत गौरवको प्रकाशित रक्खेंगे। उनके सामाजिक कार्य और लोकप्रियता इस अटल भविष्यके द्योतक हैं।

—:०:—

सहायक ग्रन्थ

(संस्कृत) मूल साधन

वैदिक साहित्य

१. वाजसनेयी संहिता--महीधरकी टिप्पणीके साथ; वेबर-लंदन १८५२।
२. कात्यायन-श्रौतसूत्र--सं०--विद्याधर शर्मा, काशी, १९३३-७।
३. पारस्कर-गृह्यसूत्र--सं०--गोपालशास्त्री, काशी, १९३६; तथा अनु० एच० ओल्डेनबर्ग।
४. ऐतरेयब्राह्मण--आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना; अनु० ए० बी० कीथ १९२०।

महाकाव्य

५. महाभारत
  (क) शान्तिपर्व--सं०--एस० के० बेलवेल्कर, पूना।
  (ख) वनपर्व--सं०--आर० किंजवादेकर, पूना।
  (ग) उद्योगपर्व--सं०--एस० के० दे, पूना।
६. रामायण--मूल सं०--पं० रामलभय, लाहौर।

पुराण

७. पद्मपुराण--सं०--बी० एन० माण्डलीक (ओ० सं० सी०, पूना)।
८. मत्स्यपुराण--सं०--ओ० सं० सी०, पूना।
९. गरुडपुराण--अंग्रेजी अनु०--एम्० एन० दत्त, कलकत्ता।
१०. ब्रह्माण्डपुराण--प्र०--वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।
११. विष्णुधर्मोत्तरपुराण--मूल सं०--बम्बई, १९१२।
१२. भविष्यपुराण--प्र० वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।
१३. भागवतपुराण--अं० अनु०--स्वामी विज्ञानानन्द, प्रयाग।
१४. कूर्मपुराण--सं०--एन० मुखोपाध्याय, कलकत्ता।
१५. वासवपुराण--मूल।

स्मृति एवं धर्मशास्त्र

१६. मनुस्मृति--मूल; अं० अनु०--बूलर तथा अं० अनु०--गं० झा।
१७. पराशर-स्मृति--मूल।
१८. बृहस्पति-स्मृति--अं० अनु० जे० जौली।

१६. विष्णुस्मृति––सं०––एम्० एन्० दत्त, कलकत्ता, १६०६।
२०. व्यासस्मृति––सं०––ओ० सं० सी०, पूना।
२१. नारद-स्मृति––मूल; अं० अनु०––जे० जौली।
२२. कात्यायन-स्मृति––सं०––सी० बन्धोपाध्याय।

नीतिशास्त्र

२३. अर्थशास्त्र––कौटिल्य; शामशास्त्री।
२४. शुक्रनीतिसार––अं० अनु०––बी० के० सरकार, प्रयाग।
२५. योगसूत्र––पतञ्जलि; अं० अनु०––रामप्रसाद, प्रयाग।
२६. कामन्दकीय नीतिसार––सं०––गणपति शास्त्री।
२७. समरांगण-सूत्रधार––भोज; सं०––गणपति शास्त्री।

ऐतिहासिक और अर्ध ऐतिहासिक

२८. कुमारपालचरित––जैन हेमचन्द्र।
२६. पृथ्वीराज-विजय––सं०––एस० के० बेलवेल्कर।
३०. बृहत्संहिता––वराहमिहिर; अनु०––वी० सुब्रह्मण्य।
३१. हरिवंश––मूल।
३२. रामपालचरित––मूल।
३१. राजतरंगिणी––कल्हण; अं० अनु०––आर० एस्० पंडित, प्रयाग।
३२. पृथ्वीराज-चरितम्––मूल।
३३. हर्षचरित––बाणभट्ट; अं० अनु०––इ० वी० कौवेल, लन्दन।
३४. विक्रमाङ्कदेवचरित––बिल्हण; सं०––बूलर।
३५. पुरातन-प्रबंध-संग्रह––मूल।
३६. रामचरित––मेमौयर्स औफ़ ए० सो० बंगाल, भाग ३।
३७. गौडवहो––वाक्पति; सं०––एस्० पी० पंडित।
३८. श्रीगृध्रकूटाधिपति वंशावलि––गिद्धौर राज्य-प्रकाशन।

साहित्य

३६. प्रबोधचन्द्रोदय––कृष्णमिश्र, निर्णय सागर प्रेस; अनु०-टेलर।
४०. मालविकाग्निमित्र––कालिदास; सं०––अ० भा० वि० परिषद्, काशी।
४१. रघुवंश–– „ „ „ „ „ „
४२. गीतगोविन्द––जयदेव।
४३. महाभाष्य––पतञ्जलि।
४४. उत्तररामचरित––भवभूति।
४५. पंचतन्त्र––मूल।
४६. कृष्णचरित––राजीवलोचन।

सामान्य

४७. गुह्यसमाजतन्त्र--सं०--गायकवाड़ सिरीज।
४८. भगवद्गीता--सं०--गीताप्रेस, गोरखपुर।
४९. तन्त्रवार्त्तिक--कुमारिल भट्ट; अं० अनु०--गं० झा, कलकत्ता।
५०. आगमशास्त्र--गौडपाद; अं० अनु० वी० भट्टाचार्य, कलकत्ता।
५१. कामसूत्र--अं० अनु०--के० आर० आयंगर, लाहौर।
५२. अमरकोश--अमरसिंह; सं० गणपति शास्त्री, तिरुअनन्तपुरम्।

(हिन्दी) मूलसाधन

१. पृथ्वीराजरासो--चन्दबरदाई; सं०--मोहनलाल विष्णु पण्डया और श्यामसुन्दरदास, १९१३, काशी।
२. आल्हाखण्ड--जगनिक भाट; हस्तलिपि।

मुसलमान इतिहासकार (ईरानी मूल साधन)

१. किताब-उल-हिन्द--अलबरूनी; अं० अनु०--इ० सी० सचाउ, लन्दन (अलबरूनीज़ इण्डिया)।
२. किताबे-यामिनी--अल उत्बी; अं० अनु०--रेनौल्ड, लन्दन।
३. तारीखे-फ़रिश्ता--अनु० ब्रिग्स।
४. अल-तारीख-उल-कामिल--इब्न-उल-अतहर।
५. तबकाते-अकबरी--निज़ामुद्दीन; अनु०--बी० दे, कलकत्ता।
६. ताजुल-मा'अतहर--हसन निज़ामी; अनु०--ईलियट, भाग २।
७. तबकाते-नासिरी--मिहाजुद्दीन; अनु०--एच० जी० रौबर्टी।
८. किताब जैमुल अकबर--अबू सैयद गर्दिजी; सं०--एम० नाजिम।
९. अकबरनामा--अबुलफ़ज़ल; अं० अनु०--एच० बेवरिज।
१०. अलबरूनीका भारत (आईने-अकबरी)--अनु० सन्तराम (हिन्दी), न० कि० प्रे० लखनऊ, १८९९।
११. शुजाका पत्र--दलनसिंह (गिद्धौरके नाम)।
१२. दाराका पत्र-- " " "

चीनी साधन (मूल)

१३. औन ह्वेन्त्सांग्स ट्रेवेल इन इण्डिया, भाग २--टौमस वैटर्स।
१४. लाइफ़ औफ़ ह्वेन्त्सांग--एस०सी०

अंग्रेजी (मूल)

१५. फ़ोर्ट विलियम, कलकत्ता, पत्र सं० २७८, ता० १७-१२-१८५७--महाराज जयमंगलसिंह, गिद्धौरके नाम।

१६. पटनाके कमिश्नरका पत्र सं० २४६, १८६१—महाराज जयमंगलसिंह, गिद्धौरके नाम।

१७. अंडर-सेक्रेटरी, बंगाल सरकारका पत्र सं० ४५६४, ता० ३१-१०-१८६०, महाराज जयमंगलसिंह, गिद्धौरके नाम।

अर्वाचीन कृतियाँ

भूगोल, वनस्पति, प्राणी और जाति-विषयक

१. हिस्टौरिकल ऐटलस औफ़ इण्डिया—चार्ल्स जौपेन, एस० जे०।

२. जियोग्रेफ़िकल डिक्शनरी औफ़ एंशियंट एण्ड मेडिवल इण्डिया—एन० दे।

३. दी एंशियंट जियोग्रफी औफ़ इण्डिया—ए० कनिंघम।

४. ए न्यू जियोग्रफ़ी औफ़ दी इण्डियन ऐम्पायर—सी० ए० मौरिसन, लन्दन, १९०९।

५. ऐन आउटलाइन वेजीटेशन औफ़ इण्डिया—सी० सी० कैल्डर, इण्डियन सायंस कौंग्रेस, १९३७।

६. दी बुक औफ़ इण्डियन बर्ड्स—सलीम अली।

७. दी पीपिल औफ़ इण्डिया—एच० एच० रिसले।

८. दी सेन्सस औफ़ इण्डिया (रिपोर्ट फ़ौर १९३१ ऐण्ड १९४१)—काल्डवेल।

९. नौन-आर्यन एलिमेन्ट्स इन इण्डोआर्यन्स—एस० के० चटर्जी।

१०. दि मेकर्स औफ़ सिविलिजेशन ऐण्ड रेस इन हिस्ट्री—एल० ए० वैडेल्ल।

११. एंशियंट इण्डिया—टालेमी; अनु०—मिक्रिन्डल।

१२. भुवनकोश, सेक्शन औफ़ दि पुराणाज़।

राजनीति-विषयक

१३. एन्साइक्लोपीडिया औफ़ इण्डिया, भाग १।

१४. डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ नौर्थ इण्डिया, भाग १, २—हेमचन्द्र राय।

१५. हिस्ट्री औफ़ मेडिवल हिन्दू इण्डिया, भाग १, २, ३—चि० वि० वैद्य।

१६. दी अर्ली हिस्ट्री औफ़ इण्डिया—वी ए० स्मिथ।

१७. राष्ट्रकूटाज़ ऐण्ड देयर टाइम्स—अ० स० अल्तेकर।

१८. हिस्ट्री औफ़ कन्नौज टु दी मुस्लिम कौंकेस्ट—डा० र० शं० त्रिपाठी।

१९. कैम्ब्रिज हिस्ट्री औफ़ इण्डिया, भाग ३।

२०. हिस्ट्री औफ़ इण्डिया भाग १, २—ईलियट, एच्० एम्०।

२१. डाउनफ़ौल औफ़ हिन्दू इण्डिया—चि० वि० वैद्य।

२२. अर्ली पोज़ीशन औफ़ हर्ष, मालवीय कमेमोरेशन वौल्यूम—डा० र० शं० त्रिपाठी।

२२. दि गुर्जर प्रतिहार्स—र० च० मजुमदार, जर्नल डिपार्टमेंट औफ़ लेटर्स—भाग १०, १९२३।

२३. जयचन्द्र औफ़ कन्नौज, ई० ए० जनवरी १९३०--बी० एन० राव।
२४. अर्ली हिस्ट्री औफ़ बंगाल--र० चं० मजुमदार।
२५. हिस्ट्री औफ़ उड़ीसा--रा० डी० बनर्जी।
२६. औक्सफ़ोर्ड हिस्ट्री औफ़ इण्डिया--वी० ए० स्मिथ।
२७. डायनेस्टिक हिस्ट्री औफ़ बंगाल।
२८. एंशियंट हिस्ट्री औफ़ इण्डिया--र० चं० मजुमदार।
२९. लाइफ़ ऐण्ड टाइम्स औफ़ सुल्तान महमूद औफ़ गज़नी--नाज़िम।
३०. मेमौयर्स औफ़ महमूद औफ़ गज़नी--प्रो० हबीब।
३१. बंगाल १७५६-५७, भाग ३--हिल।
३२. दि पुराण टेक्स्ट औफ़ दी डायनेस्टीज़ औफ़ दि कलि एज--एफ़० इ० पार्जिटर, औक्स्फोर्ड।
३३. एंश्यन्ट मिड-इण्डियन क्षत्रिय ट्राइब्स--बी० सी० लौ, कलकत्ता।
३४. सम प्रौब्लम्स औफ़ इण्डियन क्रौनोलौजी--के० जी० सरकार।
३५. एनल्स एण्ड एंटीकिटीज़ औफ़ राजस्थान--जेम्स टौड।
३६. हर्ष--रा० कु० मुकर्जी।
३७. मेडिवल इण्डिया--ईश्वरीप्रसाद।
३८. क्रौनिकल्स औफ़ दी पठान किंग्स् औफ़ डेल्ही--टौमस।
३९. स्टडीज़ इन मुगल इण्डिया--सरकार।
४०. पोलिटिकल हिस्ट्री इन इण्डिया फ्रौम १७८४ टु १८२३--सर जौन मालकम।
४१. हिस्ट्री औफ़ दि इण्डियन म्यूटिनी, भाग २--चार्ल्स बाल।
४२. बंगाल अन्डर दि लेफ्टिनेंट गवर्नर्स फ्रौम १८५४ टु १८९८--सी० एफ़० बुकलैन्ड।
४३. हिस्ट्री औफ़ दी परमाराज़--डी० सी० गांगोली।
४४. लिटरेरी हिस्ट्री औफ़ परशिया--ब्राउन्स।
४५. नोट्स औफ़ अफ़ग़ानिस्तान--रौबर्टी।
४६. ले औफ़ आल्हा--डौ० ग्रियर्सन (औक्सफोर्ड यु० प्रेस, लन्दन)।
४७. दि हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर औफ़ दि इण्डियन पीपिल, भाग ३, दि क्लासिकल एज--भारतीय विद्याभवन, बंबई।
४८. बुन्देलखण्डका इतिहास भाग १--दी० प्रतिपाल सिंह।
४९. मदनमाधवीय--गिद्धौर राज्य प्रकाशन।
५०. रावणेश्वर कल्पतरु-- " " "

शासन, नीति और विदेशी-सम्पर्क विषयक

१. हिन्दू ऐडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशन्स--एस्० के० आयंगर।
२. इन्टरनेशनल लौ इन एंशियंट इण्डिया--एस्० ए० विश्वनाथम्।
३. इन्टर स्टेट रिलेशन इन एंशियंट इण्डिया--एन्० एन्० ला।

४. हिन्दू ऐडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीटयूशन्स—बी० आर० आर० दीक्षितार।
५. शुक्रनीति (समीक्षा)—डा० सरकार।
७. हिन्दू पौलिटी—का० प्र० जायसवाल।
८. ए हिस्ट्री औफ़ हिन्दू पब्लिक लाइफ़—यू० एन० घोषाल।
९. स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन एंशियंट इण्डिया—अ० स० अल्तेकर।
१०. इण्डिया ऐज नोन टु दी एंशियंट वर्ल्ड—जी० एन० बनर्जी।
११. इन्सक्रिप्शन्स औफ़ बंगाल—एन० जी० मजुमदार।
१२. प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति—अ० स० अल्तेकर।
१३. हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम—घोषाल।

सामाजिक जीवन-विषयक

१. वीमेन् इन ऋग्वेद—भ० श० उपाध्याय।
२. इवोल्यूशन औफ़ हिन्दू मौरल आइडियल्स—एस० ऐयर, कलकत्ता।
३. एजुकेशन इन एंशियंट इण्डिया—अ० स० अल्तेकर।
४. दि स्टेट औफ़ वीमेन इन एंशियंट इण्डिया—इन्द्र, लाहौर।
५. कौर्पोरेट लाइफ़ इन एंशियट इण्डिया—र० च० मजुमदार।
६. लोकल गवर्नमेंट इन एंशियंट इण्डिया—रा० कु० मुकर्जी।
७. कल्चरल हिस्ट्री फ्रौम दि वायु पुराण—डी० आर० पाटिल।
८. ए स्टडी इन दि इकोनौमिक कंडिशन औफ़ एंशियंट इण्डिया—प्राणनाथ।
९. कास्ट इन इण्डिया—सेनार्ट।
१०. ओरिजिन ऐण्ड ग्रोथ औफ़ कास्ट इन इण्डिया—दत्त।
११. हिन्दुत्व—रामदास गौड़।
१२. हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन—वी० एस० अग्रवाल, पटना।

धर्म-विषयक

१. रिलिजन्स औफ़ इण्डिया—हाप्किन्स।
२. इण्डियन फ़िलौसोफ़ी—स० प० राधाकृष्णन।
३. ऐन आउटलाइन औफ़ रिलिजस लिटरेचर औफ़ इण्डिया—डा० जे० एन फर्क्युहर, न्यूयार्क।
४. मौडर्न रिलिजस मूवमेन्ट्स इन इण्डिया— ,, ,, ,,
५. मेडिवल मिस्टिसिज़्म औफ़ इण्डिया—के० एम० सेन।
६. हिस्ट्री औफ़ जैनिज्म—श्रीमती एस० स्टीवेन्सन।
७. वैष्णविज्म, शैविज्म ऐण्ड माइनर रिलिजस सिस्टमस्—आर० जी० भण्डारकर।
८. हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म—सर चार्ल्स इलियट।
९. हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर औफ़ जैनिज्म—यू० डी० वरदिया।

११. रुद्र-शिव—वेंकटरमनैया, मद्रास।
१२. बुद्धिज़म—इट्स बर्थ ऐण्ड डिस्पर्सल—राइस डैविड।
१३. दी शाक्ताज़—इ० पायन।
१४. बौद्ध-दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय।
१५. इन्फ्लुएन्स औफ़ इस्लाम औन हिन्दू कल्चर—डा० ताराचन्द।
१६. गोभिलगृह्यसूत्र—

साहित्य-विषयक

१ हिस्ट्री औफ़ इण्डियन लिटरेचर—एम० विन्टरनित्स (अं० अनु० एस० केतकर, कलकत्ता)।
२. हिस्ट्री औफ़ संस्कृत लिटरेचर—ए० ए० मेक्डौनेल।
३. हिस्ट्री औफ़ धर्मशास्त्राज़—पी० वी० काणे।
४. संस्कृत ड्रामा—ए० बी० कीथ।
५ बिब्लियोग्रेफ़ी औफ़ दि संस्कृत ड्रामा—न्यूयौर्क १९०६।
६. मौडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर औफ़ हिन्दुस्तान—सर जौर्ज ग्रियर्सन।
७. संस्कृत साहित्यका इतिहास—पं० बलदेव उपाध्याय।
८. हिन्दी साहित्यका इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
९. हिन्दी भाषाका इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा।

कला-विषयक

१. हिस्ट्री औफ़ इण्डिया ऐण्ड ईस्टर्न ओर्किटेक्चर, भाग २—फ़रगुसन।
२. हिस्ट्री औफ़ सिविलिज़ेशन इन एंसियेट इण्डिया, भाग ३—र० चं० दत्त।
३. दी आइडियल्स औफ़ इण्डियन आर्ट—ई० बी० होवे।
४. ऐन इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी औफ़ मेडिवल इण्डियन स्कल्प्चर—के० डे० बी० कोडरिस्टन।
५. ला थियेत्रे इन्दियाना, पेरिस—एम० सिल्वन लेवी।
६. हिस्ट्री औफ़ फ़ाइन आर्ट्स इन इण्डिया ऐंड सिलोन—वी० ए० स्मिथ।
७. आउटलाइन्स औफ़ एंशियंट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलिज़ेशन—र० चं० मजुमदार
८. हिन्दू टेम्पिल—
९. ए गाइड टु खजुराहो—बी० एल० धाम।
१०. दी स्प्लेन्डर दैट वाज़ इण्डिया—के० टी० शाह
११. इवोल्यूशन औफ़ इण्डियन कल्चर—
१२. हिन्दू सिविलिज़ेशन—रा० कु० मुकर्जी।
१३. ए स्टडी औफ़ दी इन्डोआर्यन सिविलिज़ेशन।

१४. टेम्पिल आर्किटेक्चर इन गुप्ता एज--एस्० के० सरस्वती जर्नल औफ़ दी इण्डियन सोसाइटी औफ़ ओरियंटल आर्ट।
१५. क्वायन्स औफ़ मेडिवल इण्डिया--एच० ए० कनिंघम।
१६. कैटेलौग्स ओफ़ दी क्वायन्स औफ़ दी इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता, भाग १, २--राइट।
१७. सिलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स बेयरिंग औन इण्डियन हिस्ट्री ऐण्ड सिविलिजेशन--डी० सी० सरकार।
१८. एलिमेंट्स औफ़ हिन्दू आइकोनोग्रेफी--टी० ए० गोपीनाथ राव।
१९. भारतीय सिक्के--वासुदेव उपाध्याय।
२०. प्राचीन लिपिमाला--गौ० शं० ओझा।
२१. अभिनव-नाट्यशास्त्र--आचार्य सीताराम चतुर्वेदी।

गजेटियर

१. इम्पीरियल गजेटियर औफ़ इण्डिया, भाग १ से १० तक।
२. गजेटियर औफ़ ना० वे० प्रौ०, भाग १।
३. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर औफ़ यू० पी०, बाँदा, भाग ११।
४. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर औफ़ यू० पी०, हमीरपुर, भाग १२।
५. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर औफ़ यू० पी०, झाँसी, भाग १४।
६. *बौम्बे गजेटियर, भाग १, १८९६।*
७. राजपूताना गजेटियर।

शोध-संबंधी पत्रिकाएँ (अंग्रेजी)

१. इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, भाग ११, १२, १३, १४, १६, १७, १८।
२. इपिग्रेफिया इण्डिका, भाग १, २, ३, ४, ५, १०, ११, १२, १४, १६।
३. आर्क्यालौजिकल सर्वे रिपोर्टस्--कनिंघम, भाग २, ७, ९, १०, २१, ३२।
४. जर्नल औफ़ दी एशियाटिक सोसाइटी औफ़ बंगाल, भाग, १, ६, १०, १७, १८, ४६, ५०, ५८, ६६
५. ऐनल्स औफ़ दि भण्डारकर ओरियंटल इन्स्टिट्यूट, पूना, भाग ९, १०।
६. जर्नल औफ़ दि रौयल एशियाटिक सोसाइटी, लन्दन।
७. आर्क्यालौजिकल सर्वे औफ़ इण्डिया, ऐनुवल रिपोर्ट, भाग २, १०, ११।
८. जर्नल औफ़ दि बौम्बे ब्रांच औफ़ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, भाग १८।
९. मेमौयर्स औफ़ दि एशियाटिक सोसाइटी औफ़ बंगाल, भाग ३।
१०. दि जर्नल औफ़ दि बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, भाग ५, १९४०।
११. प्रोसीडिंग्स औफ़ दि इण्डियन हिस्टौरिकल रेकार्ड्स, भाग १०।

शब्दानुक्रमणिका

गोविन्दचन्द्र १०८, ११९
गोह (जीव) २१

ल

श

चित्र १–स्व० महाराजा चन्द्रचूड़सिंह बहादुर, गिद्धौर राज्य

चित्र २–वर्तमान राजकुमार श्रीप्रतापसिंहजी बहादुर, गिद्धौर राज्य
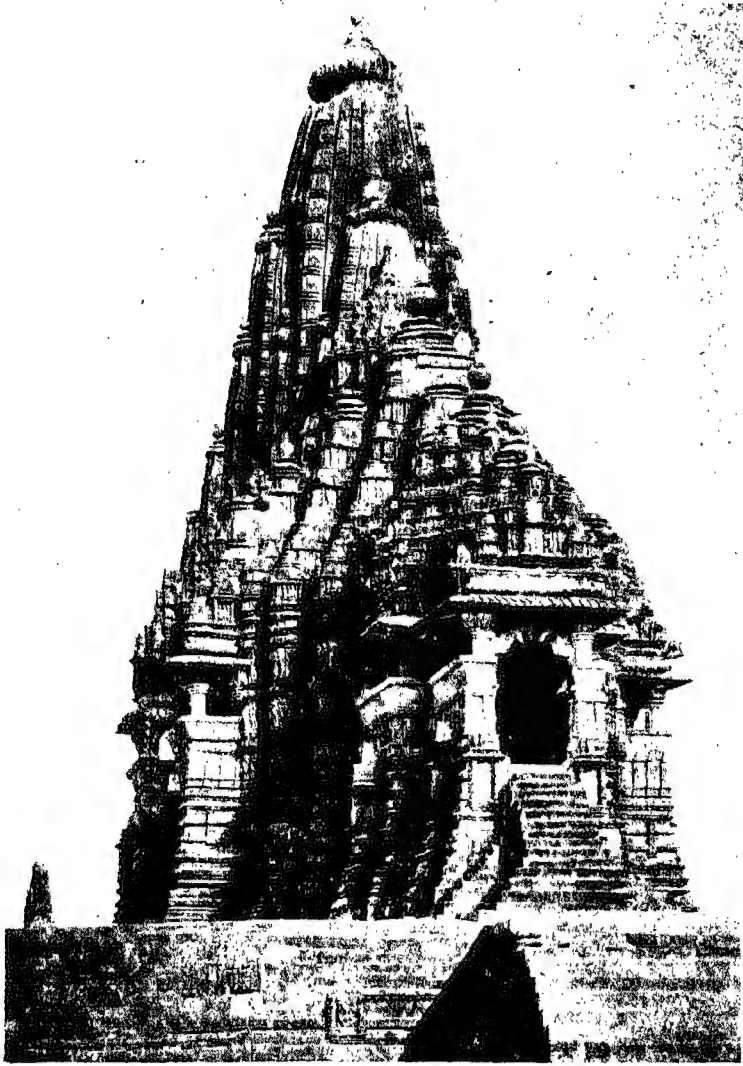
चित्र ३–खजुराहो–कंदरीय शिव–मंदिर
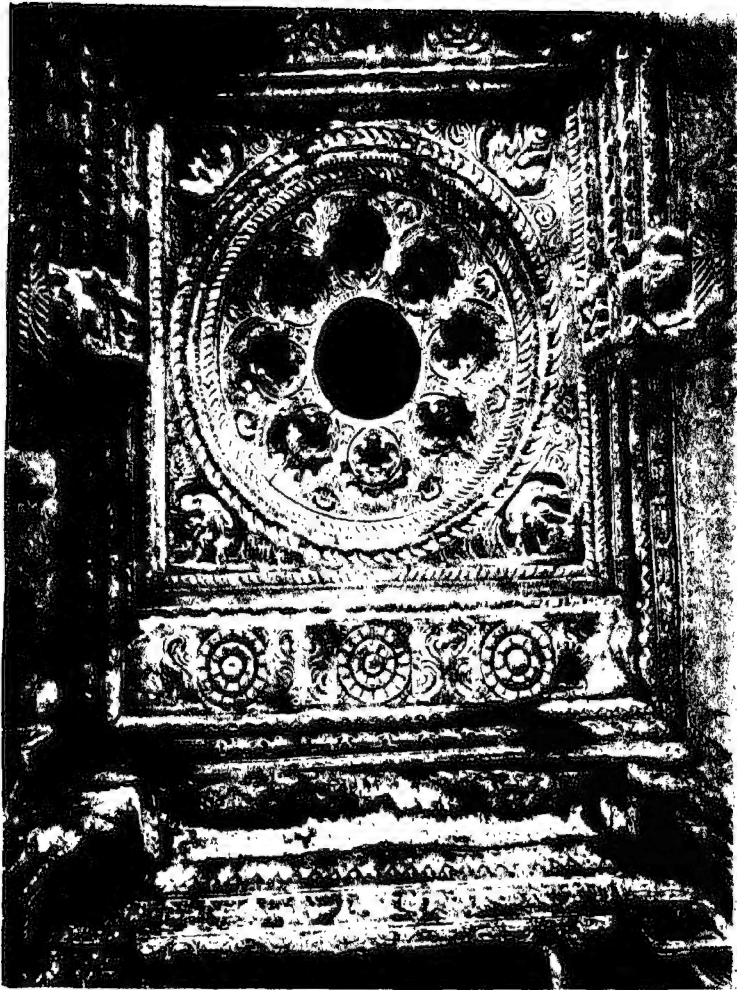
चित्र ४–खजुराहो–कंदरीय मंदिरके मंडपकी छतका अंत:पटल

चित्र ५—खजुराहो—वराहकी मूर्ति

चित्र ६—खजुराहो—कंदरीयकी बाहरी भित्तिकी अलंकरण-मूर्ति; दाहिनी ओरकी सुन्दरी पगसे काँटे निकाल रही है।

[illegible] चित्र ८—खजुराहो—जैन तीर्थंकर ध्यान–मुद्रामें
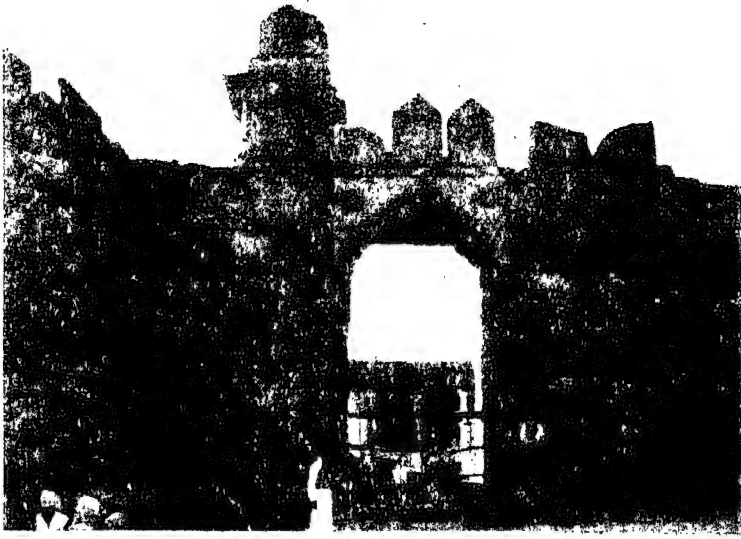
चित्र ९—कालंजर दुर्गका अंतिम 'नेमि-द्वार'
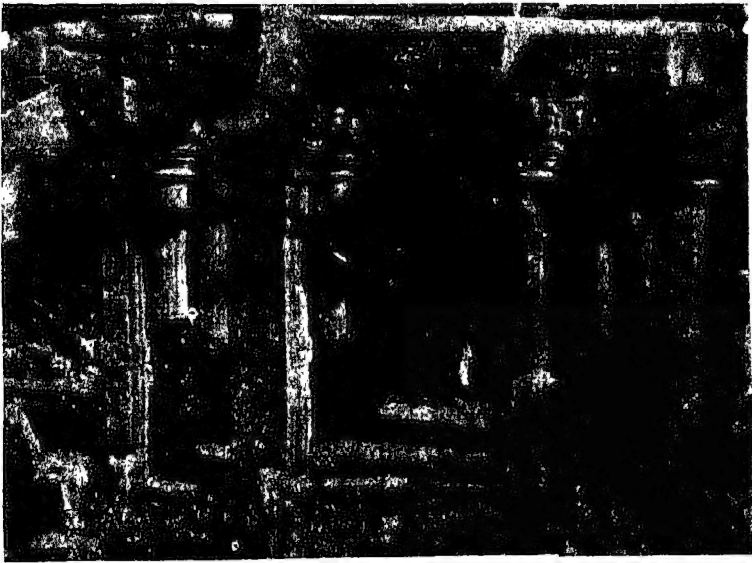
चित्र १०—कालंजर—नीलकंठ-मंदिरका अग्रभाग, चन्देल कलाका अवशेष

चित्र ११–कालंजर दुर्गमें स्थित बुद्धकक्षेत्र
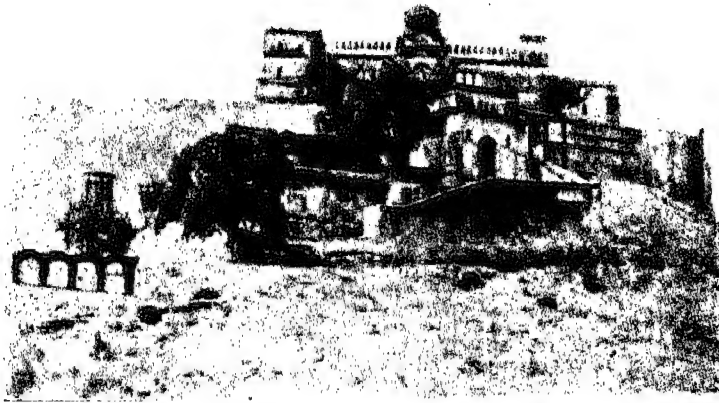
चित्र १२–मनियागढ़ (चन्देलोंकी कुल-देवीसे संबंधित) का
दुर्ग और राज-भवन
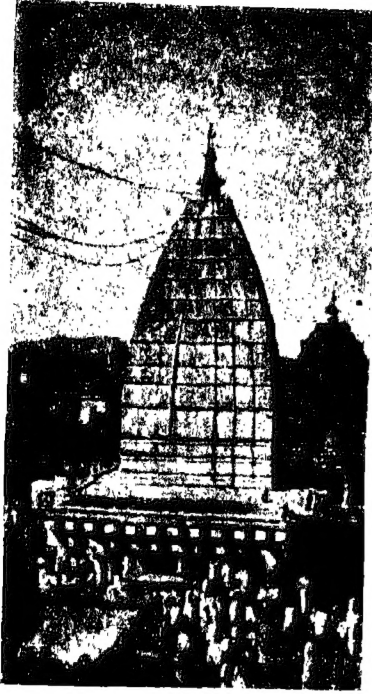
चित्र १३–गिद्धौरराज्य–वैद्यनाथका मंदिर, वैद्यनाथ–धाम
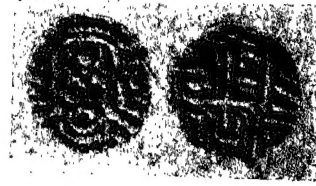
चित्र १४–परमर्दिदेवका सोनेका सिक्का (द्रम्म)
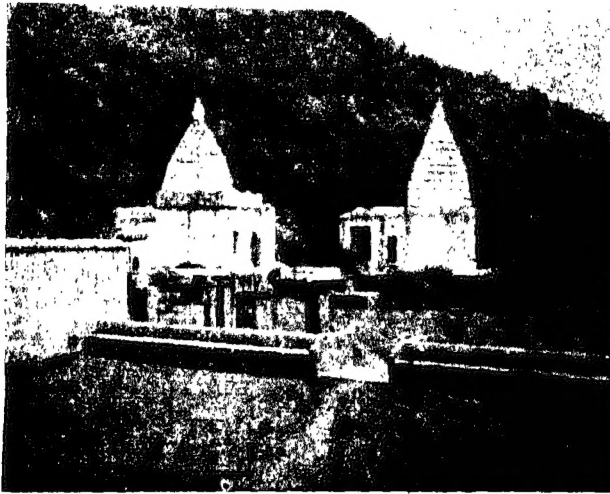
चित्र १५–गिद्धौर राज्यमें गृध्रेश्वरका नया मंदिर